समाधितंत्र प्रवचन भाग-३

(श्री समाधितंत्र शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के १९७४-७५ के समाधिभाव प्रेरक अक्षरशः प्रवचन)

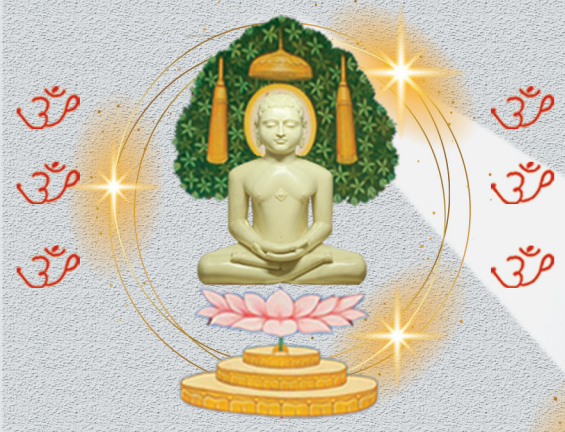

श्री महावीरस्वामी

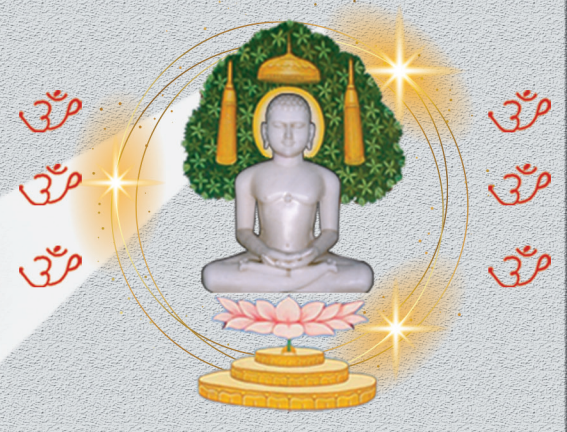

श्री सीमंधरस्वामी

श्री समाधितंत्र

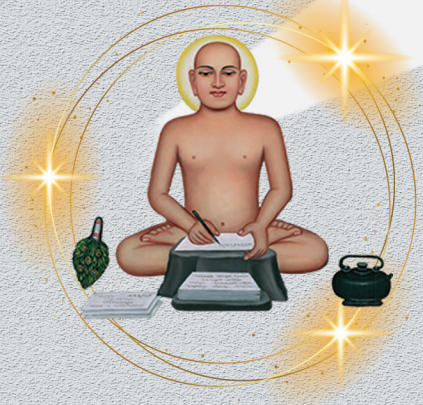

श्री पूज्यपाद आचार्य

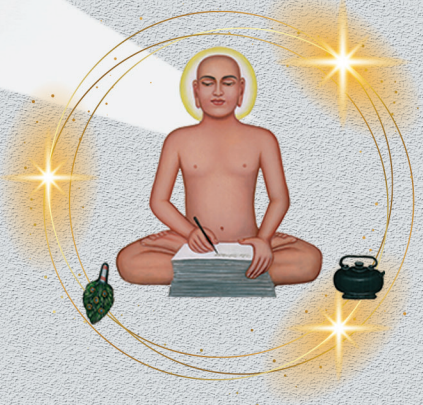

श्री प्रभाचंद्र आचार्य

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रकाशक :-श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विले पार्ले, मुंबई

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग-3)

(**श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी** विरचित **श्री समाधितन्त्र शास्त्र** पर **अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के शब्दशः प्रवचन)

(गाथा - 32 से 52, प्रवचन - 41 से 65)

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2077	2546	2021

—: प्रकाशन :—

अष्टाह्निका पर्व एवं वीरशासन जयन्ती

के पावन अवसर पर (दिनांक 17 से 24 जुलाई 2021)

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

प्रकाशकीय निवेदन

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं।

महावीर भगवान, गौतम गणधर तत्पश्चात् जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात् सदेह विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करके भरत में आये हुए, श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं, यह जगत विदित है। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों का आधार देते हैं। इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं। ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के भरतक्षेत्र पर महान उपकार हैं। उन्हीं आचार्यदेव की परम्परा में हुए श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ समाधितन्त्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'समाधितन्त्र प्रवचन', भाग-3 पाठकवर्ग के हस्तकमल में प्रदान करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि में जो कहा जा रहा है, उसे प्रत्यक्ष झेलनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके अनन्य भक्त, कि जिनकी विद्यमानता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विदेहगमन के समय साक्षात् थी, ऐसे प्रियवर पूज्य कहान गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का क्या कहना! जो विषय वचनगोचर नहीं, विकल्पगोचर नहीं, उसे कथंचित् वक्तव्य करना वह कहान गुरुदेवश्री की समर्थ प्रचण्ड शक्ति के दर्शन कराते हैं, और भावि में ॐकार ध्वनि खिरने की सूचक है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचन अध्यात्म के अनेकविध रहस्यों को व्यक्त कर रहे हैं। आचार्य पूज्यपादस्वामी के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों को स्पष्ट करने का सामर्थ्य प्रस्तुत प्रवचनों में व्यक्त होता है। अनन्त काल से मिथ्यात्वदशा में भ्रमण करता अज्ञानी जीव बहिरात्मदशा को नष्ट करके, अन्तरात्मपना प्रगट करके परमात्मदशा किस प्रकार प्राप्त करता है, उसका रोचक

विवेचन पूज्यपादस्वामी ने समाधितन्त्र में तो किया है परन्तु वर्तमान मुमुक्षु समाज को सादी और सरल भाषा में पूज्य गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक प्रवचनों में भावभासनपूर्वक की समझ को अधिक महत्ता दी है। ऐसी शैली भी व्यक्त हो रही है। प्रत्येक प्रवचन भेदज्ञानपूर्ण है। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय ज्ञाताधारा के दर्शन भी प्रत्येक प्रवचनों में हो रहे हैं। अखण्ड एकरूप स्वरूपाश्रित परिणतिपूर्वक समझाने का सामर्थ्य प्रवचनों में उभरकर बाहर आ रहा है। जिनके एक प्रवचन श्रवणमात्र से जिनके भव का अन्त आया, ऐसे पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी का उल्लेख अनेक प्रवचनों में आता है। यहाँ इस बात का उल्लेख इसलिए किया गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना का सामर्थ्य तो महापवित्र है ही, परन्तु प्रवचन सम्बन्धित विकल्प के निमित्त से मुमुक्षु जीव के भव का अन्त आ सकता है वह इस बात का प्रमाण है। जिनके विभावअंश में इतना सामर्थ्य है तो उनकी पवित्र ज्ञानदशा के दर्शन से मुमुक्षुजीव का आत्मकल्याण न हो, यह बात अस्थानीय है। ऐसे सबके प्रिय पूज्य गुरुदेवश्री का जितना गुण संकीर्तन किया जाये, उतना कम ही है, इसलिए इस प्रसंग पर उनके चरणों में भक्तिभावपूर्वक शत-शत वन्दन हो, वन्दन हो!

पूज्य गुरुदेवश्री के आन्तरिक जीवन और भावितीर्थाधिनाथपने की प्रसिद्धि करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री की अनन्य भक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री को भी इस ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर भाववन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग में आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस महान कार्य को अविरत धारा से चालू रखा और सुरक्षित रखा, तदर्थ उसके भी आभारी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की सुरक्षा सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा किया जा रहा है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का विशेष लाभ जनसामान्य ले कि जिससे यह वाणी शाश्वत् सुरक्षित बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरशः ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप समाधितन्त्र ग्रन्थ पर हुए प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के करकमल में सादर समर्पित करते हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती भाषा में पूजा इम्प्रेशन द्वारा किया गया है। जिसे जाँचने का कार्य श्री सुधीरभाई सूरत, और श्री अतुलभाई जैन, मलाड द्वारा किया गया है।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का विशेष लाभ प्राप्त हो, इस उद्देश्य से इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण और सी.डी. से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। हम अपने सभी सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है तथापि प्रकाशन कार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं। ट्रस्ट मुमुक्षुजनों से निवेदन करता है कि यदि कोई अशुद्धि दृष्टिगोचर हो तो हमें अवगत कराने का कष्ट करें, जिससे आगामी आवृत्ति में उसे सुधार किया जा सके।

यह प्रवचन ग्रन्थ (www.vitragvani.com) तथा वीतरागीवाणी ऐप पर उपलब्ध है।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

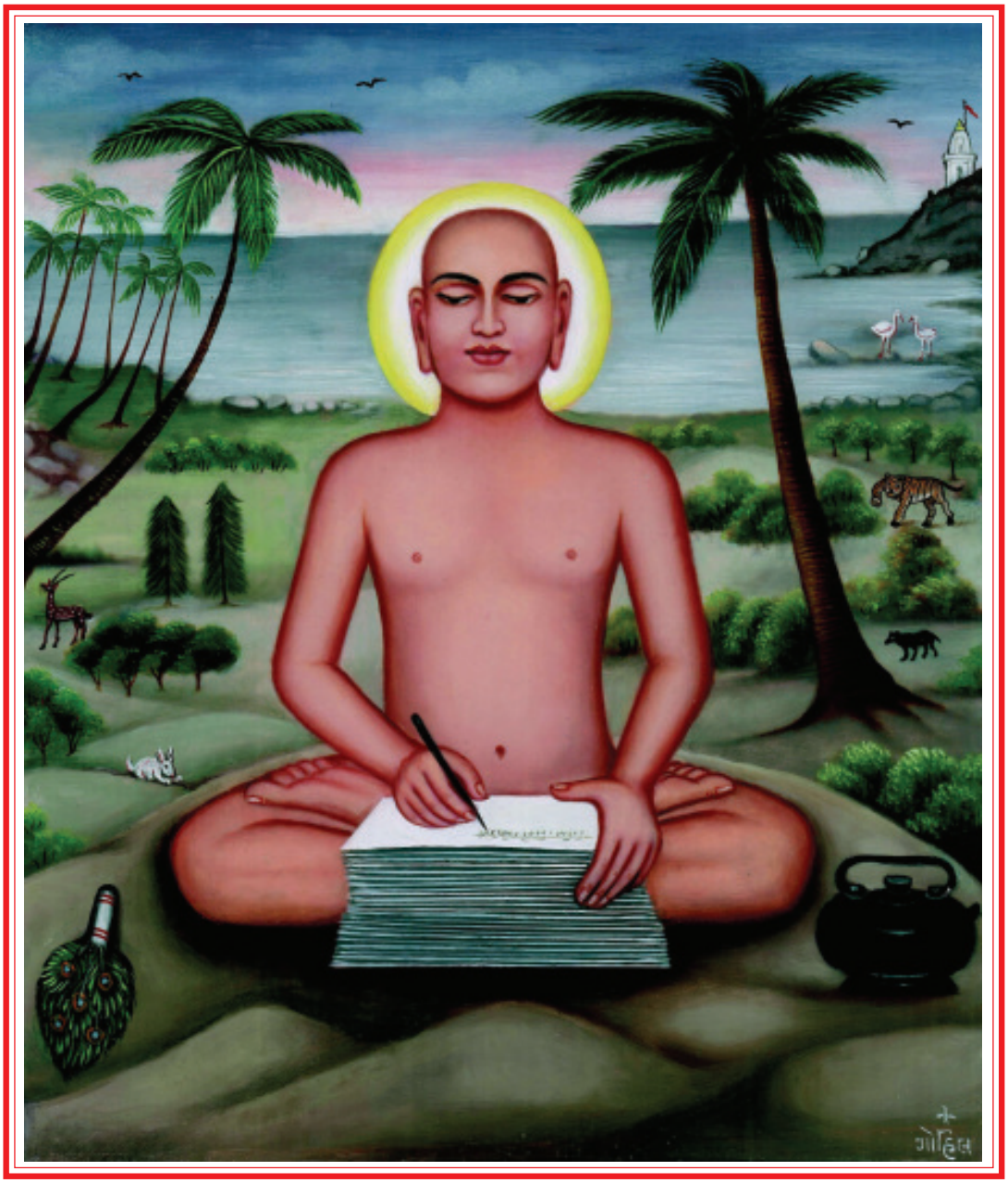

श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी

ॐ सच्चिदानंद सहज स्वरूपाय नमः

प्रस्तावना

समाधितन्त्र ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पूज्यपादस्वामी आचार्य, मूलसंघ अन्तर्गत नंदिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध, बहुप्रतिभाशाली, प्रखर तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेखानुसार पूज्यपादस्वामी श्री समन्तभद्राचार्य के पश्चात् हुए हैं और वे उनके मतानुयायी थे। शिलालेख और उपलब्ध जैन साहितत्य से विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य ईस्वी सम्वत् पाँचवीं शताब्दी में और विक्रम की छठवी शताब्दी में हो गये हैं।

आप कर्नाटक देश के निवासी थे। कन्नडा भाषा में लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजा वलीकथे' नामक ग्रन्थों में आपके पिता का नाम 'माधवभट्ट' और माता का नाम 'श्रीदेवी' दिया है और लिखा है कि वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उपलब्ध शिलालेखों से यह बात प्रसिद्ध है कि आप देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपादस्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। देवनन्दी—यह उनके गुरु ने दिया हुआ दीक्षा नाम है, बुद्धि की प्रकर्षता—विपुलता के कारण उन्हें बाद में जिनेन्द्रबुद्धि नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की इसलिए बुधजनों ने उन्हें पूज्यपाद नाम से विभूषित किया।

उपलब्ध शिलालेखों से उनके जीवन काल दौरान घटित अनेक अद्‌भुत घटनाये द्रव्यव्य हैं। श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पादपूजन किया, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्याविशारद गुणों का कीर्तिगान करते हैं। उन्होंने कामदेव को जीता था, इसलिए कृतकृत्यभावधारी उच्च कोटि के योगियों ने उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि नाम से वर्णन किया है।

और वे औषधऋद्धि के धारक थे। विदेहक्षेत्रस्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हुआ था। उनके पादोदक (चरण-जल) के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना हो गया था। तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनके आँख का तेज नष्ट हुआ था परन्तु 'शान्त्यष्टक' के एकाग्रतापूर्वक पाठ से नेत्र-तेज पुनः प्राप्त हुआ था। महान योगियों के लिये ऐसी घटनायें असम्भवित नहीं हैं।

आपश्री ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की है। जैसे कि 'जैनेन्द्र व्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'जैनाभिषेक', 'छन्दशास्त्र', 'समाधितन्त्र-समाधिशतक', 'इष्टोपदेश'। इनमें इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र

आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, जो मुमुक्षुजीवों को आत्मकल्याण होने में महानिमित्तभूत है। समाधितन्त्र ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति अनुसार ग्रन्थ के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र (प्रभेन्दु) इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार वे श्री समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के भी संस्कृत टीकाकार हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों में समाधितन्त्र ग्रन्थ के मूल श्लोक, हिन्दी अन्वयार्थ, भावार्थ आदि तथा श्री प्रभाचन्द्र विनिर्मित संस्कृत टीका के गुजराती अनुवाद के हिन्दी अनुवाद सहित पाठक वर्ग की सुविधा के लिये लिये गये हैं।

अन्ततः पूज्य गुरुदेवश्री के सातिशय दिव्य प्रवचनों का भावपूर्वक स्वाध्याय करके पाठकवर्ग आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावनासहित विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों

की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	श्लोक	पृष्ठ नम्बर
41	20.01.1975	32, 33	01
42	21.01.1975	33, 34	20
43	22.01.1975	34, 35	36
44	23.01.1975	35, 36	52
45	24.01.1975	36	69
46	25.01.1975	37	82
47	26.01.1975	37	98
48	27.01.1975	38, 39	111
49	28.01.1975	39	129
50	29.01.1975	39, 40	144
52	31.01.1975	40, 41	160
53	01.02.1975	41	177
54	02.02.1975	42	192
55	03.02.1975	42, 43	208
56	04.02.1975	43, 44	226
57	05.02.1975	45	244
58	06.02.1975	46, 47	259
59	07.02.1975	47, 48	277
60	08.02.1975	48	294
61	09.02.1975	49	309
62	10.02.1975	49, 50	326
63	17.02.1975	50	343
64	17.06.1975	50, 51	358
65	18.06.1975	51, 52	376

ॐ

श्री परमात्मने नमः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग - ३)

(श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः प्रवचन)

श्लोक - ३२

एतदेव दर्शयन्नाह -

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥

मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि भवामि। किं कृत्वा? प्रच्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः? विषयेभ्यः। केन कृत्वा? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना। क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम्। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम्। पुनरपि कथम्भूतम्? परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम्। अथवा परमानन्द-निर्वृतोऽहम्॥३२॥

वही बताकर कहते हैं —

निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषयातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत॥ ३२॥

अन्वयार्थ - (मां) मुझे-मेरे आत्मा को (विषयेभ्यः) पञ्चेन्द्रियों के विषयों से

(प्रच्याव्य) हटाकर, (मया एव) मेरे द्वारा ही-अपने ही आत्मा द्वारा, (अहं) मैं (मयि स्थितं) मुझ में स्थित (परमानन्दनिर्वृत्तम्) परमानन्द से परिपूर्ण (बोधात्मानम्) ज्ञानस्वरूप आत्मा को (प्रपन्नोऽस्मि) को प्राप्त हुआ हूँ।

टीका - मैं मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके ? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर-वापस हटाकर; किससे ? विषयों से। किस द्वारा करके ? मेरे ही द्वारा अर्थात् करण (साधन) रूप आत्मस्वरूप द्वारा ही; कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ ? मेरे में रहे हुए को अर्थात् आत्मस्वरूप में ही रहे हुए को। कैसे मुझे ? बोधात्मा को अर्थात् ज्ञानस्वरूप को। फिर कैसे मुझे ? परम आनन्द से निर्वृत्त (रचित) को। परम आनन्द अर्थात् सुख, उससे निर्वृत्त (रचित) सुख हुए को (ऐसे मुझे अर्थात् आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ) अथवा मैं परम आनन्द से निर्वृत्त (परिपूर्ण) हूँ।

भावार्थ - बाह्यइन्द्रियों के विषयों से अपने आत्मा को छुड़ाकर, अपने में रहे हुए परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को मैं, मेरे ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ हूँ।

विशेष स्पष्टीकरण -

इस श्लोक में 'मया एव' और 'मयि स्थित'—ये शब्द, बहुअर्थसूचक हैं, जो बताते हैं कि परमात्मपद मेरे में-आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है और वह पद, मैं आत्मसन्मुख होकर पुरुषार्थ करूँ तो ही प्राप्त होता है; अन्य किसी बाह्यसाधन से या किसी की कृपा से वह प्राप्त नहीं होता। 'परमात्मपद की प्राप्ति के लिए वह, स्वावलम्बन का ग्रहण और परावलम्बन का त्याग सूचित करता है।'

आचार्य ने दर्शाया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति मैंने, मेरे आत्मबल द्वारा ही की है; इस प्रकार अपना आत्मवैभव बताकर, मुमुक्षु जीवों को प्रेरणा की है कि 'तुम भी स्वतः अर्थात् अपनी आत्मसामर्थ्य से ही परमपद की प्राप्ति करो।'

आत्मा और परपदार्थों को (इन्द्रियों के विषयों को) भिन्न करने में और आत्मा को ग्रहण करने में करण (साधन) अलग नहीं हैं; प्रज्ञा ही एक करण है, उसके द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया जाता है और उसके द्वारा ही उसे ग्रहण किया जाता है।

(श्री समयसार, गाथा २९४ व २९६)

यहाँ 'साध्य और साधन एक ही हैं; भिन्न-भिन्न नहीं'—ऐसा बताया है॥३२॥

पौष शुक्ल ८, सोमवार, दिनांक २०-१-१९७५, श्लोक-३२-३३, प्रवचन-४१

इसका भावार्थ है। कहते हैं कि जिसे धर्म करना है। धर्म अर्थात् आनन्द की प्रगट दशा करनी है वह। संसार में आत्मा आनन्दस्वरूप होने पर भी, पाँच इन्द्रियों के झुकाव में उसे जो भाव शुभाशुभ होते हैं, वे सब दुःखरूप है। वह दुःखी है। क्योंकि स्वयं स्वरूप में आनन्द है, वहाँ से आनन्द प्राप्त करना चाहिए, इसकी उसे खबर नहीं। इसलिए मानो पाँच इन्द्रिय के विषय—अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इनमें झुकाव करने से मुझे ठीक पड़ता है, ऐसा अज्ञानी अनादि से मूढ़रूप से संसार में दुःखी होकर भटक रहा है। प्रवीणभाई! बराबर होगा यह? कारखाने में, पैसे में... यह करोड़पति भिखारी कहलाते हैं। राजा कहलाते हैं सब। भगवान कहते हैं कि वे सब भिखारी हैं बेचारे। क्योंकि आनन्द स्वरूप में है, उसे न लेकर, पर में है-ऐसी भीख माँगते हैं। आहाहा!

जो यह बाबा आते हैं न बाबा दुकान में? पैसा न दे तो फिर हठ करे। इसी प्रकार यह कहते हैं कि सुख के लिये अपने स्वभाव का हठ करता है। आहाहा! ऐसा शब्द है। उसे सुनूँ तो ठीक पड़े; किसी का रूप देखूँ तो ठीक पड़े; गन्ध करूँ तो ठीक पड़े; स्पर्श करूँ तो ठीक पड़े। आहाहा! गजब बात है! यहाँ तो वीतराग की वाणी सुनने का विकल्प भी दुःखरूप है, ऐसा कहते हैं, बापू! सूक्ष्म बात, भाई!

बाह्यइन्द्रियों के विषयों से अपने आत्मा को छुड़ाकर,... धर्मी तो यह है, सच्चा पुरुष और धर्मात्मा तो इसे कहते हैं... आहाहा! कि **बाह्यइन्द्रियों के विषयों से अपने आत्मा को छुड़ाकर,...** अर्थात् कि पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर का झुकाव... आहाहा! उसे छोड़कर... भारी कठिन बातें! धर्म करना हो तो दया पाले तो धर्म हो जाये। व्रत करे और अपवास करे तो धर्म हो जाये। पाँच-पचास हजार, लाख, दो लाख दे, धर्म हो जाये। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! आहाहा! धर्म अर्थात् आनन्द, धर्म अर्थात् आनन्द। पर में है आनन्द? आहाहा! दान देने का भाव भी शुभराग है, वह भी परविषय और दुःख है। आहाहा! समझ में आया? पर की दया पालने का भाव, वह भी राग और दुःखरूप है। चैतन्यमूर्ति भगवान यहाँ है अन्दर, उसे छोड़कर परसन्मुख की उन्मुखता के झुकाव में इसे

जो रस पड़ा है, वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? बाह्य इन्द्रियाँ, उनसे ऐसे बाह्य से देखना। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर को देखने में जो लक्ष्य जाता है... आहाहा! बात बहुत कठिन। वह बाह्य इन्द्रिय का विषय है। इसलिए भाव होता है, वह दुःखरूप है। अरे! इसे खबर नहीं। आनन्दस्वरूप मैं हूँ, भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर सर्वज्ञदेव की पुकार है कि हमने जो आनन्द प्राप्त किया, वह अन्तर में था, उसे देखकर प्राप्त किया है। अन्तर में जाकर उसे शोधकर आनन्द को प्राप्त किया है। और तुमको भी ऐसा कहते हैं... आहाहा! कि अणीन्द्रिय भगवान आत्मा है, वह इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं। इन्द्रिय से जो ग्राह्य है, उसके ऊपर लक्ष्य जाने से तो दुःख ही उत्पन्न होता है।

यह तो मजा कहता है न, पाँच-पचास लाख, करोड़, दो करोड़ हो तो। सुखी कहते हैं, सेठ! तुमको सब सुखी कहते हैं। इन पोपटभाई को सुखी कहते हैं, वढ़वाणवाले। इनके देश के परिचित कहते हैं, नवनीतभाई को सुखी कहते हैं। यह तो पुण्य है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। भाई! आत्मा अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् अस्तिवाला शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का सागर है। आहाहा! उसकी ओर—तेरी ओर तूने नजर नहीं की। आहाहा! जहाँ सुख और आनन्द है, वहाँ तूने नजरें नहीं कीं। प्रभु! आहाहा! और जहाँ नहीं, वहाँ नजरों में रुक गया है। संक्षिप्त व्याख्या कर डाली। **'विषयेभ्यो प्रच्याव्य'**। आहाहा! फिर भले वीतराग की वाणी हो, वीतराग सर्वज्ञ स्वयं हो, उनकी ओर के लक्ष्य में तो राग ही होता है। आहाहा! अर्थात् कि दुःख ही होता है। आहाहा! कठिन बातें, भाई!

यहाँ कहते हैं कि मैं अब बाह्य इन्द्रिय के विषयों में तो बहुत भटका, परन्तु वहाँ कहीं सुख नहीं है। आहाहा! ओहोहो! भारी सूक्ष्म बातें। कहते हैं कि यह शास्त्र सुनने में लक्ष्य जाता है न, वह भी एक विकल्प है, दुःख है। गजब बातें हैं, बापू! यह तो परम सत्य की बात है। पाँच इन्द्रिय के विषय कहे न ? फिर शुभ हो या अशुभ हो। आहाहा! वह दुःखरूप है। आत्मा आनन्द का धाम, उससे (विरुद्ध) पर की ओर के झुकाव में जाना, वह आत्मा के आनन्द की शून्यदशा है। आहाहा! अर्थात् स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द प्रभु है, उसे ऐसा न मानकर पर में आनन्द विषय में जाता है, अपने में आनन्द का

अभाव मानता है (कि) मैं आनन्द नहीं। यह मुझे पर का आनन्द है। सूक्ष्म बात है, बापू! यह कहीं कोई पण्डिताई की (बात नहीं)। पुस्तकें पढ़ जाये, इसलिए यह मिल जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! बाहर से स्त्री का विषय छोड़ा, इसलिए इसे धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु जिसकी पाँच इन्द्रियों की ओर का उन्मुखता का झुकाव जहाँ है, वह सब दुःखरूप है। आहाहा! उसे छोड़कर... आहाहा!

धर्मी जीव (अर्थात् कि) सुख के पन्थ में लगा हुआ जीव पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर के दुःख के पन्थ को छोड़कर... आहाहा! **अपने में रहे हुए परम आनन्द से...** आहाहा! मुझमें आनन्द रहा हुआ है। आनन्द नया लेना है, ऐसा नहीं है। प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप ही है। अतीन्द्रिय आनन्द। आहाहा! वह यह विषय में आनन्द मानता है, वह तो जहर को आनन्द मानता है। समझ में आया? परसन्मुख के झुकाव में तो राग ही उत्पन्न होता है। राग तो जहर है। पीवे जहर के प्याले और माने मजा! यह वह इसके जैसा मूर्ख कौन कहलाये? आहाहा! समझ में आया?

तू है या नहीं? क्या है? तू कौन है? आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। भाई! तुझे खबर नहीं। तेरी तुझे खबर नहीं और दुनिया की खबरों में (खो गया)। चिमनभाई! चतुर का पुत्र होकर बातें ऐसी करे मानो! ओहोहो! यहाँ तो कुछ है नहीं। अमेरिका के जो वे आवे न लड़के मस्तिष्क फटे उनका, दस हजार वेतन। यहाँ बेचारे को पाँच सौ न मिलते हों। वहाँ दस हजार वेतन में बचता न हो। खर्च भी सब ऐसे हों परन्तु यह... अमेरिका में गया है। वह क्या है? अमेरिका में गये थे। वहाँ दस-दस हजार वेतन... हो गये दस हजार... है नहीं। परन्तु यह... मस्तिष्क में। मष्तिष्क में ऐसा मानो कि ओहोहो! कहाँ से उतरा और कहाँ जा आया? प्रवीणभाई! आहाहा!

भगवान! जहाँ जाना है, वहाँ गया नहीं, नहीं जाना था वहाँ गया। आहाहा! भाई! तुझे जहर का प्याला चढ़ गया है। आहाहा! कहते हैं, अब यह मैं बन्द करता हूँ। मेरी चीज़ में आनन्द से भरपूर मैं हूँ। आहाहा! पर में जरा सुखी होना, वह तो आनन्द की उल्टी दुःखरूप दशा है। अब जिसे सुखी होना हो, धर्म करना (अर्थात्) सुखी होना,... अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति, इसका नाम धर्म है। आहाहा! धर्म कोई यह दया पालन की,

मन्दिर बनाये, पाँच-पच्चीस लाख, दो लाख (खर्च से) यह परमागम बनाया छब्बीस लाख का, इसलिए इसे कुछ धर्म हुआ, (ऐसा नहीं है)। ऐई! गिरधरभाई! अभी गिरधरभाई को होनेवाला है। यह तो रामजीभाई कहे, तब हो तो गया अब। अब कहो, उनके लिये बनाया ऐसा। आहाहा! भाई!

मुमुक्षु : प्रेमचन्दभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेमचन्दभाई कहते थे, सच्ची बात है। प्रेमचन्दभाई कहते थे, अब हो गया हमारे मन्दिर, इसलिए अब दिक्कत नहीं। यह मन्दिर बनाने में धर्म नहीं। नवनीतभाई! प्रेमचन्दभाई ऐसा कहते थे। भाई! यह तो पहले से कहा है। यह कोई नयी बात नहीं है। यह मन्दिर बनता है, वह तो उसकी जड़ की पर्याय के संग्रह से बनता है यह। आहाहा! और इसकी ओर का लक्ष्य है, वह तो राग है। आहाहा! गजब बात है, बापू! धर्म की बात जगत को सुनना मुश्किल पड़े, ऐसी है। आहाहा!

मुमुक्षु : मीठी मधुर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! यह तो मीठी मधुर है, भाई! तेरे घर में आनन्द भरा हुआ है। है?

अपने में रहे हुए... धर्मी जीव जानता और मानता है कि **अपने में रहे हुए परम आनन्द से परिपूर्ण...** आहाहा! समझ में आया? यह काशीघाट का कलश है। यह कलश नहीं आते? भगवान में आनन्द का दल भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द का, ज्ञान का, आनन्द का और ज्ञान का स्वभाव भरा है। ऐसे अमृतकुम्भ को जिसने एक बार। आहाहा! अमृतकुम्भ कहा है न? उसको (—शुभभाव को) विषकुम्भ कहा है। आहाहा! पर की ओर के भाव में शुभ-अशुभभाव हो। चाहे तो दया का हो, चाहे तो दान का हो, चाहे तो भक्ति का हो, मन्दिर का हो। साक्षात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकर विराजते हों और उनकी पूजा मणिरत्न के दीपक, हीरा के थाल, कल्पवृक्ष के फूल (लेकर) जय भगवान (करे)। वह सब शुभराग है। उस पर विषय के सन्मुख में झुका हुआ भाव है। उसके स्वभाव के आनन्द से वह हट गया है। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं अब मैं छोड़ता हूँ। अब वह मुझे नहीं। आहाहा! पाँच इन्द्रिय के विषय

की सन्मुखता छोड़ता हूँ। आहाहा! और मैं मेरे आत्मा के आनन्द के घर में जाता हूँ। आहाहा! धर्म गजब ऐसा प्रकार। बापू! धर्म, जगत ऐसा कहे भले, चाहे जिस प्रकार से कल्पित कर मान ले, परन्तु उसे धर्म की खबर नहीं। यह दया मण्डली के एक प्रमुख हो सामने मान देना। पाँच-पच्चीस लाख उगाहे, तब तक ऐसा। देखो, यह मण्डल में हम हैं। कुछ क्या किया तूने? वह तो पर की ओर के झुकाव का शुभराग है। उसकी तुझे खबर नहीं बापू! तूने तेरे स्वरूप की तो हिंसा की है। परसन्मुख के झुकाव में होता विकल्प और राग की रुचि की वृत्ति, वह दुःखरूप है। और तू ऐसा मानता है कि मैंने कुछ अच्छा किया। आहाहा! बापू! तुझे अच्छे की खबर नहीं। अच्छा तो आनन्द से भरपूर भगवान वहाँ अच्छा है अन्दर। आहाहा!

अपने में रहे हुए... ऐसी अस्ति सिद्ध करते हैं। **अपने में रहे हुए...** अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर, आहाहा! एक बीड़ी पीवे, वहाँ मजा आवे और सिगरेट। ऐसा कि इस बात की खबर नहीं। यह पीते हैं न सब। दो सिगरेट पीवे तब भाईसाहब के पाखाने में दस्त आवे। उसमें अपलक्षण का कोई पार है? आहाहा! और दुनिया में चतुररूप से गिनवाना है इसे। सेठ! भगवान! तू भूला है, भाई! आहाहा! भगवान भूला की गली में चढ़ गया है। हमारे आतमराम के पिता हैं न दादा। यह उनका आत्माराम है और उसके बाप-दादा भगवान भूला, उनका मकान, उसमें रहता है। कलोल-कलोल। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, उसे भूला और दूसरी खिड़की में चढ़ गया। पुण्य और पाप के भाव परविषयों में झुकती वृत्तियाँ, भगवान भूल के रास्ते चढ़ गया है। समझ में आया? ऐसी बातें कैसी परन्तु यह? ऐसा धर्म कैसा होगा यह? पूरी दुनिया दूसरा कहती है और अब यह भगवान भी कुछ दूसरा कहते हैं। आहाहा!

उस हरिजन को बीड़ी चाहिए हो तो कहे, दादा! एक बीड़ी देना बीड़ी, धर्म होगा। ठीक! धर्म भारी सस्ता। यह बीड़ी वहाँ ठूँठे पड़े हों तो ले। बीड़ी पीने की शुरु की हो... डाल दे। नहीं आती सड़ी हुई बीड़ी? इसी तरह उसके ऐसे ठूँठे दो चार मिले भंगी को-हरिजन को, बापू! एक दियासलाई देना, हों! धर्म होगा। यह धर्म तो बहुत सरल भाई! ओहोहो! यह मकर संक्रान्ति पुण्य पर्व की... आते हैं न यह? गयी न अभी? खीहर। परन्तु

उस पुण्य को धर्म मानते हैं। ऐई! पोपटभाई! आहाहा! राग की मन्दता हो तो शुभभाव अर्थात् दु:ख है। वहाँ आत्मा के आनन्द का घात होता है, भाई! तुझे खबर नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अब मैं तो बहुत मैंने फरफर की। अब मैं छोड़ता हूँ। उस ओर का झुकाव छोड़कर, मुझमें रहे हुए परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का, (उसमें उन्मुख होता हूँ)। आहा! कैसे विश्वास बैठे? रंक करके माना इसने परमात्मस्वरूप मैं हूँ, कैसे जँचे? समझ में आया? **अपने में रहे हुए...** आहाहा! **परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप...** ऐसा कहते हैं। ऐसे **आत्मा को मैं, मेरे ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ हूँ।** आहा! स्वयं है न वहाँ। '**प्रपन्नोऽस्मि**' '**बोधात्मान प्रपन्नोऽस्मि परमानंतनिर्वृत्तम्**' इसका अर्थ किया, भाई! '**बोधात्मान प्रपन्नो**' तीसरा पद है। ३२ में। '**बोधात्मान प्रपन्नो अस्मि**' प्राप्त हुआ है। '**परमानंतनिर्वृत्तम्**' परमानन्द से रचित मेरा तत्त्व है। परमानन्द के स्वरूप से भरपूर मेरा आत्मा है। आहाहा! कैसे जँचे? ओहोहो! उड़द, एकरस उड़द की दाल हो और चूरमा के लड्डू और अरबी के पत्तों के भजिया खाता हो तब... आहाहा! आज तो बहुता मजा आया। चिमनभाई! अरे.. भगवान! तू क्या कहता है! भाई! यह अरबी के पत्ते जड़ मिट्टी-धूल है। आहाहा! यह उड़द की दाल धूल है। चूरमे के लड्डू भी धूल पुद्गल और अजीवतत्त्व है। आहाहा! हो... ऐसा करके डकार खाये न, हो... पागल के भी गाँव अलग होते हैं? पागल के ही गाँव भरे हुए हैं सब। आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। प्रभु! यह पर में आनन्द मानता है, वह तू जहर को आनन्द मानता है, भाई! तू तुझमें रहा हुआ जो आनन्द है, उसका अनादर करता है। आहाहा!

अब तो मैं मुझमें रहे हुए आत्मा के ज्ञानस्वरूप को '**प्रपन्नो**' भाषा ऐसी है न? प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा! धर्मात्मा अपनी बात जो अनुभव की, उसे जाहिर और प्रसिद्ध करते हैं। मैं एक परमानन्द से भरपूर ज्ञानस्वरूप प्रभु हूँ, उसे मैंने मेरी नजरों में डालकर मैंने प्राप्त किया है। अर्थात् पुरुषार्थ से प्राप्त किया है, ऐसा। समझ में आया? मेरे वीर्य को मेरे आत्मा के आनन्द की ओर झुकाकर... आहाहा! जो वीर्य परसन्मुख झुककर जिस झुकाव में जाता था, उसमें दु:ख था। उसमें से विमुख करके। यह सब पैसेवाले सुखी कहलाते हैं न! वह नहीं आया था एक बार? हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। उनके घर में आया था वढवाण से। ...

यह तो वह वढवाण से आया था। यह तो ... चुडगर। वह करोड़पति सही न, हमारे रिश्तेदार सुखी। धूल भी नहीं, सुन न! तेरे करोड़ रुपये जड़ हैं। जड़ के कारण सुखी है? आहाहा!

बाहर की सुविधा, वह तो जड़ की सुविधा, जहरीले तत्त्व की सुविधा है। अमृत का सागर भगवान को छोड़कर बाहर में सुविधा को मानता है, वह शान्ति को लूटता है। वह महान स्वरूप की हिंसा करता है। आहाहा! ऐसी कैसी हिंसा? पर को मारना हिंसा। अरे... बापू! तू भी है या नहीं? परम आनन्द और ज्ञान से भरपूर पदार्थ, उसका तू अनादर करे, यही तेरी हिंसा है। आहाहा! पर की हिंसा कौन कर सकता है? पर की दया कौन पाल सकता है? '**प्रपन्नो**' मैंने अंगीकार किया है। आहाहा! उसकी ओर का जो स्वीकार नहीं था और राग का, पर की ओर का स्वीकार था, वह स्वीकार छोड़कर प्रभु को इसने स्वीकार में लिया है। प्रभु कौन? स्वयं, हों! दूसरा भगवान उसके पास रहा। यह भगवान देते नहीं और लेते भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें होंगी?

परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को मैं, मेरे ही पुरुषार्थ से... अन्तःस्वभाव की सन्मुखता का मेरा जो प्रयत्न बहिर्मुख के त्याग से स्वमुख की सन्मुखता में मैंने मेरे आत्मा को प्राप्त किया है। आहाहा! समझ में आया?

विशेष इस श्लोक में 'मया एव' और 'मयि स्थितं' मूल पाठ है न? 'मया एव' और '**मयि स्थितं**' तीसरा पद। '**मया एव**' और '**मयि स्थितं**'। यह तो अध्यात्म बात है। यह कहीं शब्द एक शब्द में तो गम्भीरता पड़ी है। यह कहीं, चिड़ा लाया चावल का दाना और चिड़िया लायी मूंग का दाना और खिचड़ी हुई, ऐसी यह बात नहीं है। आहाहा! कहते हैं, '**मया एव**' और '**मयि स्थितं**' आहाहा! **ये शब्द, बहुअर्थसूचक हैं, जो बताते हैं कि परमात्मपद मेरे में**- परमात्मपद, परमस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप ऐसा परमात्मपद... आहाहा! वह **मेरे में-आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है...** आहाहा! विषय की वासना के काल में बाहर के माँस और हडिडयाँ चोंथते, उसमें मजा लगे, वह तो जहर का प्याला पीता है और मानता है कि मुझे मजा होता है। वह उसकी भ्रमबुद्धि है। भ्रमणा में पड़ा भगवान और पर में सुख मानता है। आहाहा!

कहते हैं कि वह **परमात्मपद मेरे में-आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है...**

सम्मेदशिखर और शत्रुंजय तो होगा न यहाँ ? भगवान मोक्ष पधारे हैं तो। एक व्यक्ति कहता था, भाई ! यात्रा को जायें शत्रुंजय... क्या है ? वह तो बाहर की बात है। वहाँ कहाँ आत्मा है ? शुभभाव हो तब भक्ति यात्रा का होता है, शुभभाव पुण्य, अधर्म, दुःख, आकुलता। पूर्ण स्वरूप प्राप्त न हो, वहाँ बीच में ऐसा भाव (आता) है। परन्तु वह हो, वह है दुःखरूप भाव। जगत को झेलना कठिन लगता है...

और वह पद, मैं आत्मसन्मुख होकर पुरुषार्थ करूँ तो ही प्राप्त होता है;... किसी की कृपा से मिल जाये... समझ में आया ? गुरु की कृपा हो जाये, ईश्वर की कृपा हो जाये तो मिले—ऐसी वह चीज़ नहीं है। समझ में आया ? (मुझे) तो मेरे पुरुषार्थ से ही स्वरूप प्राप्त होता है। दूसरे किसी बाह्य साधन से या किसी की कृपा से वह प्राप्त नहीं होता। आहाहा ! अरे रे ! इसे सत्य कान में पड़ा नहीं। सत्य की स्थिति है, उसकी इसे खबर नहीं और मानता है कि अभी कमाते हैं, हमारे पिता के पास नहीं था और हमने... क्या कहलाता है ? बाहुबल से पैदा करते हैं। कहाँ मोहनभाई के पास था ? कहाँ थे इतने पैसे तुम्हारे करोड़ ? मैंने ऐसे पैदा किये। वापस लेख लिखे अपने जीवन चरित्र का। आया है न अभी बहुत बड़ा। बड़ा लेख है। शक्ति होगी और पैसे हुए होंगे। बड़ा लेख चालीस पृष्ठ का यहाँ आया था। हैदराबाद गये थे, तब उनके घर में उतरे थे। अरे ! ऐसा कि बाहुबल से ऐसा किया और मैंने ऐसा किया। अमुक समय ... मुझे बुलाया, वहाँ बुलाकर फिर यह लेखक वहाँ उपस्थित था। यह सब जीवनचरित्र। पागल है न ! इन्दिरा गाँधी थी और अमुक मोरारजी... यह क्या कहलाता है तुम्हारे ? मोरारजी न ? नहीं ? तुम नहीं उसमें ? आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : शोभा की शोभा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शोभा किसकी ? ओभा है। पर की ओर के सन्मुखता के झुकाव का भाव अत्यन्त दुःखरूप और जहर है। यह जीवन, वह जीवन नहीं। आहाहा ! पोपटभाई !

जीना उसने जाना, जिसने आनन्द के नाथ को अन्दर में स्मरण किया। आहाहा ! उसके जीवन में अन्तर के आनन्द की धारा में से आनन्द आया, उसका जीवन जीया कहलाता है। बाकी सब मर गये मुर्दे हैं। समझ में आया ? आहाहा ! अष्टपाहुड़ में है न ? अष्टपाहुड़

में कहा है। जिसने आनन्द का नाथ भगवान पूर्णानन्द स्वरूप है, उसका जिसे भान नहीं, वे सब चलते मुर्दा हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने चलते मुर्दा (कहा है)। वे उठाते, यह उठाने का, चिमनभाई! यह सब डॉक्टर होशियार लाख-लाख महीने के पैदा करते हों... होगा?

जेल में किसी ऊँट को धरा हो और मनुष्य को धरे जेल में। दो-पाँच ऊँट हो और ... आदमी। और ऊँट के ऊपर जाकर बैठे जेल में, इसलिए वह बड़ा हुआ? जेल में धरा है। ऐसे के ऐसे। भगवान आनन्द और राग में सुख है, पर में सुख है, यह सुख को ताला लगाया अन्दर में। जेल में है। समझ में आया? पाँच-पचास लाख पैदा हों।... बहुत सुखी होगा। धूल में भी सुखी नहीं। पागल की भाँति पर में मान रहा है। कैसे होगा मलूकचन्दभाई! यह तुम्हारे पूनम को सुखी कहे न लोग? पाँच करोड़ रुपये उसके पास हैं। इनके पुत्र के पास। मुम्बई, मुम्बई। पूनमचन्द मलूकचन्द। २२-२२ मंजिल के मकान बँगले बड़े खड़े करता है। धूल भी सुख नहीं। सुन न!

पूर्णानन्द का नाथ, उसकी प्राप्ति के लिये, है, उसे मिलने के लिये, है, उसकी भेंट करने के लिये अन्दर में... आहाहा! **स्वावलम्बन का ग्रहण...** भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके स्वभाव का उसे अवलम्बन। **और परावलम्बन का त्याग सूचित करता है।** समझ में आया? **आचार्य ने दर्शाया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति मैंने, मेरे आत्मबल द्वारा ही की है;...** पाठ है न। '**मां मयैव मयि स्थितम्**' आहाहा! पूज्यपादस्वामी। समाधितन्त्र नाम है न यह? आनन्द की प्राप्ति और उसमें समाधि की प्राप्ति। समाधि अर्थात् यह बाबा करते हैं, वह नहीं यह, हों! अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, उसे यहाँ धर्म और समाधि कहा जाता है। समझ में आया?

इस प्रकार अपना आत्मवैभव बताकर, मुमुक्षु जीवों को प्रेरणा की है कि 'तुम भी स्वतः... तुम भी तुम्हारे से। आहाहा! **अर्थात् अपनी आत्मसामर्थ्य से ही परमपद की प्राप्ति करो। आत्मा और परपदार्थों को (इन्द्रियों के विषयों को) भिन्न करने में...** अर्थात् क्या कहते हैं? भगवान आत्मा, उसके विषय पर, उसे भिन्न करने में **और आत्मा को ग्रहण करने में करण (साधन) अलग नहीं हैं;...** यह समयसार की बात ली। नीचे है न। शुद्ध आनन्द का धाम प्रभु, ऐसा जहाँ अन्तर दृष्टि पड़ी, वहाँ राग से भिन्न है। इन्द्रियों से भिन्न

हुआ, इन्द्रिय के विषय से भिन्न है। वह भिन्न पड़ने में साधन भी पर से भिन्न की दशा और ग्रहण करने में भी वह स्वयं है यह। है ? साधन अलग नहीं। और दया, दान, व्रत के परिणाम करे तो वह ग्रहण होता है (और) राग से भिन्न पड़ता है, ऐसा स्वरूप नहीं है। समझ में आया ?

प्रज्ञा ही एक करण है,... राग और भगवान दोनों को भिन्न करने का प्रज्ञा की दशा ही साधन है। और **उसके द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया जाता है और उसके द्वारा ही उसे ग्रहण किया जाता है।** यह नीचे श्लोक है।

प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय है॥ २९४॥

नीचे ... है नीचे।

प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय है॥ २९४॥

ज्ञान की दशा को स्वभाव की ओर झुकाने से राग और आत्मा दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! समझ में आया ? इसलिए लोगों को लगता है न, लोगों को इसलिए लगता है, यह सब निश्चय... निश्चय, परन्तु कुछ व्यवहार करना और उससे होता है, ऐसा तो कहते नहीं। सुन न अब! व्यवहार करते-करते होगा, वह तो राग है। राग करते-करते होगा ? पर से भिन्न पड़ेगा ? समझ में आया ?

देखो! यहाँ तो करण और ग्रहण। पृथक् पड़ने का करण और ग्रहण करने का करण, वह प्रज्ञा कही। अन्तर ज्ञान की दशा जो परसन्मुख झुकी है, उस ज्ञान की दशा को अन्तर में झुकाना, इतना पर से भिन्न पड़ने का साधन है। आहाहा! समझ में आया ? **प्रज्ञा द्वारा ही भिन्न किया जाता है...** दो पद। **प्रज्ञा द्वारा ही उसे ग्रहण किया जाता है।** नीचे।

यहाँ 'साध्य और साधन एक ही हैं;... लो। व्यवहार साधन और निश्चय साध्य, यह तो कथनमात्र है। साध्य जो पूर्णानन्दस्वरूप, उसे राग से भिन्न पड़ने का साधन प्रज्ञा की दशा है, ज्ञानदशा है। और उसे ग्रहण करना या अनुभव करना, वह भी ज्ञानदशा से अनुभव में आता है। आहाहा! ऐसी बात। कहो, समझ में आया ? **भिन्न-भिन्न नहीं'— ऐसा बताया है।**

श्लोक - ३३

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह -

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥ ३३॥

यः प्रतिपन्नाद् देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति। किं विशिष्टम्? अव्ययं अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम्। स प्रतिपन्नान्न निर्वाणं लभते। किं कृत्वा? तप्त्वाऽपि किं तत्? परमं तपः॥३३॥

इस प्रकार, जो आत्मा को शरीरादि से भिन्न नहीं जानता, उसके प्रति कहते हैं—

तन से भिन्न-गिने नहीं, अव्ययरूप निजात्म।
करे उग्र तप, मोक्ष नहीं, जब तक लखे न आत्म॥ ३३॥

अन्वयार्थ - (एवं) उक्त प्रकार से (यः) जो (अव्ययं) अविनाशी (आत्मानं) आत्मा को (देहात्) शरीर से (परं न वेति) भिन्न नहीं जानता है, (सः) वह (परमं तपः तप्त्वापि) घोर तपश्चरण करके भी (निर्वाणं) मोक्ष को (न लभते) प्राप्त नहीं करता है।

टीका - जो प्राप्त हुए देह से आत्मा को, इस प्रकार — उक्त प्रकार से भिन्न नहीं जानता; कैसे आत्मा को? अव्यय अर्थात् जिसने अनन्त चतुष्टयस्वरूप का त्याग नहीं किया, वैसे (आत्मा को); वह प्राप्त हुए देह से निर्वाण नहीं पाता। क्या करके? तपने पर भी, क्या तपकर भी? परमतप को।

भावार्थ - जो जीव, अविनाशी आत्मा को देह से भिन्न नहीं जानता-अनुभव नहीं करता, वह घोर तप करे, तो भी सम्यक्त्व अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।

आत्मा, अविनाशी चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है और शरीर, इन्द्रियादि अचेतन-जड़ हैं, दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इस प्रकार जो जीव नहीं जानता, वह अज्ञानी है, स्व-पर के भेदविज्ञान से रहित है। शरीरादि की, जड़ की क्रिया, जीव कर सकता है — ऐसा मानकर, वह राग-द्वेष करता है और इससे घोर तप करने पर भी, वह धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना, जीव भले ही व्रत, तप, नियम शीलादि का आचरण करे, तो भी वह कर्मबन्धन से नहीं छूटेगा-निर्वाण को प्राप्त नहीं होगा।

(श्री समयसार, गाथा १५२ व १५३)

आत्मज्ञान के बिना, अज्ञानी जो तपादि करता है, वह सब कायक्लेश है; उनसे चैतन्य की शान्ति का वेदन नहीं है। वस्तुतः वह तप नहीं, किन्तु ताप है-क्लेश है। उससे कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु जिससे चैतन्य का प्रतपन हो, चैतन्य के आनन्द का अनुभव हो, वही वास्तविक तप है; उससे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इसलिए प्रथम, भेदज्ञान द्वारा स्वात्मा का ही अवलम्बन करके, उसमें ही लीनता करना, यह एक ही निर्वाण प्राप्ति का उपाय है; अन्य सभी उपाय, मिथ्या हैं, दुःखदायक और संसार के कारण हैं॥३३॥

श्लोक - ३३ पर प्रवचन

इस प्रकार, जो आत्मा को शरीरादि से भिन्न नहीं जानता, उसके प्रति कहते हैं— ३३।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥ ३३॥

टीका - जो प्राप्त हुए देह से आत्मा को,... यह देह मिली, आत्मा है या जड़ ? माता के उदर में आत्मा तो परलोक में से आया है। यह प्राप्त हुई जो देह है, उससे आत्मा को **इस प्रकार—उक्त प्रकार से भिन्न नहीं जानता;...** आहाहा! पूर्व की देह छूट गया और नयी देह मिली है। यह मिली—प्राप्त हुई। संयोग में आया ... भगवान तो अन्दर अरूपी चिदानन्द अनादि-अनन्त है। आहाहा! समझ में आया ?

प्राप्त हुए... ऐसा पाठ है न ? **'लभते स न' देह से आत्मा को, इस प्रकार—उक्त प्रकार से भिन्न नहीं जानता; कैसे आत्मा को ? अव्यय अर्थात् जिसने अनन्त चतुष्टयस्वरूप का त्याग नहीं किया,...** आहाहा! क्या कहा ? पूर्व की देह छूटी और यह नयी देह आयी।

परन्तु यह अनन्त स्वभाव जो है ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य ऐसे स्वभाव को कभी इसने छोड़ा नहीं। वस्तु है, वह अनादि-अनन्त है। ऐसा उसका स्वभाव है या नहीं? स्व-भाव। अपना कायम रहा हुआ भाव। जो ज्ञान, आनन्द, वीर्य और श्रद्धा, वीर्य का कायम रहनेवाला भाव है। ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप का त्याग किया नहीं है। आहाहा!

वैसे (आत्मा को); वह प्राप्त हुए देह से निर्वाण नहीं पाता। क्या करके? तपने पर भी,... अर्थात् क्या कहते हैं? अपवास करे महीने के और दो-दो महीने के, चार-चार महीने के, छह-छह महीने का लंघण (करे), रस नहीं खाये, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे, ऐसे प्रत्याख्यान अनन्त बार किये हैं और उससे आत्मा प्राप्त नहीं होता। आहाहा! कठिन भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन सी क्रिया इसकी थी? वह तो सब जड़ की और राग की क्रिया है। भगवान ज्ञान की क्रिया जो है अन्दर स्वरूप, उसकी ओर तो गया नहीं, वह तो राग की क्रिया और जड़ की क्रिया है, वह सब। आहाहा!

तपने पर भी,... देखा! तप कर। परम तप करके। महा तप। छह-छह महीने के अपवास। अभी आया था कोई नहीं एक बार? किसी महिला ने अपवास किये थे न १२५ जितने। पानी-बानी पीया। आया, अखबार में बहुत आया था। लंघन है।

जहाँ आत्मा आनन्द का नाथ है, उसकी दृष्टि की खबर नहीं। राग और शरीर से मेरा अस्तित्व भिन्न है, उसका अनुभव नहीं, वह सब तपस्या करके सूख जाये तो भी उसे आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, वर्षीतप करते हैं न? देखो न, यह नहीं करते? वैशाख शुक्ल तीज से सामने वैशाख शुक्ल तीज, बारह महीने। एक दिन खाना और एक दिन अपवास।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भारी मेहनत। यह क्या किया था, इसे खबर नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द में रहते हुए वृत्ति-इच्छा उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए आहार आया नहीं, उसे तपस्या

कहा जाता है। अतीन्द्रिय आनन्द में रमने से वृत्ति का उत्थान—विकल्प ही नहीं, उसे आहार लेने का। उसे आहार आने का नहीं था और विकल्प नहीं हुआ, आनन्द में रहा, अतीन्द्रिय आनन्द में रहा, उसे भगवान तप और तपस्या कहते हैं। बाकी सब लंघन कहते हैं। यह त्रागा कहते हैं।

बाबा पैसा लेने आवे न? न दे तो जबरदस्ती करे। शरीर से थके। हमारे एक बार हुआ था पालेज में। वे सब लोग गये? गये होंगे? मनसुख और वे गये। एक बाबा आया था दुकान में। यह तो ७० वर्ष पहले की बात है। मैं तो दे दूँ। अपने पैसा ... पड़े हैं। भाई थे न भागीदार? नहीं। यहाँ नहीं। उसने वस्त्र सुलगाया। कपड़ा होगा न! आठ आना देने पड़े। यह लो... (संवत्) १९६४-६५ की बात है। जबरदस्ती करे। वस्त्र जलाया... दे दो न भाई, यह निकालो न इसे।

भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ परमेश्वर जिनके एक समय में तीन काल-तीन लोक जिन्हें जानने में आये, ऐसे भगवान ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा के आनन्द के भान बिना, उस आनन्द के स्वाद बिना तेरी सारी तपस्यायें करके मर जा, उन तपस्या से प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! प्रतपंति इति तपः। भगवान आनन्द का नाथ, जैसे सोने पर गेरु लगाकर सोना ओपता है। सोने को गेरु लगाने से सोना ओपता और शोभता है; उसी प्रकार भगवान आनन्द का नाथ, उसमें एकाग्र होकर जो आनन्द की उग्र दशा प्रगट करे, उसे भगवान तपस्या कहते हैं। आहाहा! दुनिया से यह सब उल्टा है। पोपटभाई! सम्प्रदाय में रहने न दे और यहाँ कोई सम्प्रदाय है नहीं। यहाँ सोनगढ़ के रहावन में। मार्ग यह है, तुम मानो या न मानो, तुम्हारी मर्जी। वाडा में से तो निकाल दे एकदम। समझ में आया? चन्दुभाई!

बापू! मार्ग यह है, भाई! तुझे सत्य का पन्थ है, वह सूझा नहीं, भाई! यह सब तपस्या... कहा है न देखो न! पाठ है या नहीं? '**तप्त्वाऽपि परमं तपः**' चौथा पद है। छह-छह महीने के अपवास करे। दूध, खांड, शक्कर रस का त्याग करे, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करे, उस क्रिया से आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। कहो, छोटाभाई! गर्म पानी किसके पीये थे तुमने?

'**लभते स न निर्वाणं**' जिसे राग और शरीर से चैतन्य भगवान भिन्न है और उस भिन्न की दशा का साधन भी आत्मा की ज्ञानदशा है। और अनुभव करना, वह भी ज्ञान से अनुभव होता है, इसकी जिसे खबर नहीं, वह परम तप चाहे जितने अपवास और ... क्रिया करे, उसके मुक्ति नहीं होगी। उसे निर्वाण नहीं होगा। आहाहा! विचार आया, यह वर्षीतप करते हैं न वह क्या है? ऐई! चौमासा था न बाहर सदर में। गाँव में सेठिया की बहू ने किया होगा। वर्षीतप करते हैं न? अब यह खड़े-खड़े बेचारे अपवास करते हैं, सेठिया की बहुएँ और यहाँ कहते हैं लंघन। ९० में हुआ था। रात्रि में। तब तो उसमें थे न! बापू! तेरा लंघन है।

यह क्या कहते हैं? '**लभते स न निर्वाणं**' अर्थात्? '**न वेत्ति परं देहात् एवम् आत्मानम् अर्वै**' भगवान अविनाशी अनादि-अनन्त ऐसा प्रभु, वह देह से भिन्न है—ऐसा जिसे अन्तर भान हुआ नहीं, ऐसे जीव की तपस्या मरकर चाहे जितनी करे। कितने ही तपस्या में मर जाते हैं। अधिक खेंच गये हो न। पारणा से पहले मर जाते हैं। जोरावर में एक लड़की मर गयी, जोरावर में। बहुत उपवास खींचे। फिर क्या हुआ? पूरा किये बिना छुटकारा नहीं फिर। मर गयी। अभी किसने किया था १२५। ... नहीं आया था? अंक नहीं आया? आज भी आया था अंक। इस महिला ने रिकार्ड तोड़ा। करते होंगे। शरीर-बरीर ठीक होगा। आहाहा! परन्तु यह शरीर और आहार का त्याग वह मैं नहीं। आहाहा! आहार को ग्रहण भी किया नहीं था और आहार को मैं छोड़ता नहीं, वह तो जड़ है। मेरी चीज़ तो आहार के रजकणों से पृथक् है। आहार के पोषण से पिण्ड बना, यह देह उससे भिन्न और उसमें राग के विकल्प उठे परसन्मुख के झुकाव का, उससे भी भिन्न। ऐसा जिसे भेदज्ञान नहीं, वह चाहे जितनी तपस्यायें करे, परन्तु उसे निर्वाण—मुक्ति नहीं होती। आहाहा! परन्तु कठिन काम, हों! है या नहीं इसमें?

३३ अंक है। **प्राप्त हुए देह से निर्वाण नहीं पाता।** इस देह से पृथक् पड़ता नहीं। ऐसा कहते हैं कि शरीर और राग... भावकर्म राग है, जड़ है। इन दोनों से भगवान अन्दर भिन्न चीज़ है। ऐसी जिसने भिन्नता नहीं की, वह चाहे जितनी तपस्या करे परन्तु पृथक् नहीं होता। पृथक् नहीं होता अर्थात् निर्वाण नहीं पाता। समझ में आया? **तपने पर भी,...**

भावार्थ - जो जीव, अविनाशी आत्मा को... अव्यय है न ? आत्मा का अव्यय। दूसरा पद है। **अविनाशी आत्मा को देह से भिन्न नहीं जानता**- देह की क्रिया, वह मेरी नहीं, वह तो सब जड़ की है। आहाहा! बोलना, यह शरीर चले, वह सब जड़ की क्रिया है; आत्मा की नहीं। **अविनाशी आत्मा को देह से भिन्न नहीं जानता-अनुभव नहीं करता,...** देह शब्द से शरीर और रागादि सब देह के विकार हैं। निर्विकारी भगवान पूर्णानन्द का स्वरूप जो राग से, पर से भिन्न जानता नहीं और भिन्न होकर अनुभव नहीं करता। आहाहा! वह घोर तप करे, कठोर तप करे **तो भी सम्यक्त्व अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।** समकित को प्राप्त नहीं करता, कहते हैं।

क्या कहा यह ? कि राग है, वह पुण्य विकल्प—दया, दान, भक्ति आदि और शरीर जड़। दोनों से भिन्न चीज़ है। भिन्न ही है, उसे भिन्न जाना नहीं। वह भिन्न होकर निर्वाण होता है। निर्वाण तो पर से भिन्न हो, उसका नाम है। राग से और शरीर से भिन्न मेरी चीज़ आनन्दकन्द प्रभु है, ऐसा भिन्न जाना नहीं, भिन्न अनुभव नहीं किया और एक मानकर तपस्यायें की। राग और शरीर की क्रिया मानी, उससे भिन्न नहीं पड़ता। परन्तु भिन्न जाना नहीं, भिन्न माना नहीं, भिन्न अनुभव नहीं किया। आहाहा! समझ में आया ? देवीलालजी! ऐसा मार्ग है।

दूसरा भी सरल रास्ता होगा या नहीं ? या ऐसा ही रास्ता होगा ? 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' आहाहा! भाई! मार्ग तो यह है, बापू! परमार्थ। यह पर की दया पालना, वह परमार्थ नहीं, हों! परमार्थ—परम पदार्थ ऐसा भगवान आत्मा, उसे राग और देह से भिन्न जाने बिना चाहे जितनी तपस्यायें करे, उससे उसे मुक्ति नहीं होगी। भिन्न जानने में नहीं आया, वह भिन्न नहीं होगा। आहाहा!

निर्वाण को प्राप्त नहीं करता। यहाँ तो वह समकित को प्राप्त नहीं करता, (ऐसा) लिया है। दोनों लिये हैं। सम्यक्त्वरूप... मुक्त है न ? राग से, पर से भिन्न और स्वरूप से अबन्ध है। मेरा स्वरूप ही अबन्ध है। मैं राग से बँधा हुआ नहीं और पर से बँधा हुआ नहीं। ऐसे स्वरूप को अबद्धस्पृष्ट को जाना, उसकी तो मुक्ति हुई, उसे मुक्तस्वरूप है, ऐसा भान हो गया। समझ में आया ? तो मुक्तस्वरूप ऐसा भान बिना ऐसी तपस्यायें और व्रत को करके मर जाये। साधु होकर, दुकान, स्त्री छोड़कर। समझ में आया ? उसे समकित नहीं

होगा। क्योंकि स्वरूप ही राग और पर से (भिन्न है)। राग है विकल्प दया, दान, व्रतादि, वह तो आस्रव है, भावबन्ध है। वस्तु तो अबन्ध है। भावबन्ध से पृथक् अबन्ध वस्तु का जिन्हें अनुभव नहीं, वे जीव बन्धभाव का कर्ता माने और चाहे जितनी तपस्यायें करे, वे भिन्न नहीं पड़ते। समझ में आया? आहाहा! **वह निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।**

आत्मा, अविनाशी चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है... आत्मा वस्तु, उसमें बसे हुए ज्ञान और आनन्द के गुण से वह भरपूर है। आहाहा! ऐसे पुण्य और पाप के भाव उसमें रहे हुए नहीं हैं। समझ में आया? उसमें शरीर रहा हुआ नहीं है। आहाहा! **अविनाशी चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है और शरीर, इन्द्रियादि अचेतन-जड़ हैं, दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए वे एक-दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार जो जीव नहीं जानता, वह अज्ञानी है, स्व-पर के भेदविज्ञान से रहित है।** स्व-पर की एकत्वबुद्धिवाला है। **शरीरादि की, जड़ की क्रिया, जीव कर सकता है...** यह जड़ और मैं इस पर की दया पालूँ, यह जीव करूँ, वह मैं कर सकता हूँ। वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! **ऐसा मानकर, वह राग-द्वेष करता है और इससे घोर तप करने पर भी, वह धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता है।** (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ९, मंगलवार, दिनांक २१-१-१९७५, श्लोक-३३-३४, प्रवचन-४२

३३ गाथा। इसमें विशेष। कहते हैं कि यह आत्मा जो है, वह ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति है। यह आत्मा जो है, वह तो ज्ञानस्वरूप, उसका चैतन्यस्वरूप है। उसके **भान बिना...** यह बाह्य देह की क्रिया और पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम-क्रोध के भाव, वे सब मलिन और विकार है। वह आत्मा नहीं। आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द प्रभु ज्ञाता-दृष्टा जिसका त्रिकाल स्वभाव है, ऐसा जिसने पुण्य-पाप के राग से और देह से भिन्न जिसने जाना नहीं। अपनी अस्ति, आत्मा का अस्तिपन, वह तो जाननस्वभाव प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। आहाहा! ऐसे जिसने जाना नहीं, राग की क्रिया और देह की क्रिया से भिन्न किया नहीं, ऐसे अज्ञानी भले व्रत, तप, नियम करे, वह चाहे जितनी अपवास की तपस्यायें करे, व्रत पाले, दया, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियम पाले, कठोर अभिग्रह पालन करे और शील कषाय की मन्दता का भला स्वभाव रखे, ऐसा **आचरण करे, तो भी वह कर्मबन्धन से नहीं छूटेगा...** उस धर्म नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन बात। समझ में आया? है?

ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना,... आहाहा! आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है, ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप है। ऐसा जिसने शरीर और राग की क्रिया से भिन्न किया नहीं, भिन्न जाना नहीं, भिन्न अनुभव नहीं किया। आहाहा! ऐसे **जीव भले ही व्रत, तप, नियम शीलादि का आचरण करे, तो भी वह कर्मबन्धन से नहीं छूटेगा...** उसे निर्वाण-मोक्ष नहीं होगा। संसार में भटकना रहेगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

सच्चिदानन्द प्रभु सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका राग और देह से भिन्न ज्ञान किया नहीं, भिन्न करने की दशा जिसने प्रगट की नहीं, वे जीव भले व्रत, तप और क्रियाकाण्ड करे, उससे उन्हें धर्म नहीं होगा। है नीचे? १५२ नीचे है। समयसार की लाईन (कड़ी) है।

परमार्थ में नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सबँ उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे॥१५२॥

सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्हें एक समय में तीन काल तीन लोक का ज्ञान, स्वभाव में था, वह जिनकी दशा में प्रगट हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि... आहाहा! समझ में आया? **परमार्थ में नहीं तिष्ठकर...** है न यह? आहाहा! परमार्थ आत्मा प्रभु चैतन्यमूर्ति है, उसमें जिसकी स्थिति नहीं और मात्र दया, दान, व्रत, भक्ति और तप की क्रियायें करता है, उसे सर्वज्ञ परमात्मा मूर्खता से भरपूर व्रत और मूर्खता से भरपूर तप कहते हैं। बातें गजब! उसे बालव्रत और बालतप कहते हैं। अज्ञानी की यह सब चेष्टायें हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **निर्वाण को प्राप्त नहीं होगा।**

आत्मज्ञान के बिना, अज्ञानी... मैं एक आनन्द और ज्ञानस्वरूपी परमात्मस्वरूप मैं हूँ, ऐसा जिसने राग और देह से भिन्न ज्ञान किया नहीं। आहाहा! वह **अज्ञानी जो तपादि करता है,...** वह अपवास करे, लंघन करे, महीने-महीने के अपवास करे, नकोरडा अपवास करे, पानी भी पीवे नहीं। एक बाई ने १२५ अपवास किये थे। ऐसा अखबार में आया है। जयपुर में। वह सब लंघन है। आहाहा! अन्दर आत्मा (के) ज्ञान बिना, आत्मा के अनुभव बिना, आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद बिना... आहाहा! उन सब क्रियाओं में राग का स्वाद है। आहाहा! ऐसी बात, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है। समझ में आया?

आत्मज्ञान के बिना, अज्ञानी जो तपादि... व्रतादि करे, **वह सब कायक्लेश है;...** आहाहा! जगत को कठिन पड़े। वह कायक्लेश छेद करता है। आहाहा! **उनसे चैतन्य की शान्ति का वेदन नहीं है।** आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप शान्तरस का कन्द प्रभु आत्मा है। आहाहा! कैसे जँचे? सिगरेट पीवे, वहाँ अन्दर प्रसन्न हो जाता है। आहाहा! एक स्त्री का सुन्दर रूप देखकर प्रसन्न हो जाये... आहाहा! अरे! तू कहाँ गया? एक दया, दान के परिणाम करके प्रसन्न हो जाये, वह तो राग है। आहाहा! भाई! वस्तु भिन्न है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा हुआ मार्ग... उस आत्मा का जिसे भान नहीं, वह सब क्रिया कष्ट करे, वह वास्तव में तप नहीं है परन्तु ताप है। यह वर्षीतप करती हैं न महिलायें? एक दिन खाना और एक दिन अपवास। एकसाथ अपवास करते हैं। अपने बलुभाई ने किया नहीं था, कुछ आया है या नहीं बलुभाई के यहाँ से? बलुभाई नहीं, डॉक्टर? डॉक्टर नहीं

दवा के ? दवा का कारखाना देखा है न, वहाँ गये थे। रामजीभाई थे। वहाँ आहार भी किया था। बड़ा दवाखाना। ५० लाख रुपये। वे दवायें बनाते थे। वहाँ बताया। वहाँ गये थे न ? उन्होंने वर्षीतप किया था। चिमनभाई ! पहिचानते हो न ? एक दिन अपवास और एक दिन पारणा। फिर और उसका संघ किया, वहाँ पारणे में मैं था। राजकोट। तब उसके पिता भी थे, चुनीभाई। अरे भाई ! यह क्या क्रिया थी ?

वहाँ आनन्द का नाथ, उसे जगाया नहीं। उसमें विकार की वृत्तियों से पार पड़ा हुआ प्रभु... आहाहा ! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह तो सब राग है, वृत्ति का उत्थान है, विकार है। आहाहा ! उस विकार की वृत्ति के पीछे प्रभु, आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है। अरे ! उसकी जिसे खबर नहीं, उसका जिसे सम्यग्दर्शन हुआ नहीं... आहाहा ! वे सब ऐसे अपवास करे, व्रत पाले, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, लाखों मन्दिर बनावे... अरे, भगवान ! ...यहाँ तो बन गया है न। अब तुम्हारे बनाना है। गिरधरभाई को। बनाते हैं, वह तो उसके कारण से बनता है। कदाचित् भाववाला हो तो शुभभाव हो, शुभ। परन्तु उससे धर्म होगा, भाई ! ऐसा नहीं है। ऐसी क्रिया में बहुत तपस्या करे तो तप नहीं परन्तु ताप है। इसलिए जिसे आत्मा आनन्द का नाथ स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु, ऐसा जिसे वेदन में आया नहीं, उसे तो उस तपस्या में राग का ही वेदन है, आकुलता का वेदन है। पोपटभाई ! किया है वर्षीतप ? घर में कभी किया नहीं होगा। तैयारी थी। यह शरीर अच्छा, यह तो कदाचित् कर डालें। दूसरे कोई कहते थे। नहीं ? कोई कहता था। आहाहा ! बहुत आते हैं (कहे), महिलाओं ने वर्षीतप किये।

अरे ! आत्मा स्वयं आनन्द का धाम जहाँ शान्त और आनन्द का रस अन्दर पड़ा है... आहाहा ! वह तो अकषाय वीतरागमूर्ति आत्मा है, उसे खबर नहीं। ऐसी वीतरागी स्वरूप भगवान आत्मा का जिसे अन्तर में अनुभव में वेदन नहीं और यह तपस्यायें और व्रत करे, उसे ताप लगता है। वह तो सब कषाय का ताप है। आहाहा ! कठिन लगे, हों ! लाखोंपति की बहू हो, वह वर्षीतप करे और उसे ऐसा (कहे) कि यह सब तेरी लंघन है, सुन न अब। और वर्षीतप करने के बाद लाख-दो लाख खर्च करे। गृहस्थ हो तो। यह नहीं ? यह नहीं कैसा ? अहमदाबादवाला। मंगलभाई की बहू। ध्रांगध्रावाला। शान्तिभाई

की माँ। वर्षीतप किया था तो पिचहत्तर हजार, लाख खर्च किया था। बड़ी क्या कहलाती है तुम्हारी ? स्पेशल ट्रेन आयी-स्पेशल ट्रेन। और यहा पालीताणा में सब पैसे बहुत खर्च किये थे। माने कि धर्म (किया)। बापू! कहाँ धर्म था, भाई ? तुझे खबर नहीं। आहाहा!

वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है न। इसे-बेचारे को सुनने को मिला नहीं। क्या हो ? आहाहा! भाई! तेरे अतीन्द्रिय आनन्द और अकषाय—विकार के परिणाम से रहित निर्विकारी रस में पड़ा है आत्मा। आहाहा! ऐसे निर्विकारी रस का रसास्वाद जिसको नहीं... आहाहा! वे जीव यह सब तपस्यायें करते हैं, उन्हें भगवान बालतपस्या और बाल-मूर्खाई से भरपूर तप कहते हैं। समझ में आया ? चिमनभाई! तुम्हारे में किया है ? किसी ने नहीं किया होगा। चुनीभाई ने भी नहीं। ठीक। वहाँ पुराने थे न, उन्होंने किया होगा। यह तो नये ही हैं। इनकी सासु। सासु नये और पुराने। सच्ची बात है। फूलचन्दभाई और ये। आहाहा!

अरे रे! क्या किया तूने ? भाई! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके पक्ष में गया नहीं और राग की क्रिया के पक्ष में चढ़ गया, दुःखी.. दुःखी.. दुःखी... है, कहते हैं। कठोर लगे, हों! सम्प्रदाय के लोगों को। जिसे प्रथा लगी है न सम्प्रदाय की, उसे यह बात कठोर लगती है। दामोदरभाई! कठोर लगे। आहाहा! खबर है न। आहाहा! कहते हैं न ? वह तप नहीं परन्तु ताप है, क्लेश है। आहाहा! यह राग की मन्दता के परिणाम भी क्लेश है। आत्मा रागरहित स्वरूप प्रभु है, उसका सहारा लिया नहीं, उसके घर में आनन्द पड़ा है, उसका स्वाद लिया नहीं। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान आत्मा है। अरे! कैसे जँचे ? एक बीड़ी बिना चले नहीं, तम्बाकू बिना चले नहीं, दो सिगरेट पीवे, तब तो इसे दस्त उतरे पाखाने में। ऐसे तो व्यसन में दुःखी बेचारे। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि अनन्त बार साधु हुआ। स्त्री, पुत्र, परिवार, राजपाट छोड़कर नग्न मुनि हुआ, वनवास में रहा, परन्तु यह सब क्रियायें आत्मा के ज्ञान बिना निरर्थक गयी। आहाहा! वह ताप है, **उससे कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती,...** आहाहा! एक यहाँ थी न पुस्तक। अधिक नहीं थी कल ? चिमनभाई की थी ? **परन्तु जिससे चैतन्य का प्रतपन हो,...** आहाहा! जैसे सोना गेरु से शोभे, सोने को गेरु लगाने से ओपता है। उसी प्रकार

भगवान आत्मा चैतन्य के तेज से अन्दर प्रतपे। अन्दर से प्रतपे अर्थात् विशेष तपन अर्थात् आनन्द की दशा हो, उसे भगवान तप कहते हैं। समझ में आया? ऐसी बातें बहुत अलग...

चैतन्य का प्रतपन हो, चैतन्य के आनन्द का अनुभव हो,... आहाहा! **वही वास्तविक तप है;...** चैतन्य भगवान के तेज में स्वयं प्रतपन होकर चैतन्य के आनन्द का जिसे उग्र स्वाद आता है। आहाहा! और वह कैसा स्वाद? यह दूधपाक का स्वाद कहलाये, मौसम्बी का कहलाये। वह तो भगवान! जड़ है। जड़ का स्वाद इसे नहीं आता। परन्तु उसकी ओर लक्ष्य रखकर 'यह ठीक है' ऐसा जो राग करे, उस राग का स्वाद इसे आता है। ऐसे अपवास में, तपस्या में, व्रत में वह राग कदाचित् मन्द करता हो तो भी वह तो क्लेश और दुःख है। आहाहा!

आनन्द के स्वरूप से प्रभु विराजमान परमात्मस्वरूप आत्मा है। आहाहा! कैसे जँचे? रंक को, पामर को प्रभुता की बात कैसे बैठे? आहाहा! यह चैतन्य के आनन्द का अनुभव हो, वही वास्तविक तप है। **उससे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।** उससे मोक्ष अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति होती है। निर्वाण अर्थात् मोक्ष; मोक्ष अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति। मोक्ष कोई दूसरी चीज़ नहीं है। अन्तर में शक्ति में जो आनन्द है, वह इसकी दशा में आनन्द का पूर्णपना प्राप्त होना, इसका नाम मोक्ष। दुःख से मुक्त होकर सुख की पूर्ण प्राप्ति का नाम मोक्ष। समझ में आया?

इसलिए प्रथम, भेदज्ञान द्वारा स्वात्मा का ही अवलम्बन करके,... प्रथम ही। यह दया दान, व्रत के, तप के विकल्प हैं, लगनी-वृत्ति उठती है वह तो, उससे भिन्न **भेदज्ञान द्वारा स्वात्मा का ही अवलम्बन करके,...** चिदानन्द प्रभु का अवलम्बन-आश्रय लेकर... आहाहा! **उसमें ही लीनता करना, यह एक ही निर्वाण प्राप्ति का उपाय है;...** यह सब करते हैं न बेचारे, नहीं (करते)? एक व्यक्ति कहता था (संवत्) १९९० के वर्ष में। ९० के वर्ष में चातुर्मास था न वहाँ सदर में? फिर यह बात वहाँ चलती थी और गाँव में महिलाओं ने वर्षीतप (किया) था। देखो! यह लाखोंपति की बहुएँ खड़े-खड़े अपवास करें और कहते हैं कि लंघन, उसे धर्म नहीं होगा! नवरंगभाई! आहाहा! क्या हो? भाई!

आत्मा... क्रिया ऐसी करूँ, ऐसी करूँ, ऐसी करूँ, वह सब विकल्प है। विकल्प अर्थात् राग की लगनी (वृत्ति) है। उस लगनी के पीछे प्रभु अकेला आनन्द से भरपूर

पदार्थ आत्मा है। भगवान को-परमात्मा को जो आनन्द प्रगट हुआ, वह कहाँ से प्रगट हुआ ? वह बाहर से आता है ? अरिहन्त परमात्मा सर्वज्ञ वीतराग केवली परमेश्वर, उन्हें जो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द प्राप्त हुआ, उन्हें परमात्मा अरिहन्त कहते हैं। अरि अर्थात् राग और द्वेष और अज्ञान, ऐसे जो शत्रु, उन्हें जिन्होंने नाश करके वीतराग परमानन्ददशा प्रगट की है, वे पूर्ण सुखी और आनन्द में हैं। ऐसी दशा अन्दर पड़ी है अन्दर में। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! ऐसी बातें!

छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपरा रस पड़ा है। छोटी पीपर कहते हैं न ? छोटी पीपर में चौंसठ (पहरी) रस, चौंसठ पहर कहते हैं न ? चौसठ पहर घूँटे तो चौसठ पहरी चरपराहट बाहर आती है। कहाँ से आती है ? पत्थर में से आयी ? उसमें पड़ी थी। आहाहा! यह इतनी पीपर कद में छोटी, रंग में काली परन्तु चौंसठ पहर अर्थात् रुपया-रुपया चरपरा रस अन्दर पड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु : रुपये का...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अन्दर है, वह आता है। घोंटने से आवे तो पत्थर में से आना चाहिए। लकड़ी को घोंटे न चौंसठ पहर ? प्राप्त की प्राप्ति है। आहाहा! जिसमें है, उसमें से आता है। घूँटने का तो निमित्त है। कंकड़ को घूंटे न चौसठ पहर। उसमें कहाँ थी ? आहाहा! चरपरा रस और हरा रंग, वह पीपर के दाने में प्रत्येक में पूरा पड़ा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में—प्रत्येक आत्मा में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है। कैसे विश्वास आवे ? कभी जाना नहीं, सुना नहीं, विचार किया नहीं। आहाहा! अरे! ऐसे के ऐसे जिन्दगी व्यर्थ चली गयी जगत की।

कहते हैं, **प्रथम, भेदज्ञान द्वारा स्वात्मा का ही अवलम्बन करके, उसमें ही लीनता करना, यह एक ही निर्वाण प्राप्ति का उपाय है;...** मोक्ष का उपाय यह है। **अन्य सभी उपाय, मिथ्या हैं,...** आहाहा! **दुःखदायक है...** दूसरे सब उपाय झूठे, दुःखदायक है। क्योंकि वहाँ ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसमें से वृत्ति का उत्थान जो होता है, वह राग है। आहाहा! **और संसार का कारण हैं।** यह सब व्रत, तप के भाव, वे संसार का कारण, भटकने का कारण है। कठिन बात।

श्लोक - ३४

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह -

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताह्लाद-निर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥ ३४॥

आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृतः सुखीभूतः सन् तपसा द्वादशविधेन कृत्वा। दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि न खिद्यते न खेदं गच्छति॥३४॥

परम तप करनेवालों को महादुःख की उत्पत्ति होने से तथा मन में खेद होने से निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है? — ऐसी शङ्का करनेवाले के प्रति कहते हैं —

भेदज्ञान बल है जहाँ, प्रगट आत्म आह्लाद।
हो तप दुष्कर घोर पर, होता नहीं विषाद॥ ३४॥

अन्वयार्थ - (आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः) आत्मा और शरीर के भेद -विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह (तपसा) तप के द्वारा-द्वादश प्रकार के तप द्वारा उदय में लाए हुए (घोरं दुष्कृतं) भयानक दुष्कर्मों के फल को (भुञ्जानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेद को प्राप्त नहीं होता है।

टीका - आत्मा और देह — इन दोनों के अन्तरज्ञान-भेदज्ञान से जो आह्लाद अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) उत्पन्न होती है, उससे आनन्दित अर्थात् सुखी होकर, बारह प्रकार के तपों द्वारा घोर दुष्कर्म को भोगता होने पर भी अर्थात् भयानक दुष्कर्म के विपाक को (फल को) अनुभवता होने पर भी, वह खिन्न नहीं होता-खेद को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ - जिसको आत्मा और शरीर का भेदज्ञान वर्तता है, वह चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलता होने से, उसको सहज उपवासादि बारह प्रकार के तप होते हैं। उनसे उसके मन में खेद नहीं होता और तपश्चरण के काल में घोर

दुष्कर्म के फलस्वरूप बाह्य रोगादि अथवा उपसर्गादि के कारण उपस्थित होने पर भी, उसके आनन्द में बाधा नहीं आती, अर्थात् वह खेद-खिन्न नहीं होता।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे — सुवर्ण, अग्नि से तप्त होने पर भी, अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता; इसी तरह ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्त होने पर भी, अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता।

(श्री समयसार, गाथा-१८४)

साधक की निचलीदशा में सम्यग्दृष्टि को रोग, उपसर्गादि आ पड़ें, तो अस्थिरता के कारण उसको थोड़ी आकुलता होती है और वह उनके प्रतिकार की इच्छा भी करता है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में शरीर के प्रति ममत्वभाव का अभाव होकर (होने से), उसको उनका स्वामित्व नहीं होता; वह तो मात्र उनका ज्ञाता-दृष्टा रहता है; इसलिए स्वभावदृष्टि के बल से, वह जैसे-जैसे आत्मस्वरूप में स्थिरता पाता है; वैसे-वैसे उसके वीतरागता बढ़ती जाती है और राग-द्वेषादि का अभाव होता जाता है; अतः जितने अंश में वीतरागता प्रगट होती है, उतने अंश में आकुलता का अभाव होता है — ऐसा समझना।

स्वरूप में ठहरना और चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपन होना अर्थात् आत्मा की शुद्धपर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन, वह तप है। —ऐसी समझ और स्वरूपाचरण के कारण ज्ञानी, उदय में आये हुए प्रतिकूल संयोगों से खेद-खिन्न नहीं होता।*

मुनि, मन-वचन-काय की निश्चल गुप्ति द्वारा आत्मध्यान में इतने लीन हो जाते हैं कि उनकी स्थिरमुद्रा देखकर, पशु उनके शरीर को पत्थर समझकर, खुजली खुजाते हैं तथापि वे अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। *(छहढाला, ६/५)*

इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ज्ञानियों को तपश्चर्यादि का कष्ट नहीं लगता ॥३४॥

---

* सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निज चारित्र, इस तप से होता है।'

-श्री नियमसार, गाथा ५१-५५ की टीका।

श्लोक - ३४ पर प्रवचन

अब ऐसा कहते हैं कि धर्मात्मा को—आत्मा के आनन्द में जिसे भान है कि मैं आनन्द हूँ, ऐसे को भी उपवासादि की क्रिया तो होती है, तो उन्हें खेद होता होगा या नहीं ? कितना सहन करे। पाँच-पाँच, दो-दो महीने तक आहार न ले, संथारा करे—समाधिमरण। उन्हें **दुःख की उत्पत्ति होने से तथा मन में खेद होने से...** मन में उसे खेद होता होगा ? ऐसा कहते हैं। **निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ?** ऐसी क्रिया में उन्हें खेद हो तो मोक्ष कैसे होगा ? **ऐसी शङ्का करनेवाले के प्रति कहते हैं —** ऐसी जिसे शंका होती है, उसे जवाब देते हैं।

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताह्लाद-निर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥ ३४॥

आहाहा! **आत्मा और देह...** यह (शरीर) तो मिट्टी-जड़ है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी भिन्न है। **इन दोनों के अन्तरज्ञान**- भाषा देखो! पाठ में है न ? अन्तरज्ञान। दो के अन्तर का ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान। आहाहा! देह, देहरूप से है; राग, रागरूप से है; भगवान आनन्दरूप से है। कौन सा भगवान ? अन्दर पड़ा है वह। भगवान हो गये, वे तो उनके पास हो गये। आहाहा! **आत्मा और देह—इन दोनों के अन्तरज्ञान-भेदज्ञान से जो आह्लाद अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) उत्पन्न होती है,...** आहाहा! कहते हैं कि देह और राग से भगवान भिन्न है, ऐसा भान होने पर अन्दर शान्ति आती है। आहाहा! आत्मा में आनन्द की प्रसन्नता आती है। कठिन, भाई! यह किस प्रकार की बात! समझ में आया ?

भेद(ज्ञान) नहीं था, तब दुःख था। राग और देह मैं हूँ, ऐसी मान्यता में दुःखी था। यह देह और राग से भिन्न मेरा चैतन्यतत्त्व है, उसके भान में ज्ञानी को प्रसन्नता-आनन्द आता है। समझ में आया ? आठ वर्ष की बालिका हो शरीर से, परन्तु यदि भेदज्ञान करे तो उसे आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! राग और कषाय का भाव दुःखरूप है। उससे जिसने आत्मा का स्वरूप भिन्न है, (ऐसा जाना है)। दोनों में अन्तर है, ऐसा कहा है न अन्दर ? अन्तर है। आहाहा! दोनों में अन्तर है—दोनों की पृथक्ता है। आहाहा! ऐसे

भिन्नपने के भान में परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। भेदज्ञान में सम्यग्दर्शन में। आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन (कहते हैं)। यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र को माने तो समकित, (ऐसा मानते हैं और) अब करो व्रत और तप।

(संवत्) १९८० में हमारे... चलता था। ८०, कितने वर्ष हुए? ५०। उसमें मोक्षमार्ग का अध्ययन चलता था और लोग सुनते थे। बोटाद में हजारों लोग। ५० वर्ष पहले। बोटाद (में)। तब बाद में फिर मूलचन्दजी ने लगाया। देखो भाई! अपने को तो श्रद्धा भगवान की मिली, गणधर जैसी मिली है अपने को। अब वहाँ सुनकर तुम आड़ा-टेड़ा करना नहीं। ऐसा। उस समय वहाँ ऐसा कहलाता था कि भाई! सम्प्रदाय की दृष्टि को मानना, वह कोई वस्तु नहीं। अणभिगे गाथा थी, संक्षेपवृत्ति की गाथा है न? संक्षेपवृत्ति की गाथा है।

जिसे सम्यग्दर्शन हो, उसे विपरीत अभिनिवेश टल जाता है। विपरीत अभिनिवेश का अंश रहे और समकित हो, (ऐसा नहीं होता) भले संक्षेपरुचि हो। समझ में आया? आहाहा! ५० वर्ष की बात है। (संवत्) १९८०। हजारों लोग। सम्प्रदाय में तो हमारी प्रतिष्ठा थी न! हाथ में लेकर बैठें तो हजारों लोग सभा में इकट्ठे हों। भागे मूलचन्दजी, सुना न, फिर भागे लेकर, लोटा लेकर बाहर चले गये कि यह तू पढ़ तो मुझे तो ऐसा हुआ कि विवाद होगा। मैं चला गया तो अच्छा हुआ। आहाहा! ऐसा होता है? अपने जो मानते हैं सच्ची बात, वह बराबर समकित है। बापू! अलग बात है। अरे रे! क्या करे?

यहाँ कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है,... अभी तो चौथा गुणस्थान। श्रावक, फिर मुनि तो कहीं रहे, वह तो दशा बापू कठिन भाई! आहाहा! यहाँ तो परम प्रसन्नता प्रशान्ति उत्पन्न होती है। अन्तिम में आता है न? श्रीमद् में नहीं आता अन्त में? अन्तिम लाईन क्या? प्रशान्त।

मुमुक्षु : सुखधाम अनन्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह अन्तिम कड़ी।

सुखधाम अनन्त सुसन्त चही
दिनरात रहे तद् ध्यान महीं

प्रशांति अनन्त सुधामय जो
प्रणमुं पद ते वरते जयते।

अन्तिम मांगलिक श्रीमद् में। पढ़ा है ? कभी पढ़ा (होगा)। थोड़ा-बहुत पढ़ा होगा ऊपर-ऊपर से। उसमें यह आता है। अन्तिम आता है। प्रशान्त अनन्त सुधामय शान्त... शान्त... शान्त... पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वे अशान्त हैं। उनसे भिन्न पड़कर भगवान आत्मा है, उसका जहाँ भान होता है तो प्रशान्त.. शान्त... शान्त... शान्त... आहाहा! वह शान्ति की प्रसन्नता है। बाहर में पैसा मिले, स्त्री अनुकूल हो, इज्जत हो, राजपाट (हो तो) प्रसन्न हो, वह राग का दुःख है। वह प्रसन्नता राग की है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

कहते हैं कि जिसने राग और शरीर से भगवान आत्मा को भिन्न किया, उसे अन्तर में शान्ति और प्रसन्नता आती है। आहाहा! समझ में आया ? यह क्या ? बापू! जहाँ दशा पलट जाती है। राग और पुण्य के भाव, वह तो आकुलता है। पूर्ण वस्तु प्राप्त न हो, वहाँ तक ज्ञानी को भी ऐसा राग आता है। भक्ति का, पूजा का भाव होता है, परन्तु वह भाव वह तो आकुलतावाले हैं। आहाहा! उनसे भिन्न पड़कर आत्माराम को—जिसने आत्मा के आराम को देखा... आहाहा! जिसने आत्मा में आराम लिया, वह आतमराम आनन्द की शान्ति की प्रसन्नता में आ जाता है। आहाहा! कठिन बात।

उससे आनन्दित अर्थात् सुखी होकर,... ठीक! शरीर से भिन्न भगवान आत्मा को पहिचानते हुए राग से भी भिन्न उसका भान करने पर प्रसन्नता की उत्पत्ति होती है; इसलिए वह आनन्दित और सुखी होता है। आहाहा! लोग कहते हैं न, यह व्रत पालना, तपस्यायें करना, (वह तो) दूध के दाँतों से लोहे के चने चबाने (जैसा है)। यह सब बातें मुफ्त की। वह तो दुःख है। समझ में आया ? **बारह प्रकार के तपों द्वारा...** तपस्या हो मुनि को। **घोर दुष्कर्म को भोगता होने पर भी...** असाता के उदय के कारण शरीर में निर्बलता हो जाये, पेट में खड्डा पड़े, आँख गहरी जाये। **भयानक दुष्कर्म के विपाक को (फल को) अनुभवता होने पर भी,...** ऐसी देह की क्रिया में प्रतिकूलता होने पर भी **वह खिन्न नहीं होता-खेद को प्राप्त नहीं होता** धर्मात्मा। आहाहा!

अज्ञानी जो आत्मा के भान बिना जो तप करता है, उसे अकेला दुःख होता है, क्लेश

(होता है)। आहाहा! और आनन्द के भानवाला राग से भिन्न पड़ा हुआ प्रभु, उसे कोई ऐसी तपस्यायें हों तो उससे भिन्न पड़े हुए की प्रसन्नता, उसमें तो आती है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? शुद्ध उपयोग बढ़ाने के लिये। आता है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में। ज्ञानी शुद्ध उपयोग बढ़ाने के लिये उपवास, तप करता है। उपवास के हेतु से उपवास नहीं। आता है न भाई उसमें? शुद्ध उपयोग। इस ओर आता है। शुद्ध उपयोग। जो शुद्ध उपयोग का भान हुआ, उसे अधिक शुद्ध उपयोग करने के लिये वह निवृत्ति लेता है। राग छोड़कर अपवास आदि (करे), परन्तु इस चीज़ के लिये। आहाहा!

अरे! ऐसा अवसर मिला, मनुष्यदेह का अवसर (मिला)... हमारे वनेचन्द सेठ गाते थे। वनेचन्द सेठ नहीं थे? गाते हमारे। 'मनुष्यदेहना टाणा रे वालीडा मारा नहि रे मळे।' पहिचानते थे तुम? चिमनभाई! नहीं पहिचानते होंगे। गुजर गये। (संवत्) २००३ के वर्ष में। २८ वर्ष हुए। हिम्मतभाई को खबर है, तुम्हारे पिता को। उन्हें तो खबर है न तुम्हारे पिता को पहिचानते हैं। वहाँ आते थे न? यह तो वे गाते थे। 'मनुष्यभवना टाणा रे वालीडा मारा नहि रे मळे।' यह कुछ गाते थे। ऊँट के भव में, ऊँट होता है न ऊँट? उसके कंथारी के मारे कोरडे खाये। लम्बी वनस्पति के वह बनाते हैं न? आहाहा! ऐसे भव किये भाई! वनेचन्द सेठ नगरसेठ विशाश्रीमाली। अपने स्थानकवासी में सेठ, गाँव के सेठ। राज्य में बहुत मान था। राजा आवे, वहाँ वे उतरते। कहलाता है न? धोळ... धोळ। सोने की वह डाली। क्या कहलाती है तुम्हारे वह? गिन्न-गिन्नी। सोने की गिन्नी लेकर। बाहर से दरबार आवे तब नगरसेठ सही न! धोळ कहलाये वह। सुना है? बात तो यह उसे... भाई! भला-चंगा आये और भला-चंगा रहे। हमारे गाँव के लोगों की प्रजा की ओर से मैं सेठ आरती उतारता हूँ, ऐसा। आहाहा! उसे गाते थे। चातुर्मास में आये थे न, वहाँ ८० में दो महीने रहे। चार महीने वहाँ। दो महीने गढडा ८१ में। ऊँट के भव में तूने-तूने खायी कंथेरी की मार। यह कोरडा बनाते हैं न वे? आहाहा! भाई! तुझे अवसर मिला, उसमें तू नहीं जाने तो फिर कब जानेगा? भाई! ऐसे तो अनन्त बार पैसे मिले, धूल मिली, राज्य मिला, सेठाई मिली, वह विष्टा का ढ़ेर मिला, वह सब।

अमृत का सागर भगवान अन्दर है, उसमें से उसे निकाला नहीं। आहाहा! वह

जिसने निकाला... आहाहा! उसे, कहते हैं, दो महीने तक आहार न मिले, जंगल में धूप में पड़ा रहना पड़े, परन्तु अन्तर में प्रसन्नता उसे प्रगट होती है। आहाहा! क्योंकि राग से भिन्न पड़कर अपने प्रभु को स्वयं अन्दर पहिचाना है। उस पहिचान में स्थिर होता है। आहाहा! समझ में आया? वह **खेदखिन्न नहीं होता।** खेद नहीं पाता।

भावार्थ - जिसको आत्मा और शरीर का भेदज्ञान वर्तता है,... ठीक स्पष्टीकरण किया है। भगवान आत्मा अस्ति... अस्ति... तत्त्व है। आहाहा! नरसिंह मेहता भी कह गये हैं न? नहीं? 'जहाँ लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' यह तेरे तप और पूजा, भक्ति सब थोथे हैं। आहाहा! आत्मा तत्त्व है, वह कहना है यहाँ हमारे। वस्तु है। अस्ति-सत्ता वस्तु है। आहाहा! उस तत्त्व का शरीर से भेदज्ञान जहाँ होता है, **वह चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलता होने से,...** आहाहा! झूले में जैसे ऐसे झूले, वैसे राग से भिन्न पड़ा हुआ आत्मा अन्दर आनन्द में झूलता है। समझ में आया? आहाहा!

आनन्द में झूलता होने से, उसको सहज उपवासादि बारह प्रकार के तप होते हैं। उनसे उसके मन में खेद नहीं होता... आहाहा! **और तपश्चरण के काल में घोर दुष्कर्म के फलस्वरूप बाह्य रोगादि...** ऐसे रोग आवे शरीर में, हो जड़ में, उपसर्गादि आवे देव और पशु भी जहाँ सर्प काटे, बिच्छू काटे, जंगल में मुनि स्थित हों। आहाहा! मुनि तो जंगल में रहते थे। सच्चे सन्त तो जंगल में होते हैं। आहाहा! जंगलवासी। यह उन अट्ठाईस मूलगुण में भूमिशयन आता है, नहीं? आता है, नहीं? भूमिशयन। अट्ठाईस मूलगुण, भूमिशयन। तो उसमें आया यह, पिछली रात में, यह आया।

मुमुक्षु : भू मांहि पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह। यह मूलगुण में आया। मुनि जिसे आत्मज्ञान आनन्द का नाथ प्रगट हुआ है। आहाहा! वह तो नग्न दिगम्बर मुनि होते हैं। वे वनवास में अन्तिम पहर और पहला पहर छोड़कर पिछले भाग में थोड़े काल करवट, एक करवट से थोड़ी निद्रा आवे। आहाहा! ऐसा उनको तो (होता है)।

मुझे तो दूसरा कहना है। अट्ठाईस मूलगुण को मूलगुण कर डाला है। नहीं?

भूमिशयन। तो भूमिशयन इस प्रकार शयन, ऐसा। इससे दूसरे प्रकार से चार-चार घण्टे सोये और छह-छह घण्टे सोये और मुनिपना हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं (होता)। समझ में आया? आहाहा! जिसके अभी मूलगुण का ठिकाना नहीं होता, उसे साधुपना अन्दर हो। तीन काल में नहीं होता, भाई! मार्ग अलग है, प्रभु! यह तो वह भूमिशयन का आया था न? उस भूमिशयन को मूलगुण में डाला। फिर इस प्रकार जिसका भूमिशयन नहीं, उसे तो मूलगुण भी नहीं है। आहाहा!

प्रवचनसार में है न? नहीं वहाँ? प्रवचनसार। कितने में है वह? २३२ के बाद। पहली, ठीक। आहाहा! शुरुआत में। यह '**जधजादरुवजादं-**'

यथाजात स्वरूप हो, कर केश-लुंचन शुद्ध है।
शृंगार अरु हिंसारहित जो, वह श्रमण का लिङ्ग है॥२०५॥

आरम्भ मूर्च्छाशून्य हो, उपयोग-योग विशुद्ध हो।
निरपेक्ष पर से-जिनकथित, मुक्ति का कारण लिंग वो॥२०६॥

इतना आया। इसके बाद। ७ में नहीं। ८ में, ८ में (२०८ में)।

व्रत समिति इन्द्रियरोध आवश्यक, लोच भूमि-शयन हो।
अचेल भोजन एक स्थित, नहीं दन्तधौवन अस्नान हो॥२०८॥

सच्चे सन्त हों, वे जंगल में होते हैं। आहाहा! जो भगवान परमात्मा (जिसे) स्वीकार करे, वे नग्नमुनि तो जंगल में बसते हैं, आनन्द की लहर में स्थित होते हैं। कहते हैं, उन्हें भूमिशयन होता है। वह एक थोड़ी देर। आहाहा!

मुमुक्षु : भूशयन।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँव में वे नहीं होते। गाँव में तो एक आहारादि लेने आते हैं। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, वीतराग का मार्ग लोगों ने नोंच डाला है। लोगों को बेचारों को कमाने के कारण निवृत्ति नहीं होती और उसमें यह करे... आहाहा!

भूशयन। देखा! कर्म के उदय से तप अपने ज्ञानीपने को छोड़ता नहीं। आहाहा! जंगल में मुनि को क्षयरोग हो, बुखार आवे। १०६-६ डिग्री, ८-८। परन्तु अन्दर आनन्द के भान में आनन्द में मस्त हैं। उन्हें बाहर की प्रतिकूलता से खेद नहीं होता। आहाहा!

साधक की निचलीदशा में सम्यग्दृष्टि को रोग, उपसर्ग... उपसर्ग देव, तिर्यंच आदि से पड़ते हैं **तो अस्थिरता के कारण उसको थोड़ी आकुलता होती है और वह उनके प्रतिकार की इच्छा भी करता है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में शरीर के प्रति ममत्वभाव का अभाव होकर (होने से), उसको उनका स्वामित्व नहीं होता;...** आहाहा! वह तो मात्र उसके ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं। अस्थिरता के कारण जरा विकल्प आवे कि यह राग किसके? क्योंकि अस्थिरता का वह स्वामी नहीं है। आनन्द का नाथ जिसे हाथ आया, ऐसे राग का स्वामी हो कौन? आहाहा! ऐसी जाति कहाँ से? कोई कहे कि यह सोनगढ़ में नया निकाला। ऐई! चिमनभाई! अरे... भगवान! बापू! तूने सुना नहीं।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, इसका स्वरूप उन्होंने क्या कहा, बापू! सुना नहीं। आहाहा! अनादि का वीतराग का यह मार्ग है। समझ में आया? आहाहा! **स्वभावदृष्टि के बल से, वह जैसे-जैसे आत्मस्वरूप में स्थिरता पाता है;...** धर्मी को स्वभाव की खान प्रगट हुई है। सम्यग्दर्शन में आनन्द की खान नजर में निधान आये हैं। आहाहा! ऐसे आनन्द के धाम में रहते हुए प्रतिकूलता में उसे दुःख नहीं होता। आहाहा! **वैसे-वैसे उसके वीतरागता बढ़ती जाती है...** क्योंकि स्वयं परमात्मस्वरूप आनन्दमूर्ति है, ऐसा जहाँ समकिती को अन्तर में भान हुआ, समकिती को गृहस्थाश्रम में होने पर भी... आहाहा! समझ में आया? उसे अन्तर में स्थिरता का अंश बढ़ता जाता है। इसलिए आंशिक राग-द्वेष आदि का अभाव होता जाता है। **जितने अंश में वीतरागता प्रगट होती है, उतने अंश में आकुलता का अभाव होता है...** ऐसा समझना। आहाहा! **स्वरूप में ठहरना और चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपन होना अर्थात् आत्मा की शुद्धपर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन,...** यह तप। नीचे है—

सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है;... परमात्मा अर्थात् स्वयं, हों! परमस्वरूप। नित्यानन्द ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा... आहाहा! **सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभाव...** आत्मा का उसके **परमात्मा में प्रतपन,...** उसमें लीनता का नाम तप कहा जाता है। समझ में आया? **निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र,...** वह इस तप से होती है, ऐसा कहते हैं। चारित्र जो भी निजस्वरूप

में अविचल स्थिति आनन्द में रहना, ऐसा सहज निश्चयचारित्र ऐसे तप से होता है। नियमसार में (आया है)। स्वरूप में स्थिर होना, चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपन, आत्मा की शुद्धपर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन, अन्तर आनन्द में उग्र पुरुषार्थ का होना, उसका नाम भगवान तप कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात। ऐसी तो हमने कभी सुनी नहीं थी। अपवास करे, वर्षीतप करे। ऐई.. वजुभाई! वहाँ क्या यह सब वर्षीतप करे महिलायें बेचारी। दो हजार, पाँच हजार खर्च करे, वर्षीतप के पारणे में। अन्त में ढोंग करे। बारह महीने पूरे होते हैं न, अन्त में सिर पर सौंठ चोपड़े, (इसलिए लोग) पूछने आवे। पोपटभाई! आहाहा! कुछ ठिकाना नहीं होता। बापू!

आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका जहाँ भान नहीं, उसकी जिसे अन्तर में पहिचान और प्राप्ति हुई नहीं वस्तु की, वे जीव सब क्लेश के भोगनेवाले हैं, कहते हैं। आहाहा! ऐसी समझण और स्वरूपाचरण के कारण से। स्वरूपाचरण। राग का आचरण है, उससे भिन्न स्वरूप का भान होने पर स्वरूप का आचरण—शुद्ध चैतन्यघन का आचरण (प्रगट होता है)। आहाहा! ज्ञानी उदय में आये हुए प्रतिकूल संयोगों से खेदखिन्न नहीं होता। भले कर्म के उदय से कोई रोग आवे, सिंह आवे, सर्प काटे, बिच्छू काटे जंगल में, (परन्तु) खेद नहीं करता। और जरा खेद हो तो वह उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! गजब भाई ऐसा। विशेष पेरेग्राफ है....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण १०, बुधवार, दिनांक २२-१-१९७५, श्लोक-३४-३५, प्रवचन-४३

३४ गाथा। विशेष का अन्तिम पेरेग्राफ है। मुनि की प्रधानता से कथन है। अन्तिम पेरेग्राफ है। **मुनि, मन-वचन-काय की निश्चल गुप्ति द्वारा आत्मध्यान में इतने लीन हो जाते हैं...** मुनि। सम्यग्दर्शन में भी आत्मा धर्म की शुरुआत करनेवाले, वह भी प्रथम मन-वचन-काया के विकल्प छोड़कर शुद्ध चैतन्यघन आनन्दस्वरूप में मग्न होते हैं, तब उन्हें शान्ति प्रगट होती है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया? धर्म की प्रथम शुरुआत। अर्थात् कि सुख की, आनन्द की दशा की प्रथम अवस्था, उसमें भी आत्मा प्रथम ध्याता, ध्यान और ध्येय, ऐसे भेद भूल जाता है। सूक्ष्म बात है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। मैं एक जाननेवाला हूँ, मैं मुझे ज्ञात होता हूँ, मैं ज्ञान द्वारा जानता हूँ। आहाहा! ऐसा भी भेद विकल्प, वह राग की वृत्ति है। स्वरूप का ध्यान करने से वह वृत्ति छूट जाती है, तब वह सुख के पन्थ में पड़ा कहने में आता है। धीरुभाई! इसके बिना सब दुःख के पन्थ में पड़े हैं। आहाहा!

धर्म की प्रथम शुरुआत होने पर... धर्म अर्थात् आनन्द की दशा। आहाहा! वह मन, वचन और काया की ओर के झुकाववाली वृत्तियाँ, विकल्प राग, प्रथम स्वरूप के सन्मुख होने पर उसमें दृष्टि जमने से वे विकल्प भिन्न पड़ जाते हैं। सेठ! सूक्ष्म बात है। आहाहा! उसे प्रथम सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रथम सम्यग्दर्शन। समझ में आया? आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे लक्ष्य में, ध्यान में, ध्येयरूप से लेकर आत्मा का आनन्दस्वभाव जो नित्य है, उसमें जब लीन होता है, तब उसे पुण्य और पाप के विकल्प की एकताबुद्धि का वहाँ नाश होता है। आहाहा!

छहढाला में आता है न भाई? ध्याता, ध्यान और ध्येय भेद जहाँ नहीं। छहढाला भाई को कण्ठस्थ है न? आहाहा! कहाँ पड़ी है दुनिया को। दुःख के पर्वत में डोलती है। आहाहा! राग और द्वेष, पुण्य और पाप, संकल्प-विकल्प की वृत्ति में रुका हुआ वह दुःखी है। आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है। परम पदार्थ सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा और अनुभव करके स्थिर हुए, उनकी वाणी में यह आया। धर्म की प्रथम शुरुआत करनेवाले का आत्मा अन्दर में लीन होता है, कहते हैं। आहाहा! यह लीनता विशेष, सम्यग्दृष्टि को विशेष लीनता नहीं हो सकती। आहाहा! बात बहुत कठिन है, भाई! अभी लोग बाहर से मानकर

बैठे हैं। आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का—स्वभाव का पिण्ड सागर है। ऐसा परमात्मस्वरूप, परम आत्मा अर्थात् परमस्वरूप स्वयं है। आहाहा! उसकी सन्मुखता होने से परसन्मुखता से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के विकल्प वहाँ नहीं रहते। आहाहा! अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी की यह बात है। लोगों को कहाँ पड़ी है? कमाना, खाना, पीना, विकल्प करना और दुःखी होकर मरना और फिर जाये ढोर में। समझ में आया?

जिसे आत्मा एक समय में—क्षण में पूर्ण अनन्तगुण सम्पन्न वह चीज़ है। वह निर्विकल्प चीज़ है। वीतरागमूर्ति उसका स्वरूप है। आनन्द का वह कन्द है, ज्ञान का वह सरोवर है, शान्ति का वह सागर है। आहाहा! ऐसी चीज़ के अन्दर में स्वरूप का बहुमान होकर अन्तर में एकाग्र होता है, तब तो उसके अभी पहले सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। समझ में आया? यह मार्ग ऐसा है। यहाँ फिर मुनि की बात ली है। मुनि जो सच्चे सन्त हैं, वे तो दिगम्बर होते हैं, बाह्य में नग्न होते हैं। वे जंगल में बसते हैं। मुनि हों, वे जंगल में होते हैं। वे मुनि... है न? पहला शब्द है। धीरुभाई! है? अन्तिम पेरेग्राफ। मुनि-मुनि। **मुनि....**

मुमुक्षु : मन-वचन-काया की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

मन-वचन-काय की निश्चल गुप्ति द्वारा... आहाहा! कहते हैं कि मुनि तो ऐसे होते हैं वीतरागमार्ग में कि जो जंगल में होते हैं और अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द में वे झूलते हैं। समझ में आया? उन्हें मन-वचन-काया की निश्चल गुप्ति। मन से हट गये हैं, वचन से हट गये हैं, देह से हट गये हैं। स्वरूप में अन्दर मग्न, आनन्द में मग्न हैं। आहाहा! इन तीन की गुप्ति द्वारा। गुप्ति अर्थात्? मन, वचन और काया की ओर का जो झुकाव, शुभ और अशुभ विकल्प और राग से गुप्त हो गया, अर्थात् वहाँ से हट गया है। आहाहा!

वे **गुप्ति द्वारा आत्मध्यान में...** भगवान सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दघन अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु है। आहाहा! उसमें मुनि अन्दर डुबकी मारते हैं। आहाहा! दुनिया से अत्यन्त विरुद्ध बात। आहाहा! ऐ पोपटभाई! जैसे लड़के बैठे हों, पैसे की बातें होती हों और दो-पाँच लाख पैदा हुए हों, (तब) बातें करे। वह राग में अन्दर में डूब जाता है। राग में डूब जाता है। आहाहा! अरे! दया, दान और व्रत, तप का विकल्प-राग हो, उसमें

भी जो लीन हो जाते हैं, (वह) राग में डूब गये हैं। आहाहा! वह अधर्म में डूबे हैं।

धर्मात्मा शुरुआत की दशा में भी वस्तु का ध्यान करके ध्येय को पकड़ने से वह निर्विकल्पदशा हो जाती है। राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता '**एयत्तविहत्तं**' स्वभाव से एकत्व है और राग के विकल्प से विभक्त है, पृथक् है। आहाहा! आता है यह? (पाँचवीं) गाथा, समयसार। '**एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' '**एयत्तविहत्तं**' आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य महाराज मुनि थे। अतीन्द्रिय आनन्द में, जैसे झूले में झूलते हैं, (वैसे) अतीन्द्रिय आनन्द में झूले में झूलते थे। सेठ! यह झूलते-झूलते कहते हैं कि मैं तुम्हें आत्मा की बात करूँगा। मैं मेरे निज वैभव से कहूँगा। उनके पास होंगे पैसे-बैसे?

मेरा निजवैभव, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान जो प्रगट हुआ, वह मेरा निजवैभव है। यह धूल का ढ़ेर पाँच-पचास लाख के गहने और स्त्री-पुत्र और यह सब वैभव वह श्मशान के मुर्दे का वैभव है। सेठ! आहाहा! पैसा तो धूल उड़ाता है। धूल है न पैसा? मिट्टी है। यह (शरीर) भी मिट्टी नहीं? किसी को (चोट) लगे तो फिर कहे कि पानी छुआना नहीं भाई! मेरी मिट्टी पकाऊ है, ऐसा नहीं कहते? धीरुभाई! कहते हैं या नहीं? कील लग गयी हो। (तो ऐसा कहे), पानी छुआना नहीं। मेरी मिट्टी पकाऊ है। झट सही नहीं होगी। यह मिट्टी है या क्या है यह? बोलते तो हैं। सेठ! नहीं बोलते? बहुत लग जाये न कुछ। ठेस लगे, लोहा लग जाये। भाई! पानी छुआना नहीं। मेरी मिट्टी पकाऊ है। पक जायेगी। मिट्टी पकाऊ, ऐसा बोले परन्तु श्रद्धा में ठिकाना नहीं होता। मानता नहीं, भाई! यह तो लोक की भाषा से बोल जाते हैं। मिट्टी ही है यह, मिट्टी, जड़, धूल पकती है। वेदना होती है न। रक्त का पीव हो तब वेदना हो। अन्दर रक्त है, उसका पीव हो, तो लोग कुछ कहते हैं, डॉक्टर-बॉक्टर कहते हैं, अपने को कुछ खबर नहीं। सौ खून की बूँद और एक पीव की बूँद। पीव। वेदना हो।

नहीं होता? क्या कहलाता है? सात पडो। यह पके। हथेली नहीं पकती? सात पड पके। सात पड कहते हैं न? बहुत गहरा। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... आहाहा! एक बार देखा था। विठ्ठल गुआल वहाँ थे, गोधरा में। उनके पुत्र नहीं? हरगोविन्द। यहाँ वह उपाश्रय बनाया था। उसे हुआ था सात पडो। बहुत वर्ष की बात है, हों! ५०-६० वर्ष की बात।

वेदना हो, सहन न हो। सात पड कहलाते हैं ? दर्द (हो), पक जाये। एक अंगुली पकती है तो हो जाता है। वह तो जड़ की दशा है। उसमें पाक आता है, तब इसे दाह होती है। क्योंकि इसकी दृष्टि वहाँ है न ? आहाहा! वहाँ-पर में लीन हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द है। उसमें जो आत्मा अन्तर्दृष्टि रखकर विकल्प की-राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता करता है, उसे आनन्द का अनुभव आता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अभी श्रावक होने से पहले, हों! श्रावक तो ऊँची दशा है। यह वाड़ा के श्रावक, वे श्रावक नहीं। थोथा नाम के। बातें ऐसी हैं, धीरुभाई! आहा! भाई! इस सम्यग्दर्शन में भी जहाँ आनन्द का अनुभव आवे तो आगे पंचम गुणस्थान जो श्रावकदशा है, वह तो कोई अलौकिक दशा है। उसे तो सर्वार्थसिद्धि के देव जो एकावतारी हैं, एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं, उनकी अपेक्षा भी श्रावकपना जिसे पंचम गुणस्थान की दशा होती है, उसे आनन्द आता है, उसकी अपेक्षा इसे आनन्द अधिक (होता है)। आहाहा!

गुणस्थान के जो भाग है न ? चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ, वे सब आनन्द के अंश के बढ़ने के (वृद्धि के) वे भाग हैं। चौथे गुणस्थान में आनन्द थोड़ा, पाँचवें में उससे विशेष, छठवें में विशेष, बारहवें में पूरा। अरे रे! इसकी खबर नहीं होती। यहाँ मुनि के छठवें गुणस्थान की बात चलती है। मुनि तो जंगल में बसनेवाले, उनके दर्शन वर्तमान भरत में दुर्लभ हो गये हैं। समझ में आया ? मुनि तो उन्हें परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव कहते हैं, जिनका **आत्मध्यान में इतने लीन हो जाते हैं कि उनकी स्थिर मुद्रा देखकर...** मेरुपर्वत की भाँति अन्दर में स्थिर हो गये हैं। आहाहा! **पशु उनके शरीर को पत्थर समझकर खुजली खुजाते हैं...** आता है न ? भाई! साधुपना तो बापू! बहुत अलौकिक बात है! वह तो परमेश्वर पद है। आहाहा! अरेरे! भगवान का विरह पड़ा, वैसे मुनिपने का भरतक्षेत्र में विरह पड़ गया है। लोग मानते हैं, वह मुनि नहीं। समझ में आया ? कहते हैं, कितने लीन हो जाये ? कि जिनकी स्थिरता, पत्थर पड़ा हो, ऐसा मानकर हिरण आकर खुजावे, खुजली (हो) शरीर को। आहाहा! **पत्थर समझकर खुजली खुजाते हैं, तथापि वे अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं।** आहाहा! समझ में आया ?

भरत चक्रवर्ती जिसके घर में छह खण्ड और छियानवें हजार स्त्रियाँ, वे भी जब

ध्यान में बैठते... आहाहा! (सब) राग और राग से हटकर... आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ, उसे दृष्टि में लेकर आनन्द के अनुभव में स्थित होते हैं, तब उन्हें बाह्य में क्या होता है, इसकी भी उन्हें खबर नहीं होती। समझ में आया? छह खण्ड का स्वामी परन्तु सम्यग्दृष्टि। छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक। वह मैं नहीं। वे हैं, वहाँ मैं नहीं। मैं हूँ, वहाँ राग नहीं और राग है, वहाँ मैं नहीं। आहाहा! ऐसी जो अन्तर्दृष्टि खिली है... आहाहा! उसका नाम धर्मी और सम्यग्दृष्टि। भले छह खण्ड का राज दिखाई दे। समझ में आया? परन्तु वेश्या के प्रेम जैसा प्रेम होता है उसे पर के साथ। वेश्या को पैसा दे, तब तक प्रेम करे, फिर कुछ नहीं होता। उसी प्रकार यह राग आवे, तब पर के ऊपर लक्ष्य जाता है। अन्तर में कुछ नहीं होता। यह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्म क्या होगा? ऐसा वीतराग का धर्म होगा? जैन परमेश्वर का ऐसा कहना होगा? अब अभी तक तुमने कहा—हम सुनते नहीं थे आत्मा का ध्यान होता है और आनन्द आता है। (हमने तो ऐसा ही सुना है कि) यह तो व्रत करो और अपवास करो।

मुमुक्षु : निर्जरा हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्जरा हो जाये।

इसने प्रश्न किया था न तब (संवत्) २००९ के वर्ष में। क्या कहलाता है सेठ? तुलाराम। वच्छराजजी और गजराजजी के बड़े भाई थे न? तुलाराम। अपने यह नव के (२००९) के वर्ष में हुआ न? मानस्तम्भ, उसके पहले आये थे। स्पेशल। पूरी स्पेशल आयी थी। स्टेशन पर स्पेशल रखी थी सब लोगों को...

मुमुक्षु : गंगवाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : गंगवाल। यह गजराज की पुत्री है न? उसके बड़े दादा। बहुत करोड़पति थे। यहाँ उसे एक व्यक्ति ने पूछा। वहाँ चर्चा चली होगी, इसलिए सेठ (कहे), पूछो महाराज को कि तपस्या किसे कहना? ऐसा आता है न? तपसा निर्जरा। तत्त्वार्थसूत्र में। तत्त्वार्थसूत्र में यह आता है। इसलिए कुछ बात हुई होगी कि यह उपवास करूँ और यह करूँ, वह सब तपस्या। एक जवान लड़का था। २००९ के वर्ष की बात है। महाराज को पूछो—तपस्या वह निर्जरा।

भाई! वह तपस्या निर्जरा। अपवास किये, वह तप नहीं। आहाहा! इसमें आया था न अपने? देखो न, स्वरूप में स्थिर होना। ऊपर पेरेग्राफ। इसके ऊपर पेरेग्राफ। **स्वरूप में स्थिर होना...** आनन्द में स्थिर होना, **चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपन...** निर्विकल्प अर्थात् राग बिना की वीतरागदशा की शोभा होना। **आत्मा की शुद्ध पर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन...** शुद्ध आनन्द में वीर्य का-पुरुषार्थ का उग्र प्रतपन, उसे तप कहते हैं। समझ में आया? यह है श्लोक, है न देखो! नियमसार का है। नीचे है देखो।

सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र, इस तप से होता है।' आहाहा! आनन्द का नाथ भगवान में स्थिरता से और ऐसी चारित्रदशा, वह ऐसे तप से होती है। आहाहा! समझ में आया? उसे पशु जिसके शरीर को **पत्थर समझकर खाज खुजाते हैं,...** आहाहा! **तथापि वे अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं।** मक्खी जैसा जन्तु, फिटकरी की डली स्थिर हो (उसे) छोड़ देता है, ऐसे स्थिर, वहाँ मिठास नहीं आती, (वहाँ से) उड़कर शक्कर की डली आधी बाहर हो, उसका स्वाद लेता है। और ऐसा स्वाद लेता है कि लड़के को यदि शक्कर की डली रखी हो रोटी में, वह लड़का थूकवाले हाथ से शक्कर लेने जाये तो उसके पंख चिपट गये हों शक्कर के साथ, परन्तु उसके स्वाद में वह मक्खी उड़ती नहीं है। यह दृष्टान्त तो बहुत बार दिया है। भाई ने दिया है, निहालभाई ने दिया है। आहाहा!

इसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप भगवान आत्मा का है, उसमें जो लीन हुआ हो, उसे वहाँ से निकलना सुहाता नहीं। मक्खी शक्कर के स्वाद में चिपटी हो और उसकी पंख दबे तो भी वह उड़ती नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन ऐसा धर्म किस प्रकार का! ऐसा यह वीतराग धर्म होगा? जिन का—परमेश्वर का ऐसा धर्म होगा? भाई! हमने तो अपवास करना, दया पालना, व्रत पालना, यात्रा निकालना दो-पाँच-दस लाख खर्च करके। (यह) सब बातें, बापू! वह तो राग की मन्दता के शुभभाव की बातें हैं, धर्म नहीं।

धर्म तो आत्मा के आनन्द में (रहा हुआ है)। आहाहा! क्योंकि धर्म वह वस्तु का स्वभाव है, सम्यक् प्रकार से... **स्थिर मुद्रा देखि, मृग-गण उपल खाज खुजावते...** उपल अर्थात् पत्थर। मृगगण। हिरण के झुण्ड उन्हें पत्थर देखकर (समझकर) शरीर को खुजाते

हैं। आहाहा! तथापि जो मुनि अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हैं, वे वहाँ से हटते नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन बातें, भाई! यह ३४ गाथा हुई।

इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ज्ञानियों को तपश्चर्यादि का कष्ट नहीं लगता। ऐसे धर्मात्मा को पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक आहार न मिले, महीने-महीने आहार न मिले तो भी अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हैं। उन्हें बाहर का खेद नहीं दिखता। **अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते...** अन्तर भगवान आत्मा अनाकुल शान्तरस का वह पिण्ड है। उसका जहाँ अन्तर में भान होकर अन्दर स्थिर हुआ... आहाहा! उसे महीने-महीने के अपवास (होते हैं)।

कहते हैं न कि भगवान महावीर ने छह-छह महीने के उपवास किये। यह उपवास किये उन्हें देखता है परन्तु अन्दर आनन्द था, उसे नहीं देखता। छह महीने तक अतीन्द्रिय आनन्द में रहते थे। आहाहा! भगवान ने भी साढ़े बारह वर्ष तक तपस्यायें की, अन्न को अन्न करके खाया नहीं, पानी को पानी करके पीया नहीं। सुख से सोये नहीं। ऐसा बोले। परन्तु तू कहता है ऐसा भूल भी नहीं। सुन न!

वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का धाम था स्वरूप का, उसमें लीन होते थे। लीन होने पर वह वृत्ति-इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती थी। उसे यहाँ आहार नहीं किया और तपस्या की, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! यह आहार नहीं मिला और आहार नहीं, इसलिए उन्हें खेद होता है, (ऐसा नहीं है)। आनन्द होता है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के पक्ष में चढ़ गया है। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द है, उसके पक्ष में धर्मी चढ़ा है, ऐसा कहते हैं। राग के पक्ष से हट गया है और अज्ञानी आनन्द के पक्ष से हट गया है। और राग के पक्ष में चढ़ गया है। आहाहा!

इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ज्ञानियों को तपश्चर्यादि का कष्ट नहीं लगता।

श्लोक - ३५

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह -

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः॥ ३५॥

रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा। यन्मनोजलं मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम्। स आत्मा। पश्यति। आत्मनस्तत्त्वमात्मनः स्वरूपम्। स तत्त्वम्। स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम्। नेतरो जनः रागादि परिणतः (अन्यः अनात्मदर्शी जनः) तत्त्वं न भवति॥३५॥

खेद पानेवालों को आत्मस्वरूप की प्राप्ति का अभाव दर्शाते हुए कहते हैं कि—

चञ्चल चित्त लहे न जब, राग रु द्वेष हिलोर।
आत्म-तत्त्व वह ही लखे, नहीं क्षुब्ध नर ओर॥ ३५॥

अन्वयार्थ - (यन्मनोजलम्) जिसका मनरूपी जल (राग-द्वेषादिकल्लौलैः) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरङ्गों से (अलोलं) चञ्चल नहीं होता, (सः) वही पुरुष, (आत्मनः तत्त्वम्) आत्मा के यथार्थस्वरूप को (पश्यति) देखता है-अनुभव करता है; (सः तत्त्वम्) उस आत्मतत्त्व को (इतरो जनः) दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलितचित्त मनुष्य (न पश्यति) नहीं देख सकता है।

टीका - राग-द्वेषादि, ये ही कल्लोल (तरङ्गें) हैं, उनसे अलोल-अचञ्चल-अकलुष जिसका मनरूपी जल है (मन, वही जल-वही मनोजल, जिसका मनोजल है), वह आत्मा, आत्मा के तत्त्व को अर्थात् परमात्मस्वरूप को देखता है (अनुभवता है), (उस तत्त्व को) वह अर्थात् आत्मदर्शी, तत्त्व को अर्थात् परमात्मस्वरूप को अनुभवता है; अन्य कोई जन अर्थात् रागादिपरिणत अन्य (अनात्मदर्शी) जन, तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता।

भावार्थ - जिसका मन, राग-द्वेषादि विकल्पों से आकुलित / चलित नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को — परमात्मस्वरूप को अनुभवता है; अन्य

कोई राग-द्वेषादि से आकुलित-अनात्मदर्शी जन, उसका अनुभव नहीं कर सकते।

जैसे—तरङ्गों से उछलते हुए पानी में अन्दर रही हुई वस्तु दिखलायी नहीं देती; इसी प्रकार राग-द्वेषादिरूप तरङ्गों से विकल्पों से चञ्चल बने हुए मनरूपी जल में अर्थात् ज्ञानजल में, आत्मतत्त्व दिखलायी नहीं देता। निर्विकल्पदशा में ही आत्मदर्शन होता है; सविकल्पदशा में आत्मानुभव नहीं होता।

विशेष स्पष्टीकरण -

वस्तुस्वरूप समझकर, अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर, राग-द्वेषादि विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं। उनको शान्त करने के लिए आत्मसन्मुखता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। उपयोग, अन्तर्मुख होने पर, राग-द्वेषादि का अभाव होता है; निर्विकल्पदशा प्रगट होती है और परमात्मतत्त्व का आनन्द अनुभव में आता है। उस समय बाहर की कैसी भी अनुकूलता या प्रतिकूलता हो, तो भी चित्त मलिन नहीं होता—ऐसा जीव, स्वरूप में लीन होकर अकथ्य आनन्द-शान्ति अनुभवता है परन्तु बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना से जिसका चित्त, राग-द्वेषादि कषायों से आकुलित होता है, उसको शुद्धात्मा का आनन्द नहीं आता अर्थात् उसको शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

श्लोक - ३५ पर प्रवचन

३५। **खेद पानेवालों को आत्मस्वरूप की प्राप्ति का अभाव दर्शाते हुए कहते हैं कि—** जिसे खेद लगता है, उसे आत्मदर्शन नहीं, वह समकिती-धर्मी नहीं है। आहाहा!

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः॥ ३५॥

३५, टीका। यह तो मक्खन की बातें हैं भाई यह। **राग-द्वेषादि, ये ही कल्लोल (तरङ्गें) हैं,...** मैं दया पालता हूँ और व्रत पालता हूँ और भक्ति करता हूँ, यह सब राग-द्वेष के तरंग-विकल्प हैं। आहाहा! यह **उनसे अलोल-अचञ्चल-अकलुष जिसका मनरूपी जल है...** आहाहा! यह शुभ-अशुभ विकल्प हैं, वे चंचल हैं, कलुष हैं। उनसे जो

अचंचल और अकलुष जिसका मनरूपी जल है। **(मन, वही जल-वही मनोजल, जिसका मनोजल है),...** अर्थात् जिसके आत्मा में पुण्य और पाप के विकल्प, कल्लोल उठते नहीं और आनन्द की लहर में जो अन्दर में पड़ा है, वह आत्मा के तत्त्व को परम आत्मस्वरूप को देखता है। समझ में आया?

गिरधरभाई है या नहीं? वे याद आ गये तुम्हारे पिता को। (संवत्) १९७७ के वर्ष में। नागरभाई और वह शिवलाल पानाचन्द नहीं? बड़ा कलेक्टर हुआ था। उसे साढ़े तीन हजार वेतन। जयपुर के दीवान शिवलाल पानाचन्द। जिस परीक्षा में, जॉर्ज के साथ (दी हुई) परीक्षा में पहले नम्बर से पास हुआ था। वह जॉर्ज था न? अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान को पहले नहीं देते थे, इसलिए पहला नम्बर जॉर्ज को दिया और दूसरा शिव को दिया। शिवलालभाई को दिया था। विशाश्रीमाली बनिया। तुम्हारे वढवाण। उसके भाई हैं यह। आहाहा! और वह तुम्हारे जाते हैं... क्या कहलाते हैं? भूल जाते हैं तुम्हारे। गढ-गढ। गढ होता है न? वढवाण में गढ नहीं? गढ से लगा हुआ उसका घर है। नाम भी भूल जाते हैं। तुम्हारे घर के बाजू में।

वह जब पहले पढ़कर आये शुरुआत में ७७ में। फिर तो साढ़े तीन हजार का मासिक वेतन तब हुआ था। तब सात सौ का वेतन। पहले-पहले चढ़े। और बोटाद में ७७ की बात है। व्याख्यान हुआ और आये। और गिरधरभाई के पिता को लेकर आये। यह गिरधरभाई है न! नागरभाई और दोनों आये। क्योंकि उनके मामा वहाँ रहते थे। ... मैंने कहा, शिवलालभाई! यह तुमने आत्मा का कुछ पढ़ा है? आत्मा का कुछ? सात सौ (रुपये) वेतन में तो कलेक्टर हुआ था, साढ़े तीन हजार महीने। यह सब दुनिया के होशियार। कहा, तुमने आत्मा के लिये पढ़ा है? बुद्धि बहुत। पूरे अलमारियों की अलमारियाँ पढ़े तो उतना याद रह जाये। पढ़ा है परन्तु आत्मा है या नहीं, यह अभी मैंने निर्णय नहीं किया। ऐई! अरे रे! क्या किया उसने? बड़ा कोट पहने हुए और चलता था। होशियार था। छोटी उम्र तब। बेचारा ४८ वर्ष में मर गया। ४८ वर्ष की उम्र। तब तो छोटी उम्र थी। कहा, आत्मा वस्तु है, उसका कुछ तुमने पढ़ा है? पढ़ा है, परन्तु है या नहीं, उसका अभी मैंने निर्णय नहीं किया। अरे रे! यह पढ़े बड़े। यह पढ़े थोथा। यह ७७ की बात है। कितने वर्ष हुए? ५४। अरे! क्या कहते हैं? यह तुम्हारे पठन पढ़-पढ़कर तुमने क्या किया? दिवाला निकाला, कहा यह तो। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बेचारे लोग सुनते थे। नागरभाई साथ में थे न! नागरभाई को हमारे प्रति बहुत प्रेम। सम्प्रदायरूप से प्रेम था न! अरे रे! इस देह में आत्मा है, वह कौन है, इसका निर्णय किया नहीं और यह तुम्हारे पठन सब। आहाहा!

पत्थर की शिला में शास्त्र लिखे, इससे पत्थर की शिला डुबने से रुकेगी? पानी में डाले तो डूब जाये। इसी प्रकार तेरे यह पठन और यह शास्त्र पठन कैसे हों? आत्मा इनसे भिन्न है, ऐसा भान नहीं, वे सब शास्त्र के पठन भी डूब जानेवाले हैं। लोक की चतुराई से तो डूबा हुआ है ही। आहाहा! समझ में आया? इस समयसार को पत्थर की शिला पर लिखा हुआ हो तो उसे पानी पर रखो तो शास्त्र है, इसलिए तिरेगा या नहीं? नहीं?

मुमुक्षु : दूसरे को तारे

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे को तारे। आहाहा! अभी तिरने के प्रसंग को स्वयं समझा नहीं, (वह) दूसरे को किसे तारने में निमित्त होगा? आहाहा! यह देखो, यह लिखे हुए हैं न? इस पत्थर को लेकर वहाँ पानी में रखे तो? नियमसार, समयसार है यह। इसी प्रकार मन में शास्त्र उत्कीर्ण किये परन्तु आत्मा रागरहित अन्दर अखण्डानन्द प्रभु है, उसे तैरना आया नहीं, वे सब डूबनेवाले हैं। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा के तत्त्व को अर्थात् परमात्मस्वरूप को देखता है... वह अर्थात् आत्मदर्शी, तत्त्व को अर्थात् परमात्मस्वरूप को अनुभवता है;... यह क्या कहते हैं? जिसने अन्तर में से विकल्प की कल्लोलों को छोड़ दिया है, वह आत्मतत्त्व को अनुभव करता है। दूसरा कोई आत्मतत्त्व को अनुभव करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! है? **अन्य कोई जन अर्थात् रागादिपरिणत अन्य (अनात्मदर्शी) जन, तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता।** अर्थात् क्या कहते हैं? जिसे अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के विकल्प उठते हैं, उसमें जो पड़ा है, उसे आत्मदर्शन नहीं होगा। आहाहा!

उस विकल्प को छोड़ता है, वहाँ से लक्ष्य को मोड़ता है, राग की वृत्तियों से लक्ष्य को मोड़ता है, वह आत्मदर्शी आत्मा को अनुभव करता है। परन्तु आत्मा को राग से मोड़ता नहीं और आत्मा का उसे अनुभव हो, ऐसा कभी नहीं होता। यह तो अकेली मक्खन की

बातें हैं। नवनीतभाई! नवनीतभाई मक्खन है या नहीं? नवनीत का अर्थ मक्खन होता है। नहीं? आहाहा!

कहते हैं, भगवान पूज्यपादस्वामी मुनि हैं, आचार्य हैं। जंगल में बसनेवाले सन्त हैं। वीतरागी के पास गये थे। सीमन्धर भगवान विराजते हैं, महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ गये थे। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, आठ दिन रहे थे। यह कितने रहे, इसकी किसी को खबर नहीं। वहाँ गये थे। इसका लेख है। परन्तु वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। परमेश्वर सीमन्धर प्रभु विराजते हैं। इस जमीन पर महाविदेह में, पाँच सौ धनुष का देह है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है। दो हजार वर्ष पहले भी भगवान विराजते थे, अभी भी विराजते हैं। वह के वे भगवान विराजते हैं। अभी अरबों वर्ष वहाँ अरिहन्त पद में विराजेंगे। फिर देह छूटकर सिद्धपद में णमो सिद्धाणं (में विराजेंगे)। अभी णमो अरिहन्ताणं में है। समझ में आया?

वहाँ गये थे। है न भाई पहले में कहीं? कहीं है अवश्य। गये हैं, ऐसा लेख है। दूसरा बोल। **विदेहक्षेत्रस्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हो गया था...** दो (अंक) है? जैसे कुन्दकुन्दाचार्य... आठवाँ पृष्ठ। है न? प्रस्तावना में। दो है। है? **विदेहक्षेत्रस्थित...** विदेहक्षेत्र में अभी भगवान विराजते हैं। **जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र...** अर्थात् शरीर **पवित्र हो गया था...** आहाहा! **जिनेन्द्रबुद्धि नाम से वर्णन किया है।** देखो ऊपर। **योगियों ने उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि...** पहला पेरेग्राफ में। बहुत शक्ति थी। जिनके पैर इन्द्र-देव पूजते। भगवान के निकट गये थे। महाविदेह में परमात्मा सीमन्धर प्रभु विहरमान भगवान विराजते हैं, वहाँ गये थे। (वहाँ से) आकर यह शास्त्र रचे हैं। कहते हैं... आहाहा! कहते हैं कि आत्मदर्शन और अनुभव किसे होता है? कि जो कुछ मन से, वचन से, काया से विकल्प जो राग उठता है, उसे छोड़े। आहाहा! मन का घड़ा जो फोड़े। संकल्प-विकल्प मन कहलाता है। आठवें पृष्ठ पर है। दूसरा बोल। वह परमात्मस्वरूप ऐसा आत्मा, उसे वह देखे अर्थात् अनुभव करे। बहुत महँगा भाई ऐसा तत्त्व है। भाई! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर जिन्हें सौ इन्द्र पूजते हैं, उनका कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। जगत को सुनने मिलता नहीं। जो मिलता है, वह दूसरा मिलता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अन्दर महाप्रभु चैतन्य विराजता है। अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल भरा हुआ भगवान आत्मा है। आहाहा! परन्तु उसे कौन अनुभव करे? अर्थात् उसे कौन

देखे ? अर्थात् उसके ध्यान में यह आत्मा कब आवे ? आहाहा ! कि पुण्य और पाप के विकल्पों को छोड़ दे तो। दृष्टि में से छोड़ दे। आहाहा ! समझ में आया ? यह **रागादिपरिणत अन्य (अनात्मदर्शी) जन, तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता।** आहाहा ! जिसे आत्मा गुणी और अनन्त आनन्द आदि गुण, ऐसे भेद का-राग का विकल्प उठा है और उस विकल्प में पड़ा है, वह आत्मा को देख नहीं सकता। आहाहा ! समझ में आया ? पहले इसे ख्याल में तो लेना पड़ेगा न कि मार्ग ऐसा है। ख्याल बिना चलेगा किस प्रकार ? आहाहा !

अरे रे ! जगत को कहाँ पड़ी है, उसे मेरा क्या होगा ? अरे ! मेरा क्या होगा ? और मैं कहाँ जाऊँगा ? समझ में आया ? क्योंकि जो वस्तु है, वह तो अनादि-अनन्त है। सच्चिदानन्दस्वरूप है न ? वह तो शाश्वत् है। नया हुआ है ? नाश हो ऐसा है ? नया हुआ नहीं; नाश हो, ऐसा नहीं। है और है। अब उसे यहाँ से भविष्य में कहाँ रहना ? रहेगा तो अनन्त काल। जो कोई राग के विकल्प की एकता में है, वह भविष्य में राग में रहेगा। अर्थात् भटकता रहेगा वह राग में...

यह जिसे आत्मा जानना है, उसके पहले काल की बात है। उसे चौथा भी नहीं और पाँचवाँ भी नहीं और छठवाँ कुछ है नहीं अन्दर में। अकेला आत्मा है प्रभु। आहाहा ! अभी ही देखा था। तब पढ़ा था ८४ में। यह आज आ गया। वह द्रव्यसंग्रह नहीं आया ? काललब्धि है, परन्तु हेय है। यह अन्तिम है न ? स्याद्वाद थोड़ा देखा, नय का देखा, निक्षेप का देखा, प्रमाण का थोड़ा बाकी है। भाई चार कहते थे न ? नय, निक्षेप, प्रमाण और स्याद्वाद। मैंने पढ़ा है भाई। हुकमचन्दजी-हुकमचन्दजी वे पण्डित हैं, जयपुर। बहुत होशियार। ३९ वर्ष की उम्र, परन्तु बुद्धि तो बहुत अधिक। भाई ! पहिचाने न सेठ ? हुकमीचन्दभाई ! अभी आये थे न। बहुत अधिक बुद्धि।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वे। अभी के पण्डितों की अपेक्षा से उनकी बुद्धि बहुत। धारणा बहुत। अभी तो ४० वर्ष हुए हैं। वे कहते हैं कि अभी एक व्यक्ति ने शब्दकोश बनाया है—जिनेन्द्रवर्णी। अर्थात् कि मैंने उसमें से चार मूल पढ़े हैं। नय, निक्षेप, प्रमाण और स्याद्वाद। बाकी तो बड़ा समुद्र है, यह पुस्तक आयी है। ५०-५५ एक-एक पद चार।

उसमें यह तो प्रयोजनभूत बात है, उसे नहीं जाने। आहाहा! लाख ऐसी पुस्तकें बनावे। समझ में आया? आहाहा! उसमें यह आया था। द्रव्यसंग्रह का नहीं कहा था तब? लब्धि है वह है, परन्तु हेय है। आज ही आया है। नय, निक्षेप। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे शुभ-अशुभ की विकल्प की राग की वृत्ति खड़ी है, उस राग में जिसका लक्ष्य है, राग में जिसका ध्येय है, राग में जो रँग गया है, उसके भगवान आत्मा नहीं ज्ञात होता। चाहे तो व्रत, तप के विकल्प में रँगा हो तो भी वह आत्मा नहीं ज्ञात होता। समझ में आया? यह जो राग के विकल्प से रहित होकर अन्दर में स्वरूप के अनुभव में जायेगा, उसे विकल्प का भाव नहीं रहता। आहाहा! ऐसी स्थिति है, बापू! लोग दूसरे प्रकार से कहे, माने, कहेंगे। जिन्दगी चली जायेगी, भाई! आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ - जिसका मन, राग-द्वेषादि विकल्पों से आकुलित... है। संकल्प-विकल्प किया ही करता है। आहाहा! है? **विकल्पों से आकुलित / चलित नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को—** आहाहा! ऐसी बात बहुत सूक्ष्म। परन्तु आये ठीक ठिकाने आ गये तुम। यह वस्तु ही अभी सुनना मुश्किल है। आहाहा! तुम्हारे मुम्बई में तो होली है सब। मोहरूपी नगरी है। श्रीमद् ने कहा है न? मोहमयी। मोहमयी नगरी कहा है वह यह। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा निर्विकल्प चैतन्यघन है, उसे प्राप्त करने के लिये तो यह विकल्प लाख शास्त्र पठन के, यह मैं नित्य हूँ, पर अनित्य है, मैं स्व हूँ, दूसरे पर हैं, ऐसी वृत्ति छोड़ने से ही छुटकारा है, स्वभाव में जाना हो तो। आहाहा! पोपटभाई! यह रुपया कमाने में कुछ मेहनत पड़ी नहीं, हों! वह तो पुण्य के कारण ढ़ेर दिखता है।

मुमुक्षु : इसमें बड़ा पुरुषार्थ करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा पुरुषार्थ।

मुमुक्षु : इसमें छोटा करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह छोटा भी खोटा है। आहाहा!

भगवान! तू कौन है? कहाँ है? बापू! तुझे खबर नहीं। उसे पहुँचने के लिये... भगवान कहा है न! कहा था न? ७२ गाथा में। समयसार की ७२ गाथा में 'भगवान'

कहकर ही बुलाया है जीव को। भगवान आत्मा, ऐसा। संस्कृत टीका में अपने वाँचन हो गया है। भाई! अन्दर जो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव होते हैं, इसमें नहीं भाई! यह तो है समाधितन्त्र। समयसार में। समयसार ७२ गाथा है न। लो, ७६ निकली। ७२ है देखो। भगवानरूप से तो आचार्य ने बुलाया है। भगवान!

जल में शैवाल है... जल में शैवाल है। **वह मल है-मैल है...** यह जल-जल, पानी। **शैवाल की भाँति...** इस शैवाल की भाँति। **आस्त्रव मलरूप-मैलरूप अनुभव में आते हैं...** यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे मैल हैं। आहाहा! अरेरे! इसे खबर नहीं होती। उस **शैवाल की भाँति आस्त्रव मलरूप-मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिए...** यह पुण्य के भाव भी मैल हैं, अशुचि हैं, अपवित्र हैं **और भगवान आत्मा...** संस्कृत है। आहाहा! है ? **भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप से ज्ञायक होने से अत्यन्त शुचि ही है (पवित्र ही है)...** वह तो प्रभु! पुण्य-पाप के भाव जो होते हैं, वह तो मलिन है, अशुचि है, अपवित्र है। भाई! तुझे खबर नहीं। समझ में आया ? जैसे इस शरीर में माँस और हड्डियाँ, वीर्य और रक्त अशुचि जड़ की है। वैसे भगवान आत्मा में यह पुण्य और पाप के भाव जो दिखते हैं, वे सब मलिन और अशुचि हैं। भगवान आत्मा अतिनिर्मल वह सदा ही... आहाहा! संस्कृत टीका है, हों!

'भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलम्भकत्वादत्यन्तं शुचिरेव' संस्कृत है। आहाहा! पामर को प्रभुरूप से बुलाया है इसे। सेठ! भाई! तू पामर नहीं, भाई! पर्याय में तूने पामरता मानी है। तू प्रभु है। अनन्त-अनन्त गुण का सागर प्रभु तू है। तेरी महिमा तो सिद्ध की पर्याय से भी महा महिमा है। सिद्ध की पर्याय एक समय की, ऐसी अनन्त पर्यायें तेरे अन्दर गुण में पड़ी है। ऐसा भगवान आत्मा... आहाहा! दिगम्बर सन्त जो आनन्द में झूलनेवाले, वे कहते हैं कि भगवान आत्मा... आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, अजीव है, परन्तु जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्प उठते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना का विकल्प, दोनों अशुचि और मैल हैं। आहाहा! वह आत्मा का स्वरूप नहीं। उससे आत्मा प्राप्त नहीं होता। नवरंगभाई! आहाहा! भाई! मार्ग तो ऐसा है। अपूर्व मार्ग है। पूर्व में कभी सुना नहीं।

श्रुत परिचित अनुभुता। अनन्त बार भाई! तूने शुभराग की वार्ता सुनी है, परिचय में

आ गयी है और तूने अनुभव की है। वह कोई नयी बात नहीं है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव तो राग है, उसकी बात तो तूने सुनी है, तूने की है और अनुभव की है। परन्तु राग से रहित भगवान आत्मा की बात तूने पूर्व में सुनी नहीं, भाई! आहाहा! समझ में आया? पागल जैसा लगे, हों लोगों को तो। लहर करते हों, मानते हों ऐसे अन्दर से। पाँच पचास लाख की पूँजी हो, दो-पाँच लाख पैदा करते हों, स्त्री ठीक हो, पुत्र कमाऊँ—कर्मी जगे हों। सुखी हैं, हम सब प्रकार से सुखी हैं। धूल भी नहीं सुखी, सुन न! पराश्रितभाव, वह सब दुःख का है। उस दुःख के विकल्प से रहित प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! समझ में आया? तीन बार है, हों! एक नहीं परन्तु तीन बार। भगवान... भगवान... कहकर बोलते हैं। आहाहा!

इसकी माँ झूले में सुलावे, तब इसके गुणगान करे। मेरा पुत्र चतुर है और पाट पर बैठकर नहाया है (इत्यादि)। तब सोता है, हों! गाली दोगे तो नहीं सोयेगा। देखना घर में कभी देखना हो तो। क्योंकि अव्यक्तरूप से भी उसे गुण प्रिय लगते हैं। चतुर है और पाटिया ऐसा है। यह गाना उसकी माँ उसे सुलाने के लिये गाती है। यह भगवान उसे जगाने के लिये गाते हैं। आहाहा!

(संवत्) १९६४ की बात है। संवत् ६४। अनुसूया का नाटक था। बड़ा नाटक। वहाँ नर्मदा है न, भरुच के किनारे नर्मदा नदी। वे दोनों बहनें थी। नर्मदा और अनुसूया। है हमारे पालेज के पास नदी है। इसलिए माल लेने जाते थे, तब गये थे। ६४ की बात है। संवत् १९६४। तब अनुसूया का नाटक था। शाम को रात्रि में तो कुछ हो नहीं। माल दिन में ले लिया हो। फुरसत (हो जाने के बाद) चलो देखने जायें। उसमें वह अनुसूया महिला थी। वह विवाह किये बिना स्वर्ग में जाती थी। स्वर्ग में कहे, यहाँ नहीं आ सकोगी। अपुत्रस्य गति नास्ति। परन्तु वहाँ किसे? नीचे उतर और विवाह कर। उसने एक अन्ध ब्राह्मण था, उसके साथ विवाह किया। उसे लड़का हुआ। झूले में झुलाती थी। शुद्धोसि बुद्धोसि निर्विकल्पोसि... ऐसा गाती थी। बेटा! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निर्विकल्प है, आनन्द है। उस समय की बात है। लड़का लाये होंगे कहीं से। लड़का जीवित था। फिर उसमें डाला।

इसी प्रकार यह भगवान जगाते हैं। अरे! आनन्द का नाथ निर्विकल्पस्वरूप तू है, प्रभु! जाग न! विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ११, गुरुवार, दिनांक २३-१-१९७५, श्लोक-३५-३६, प्रवचन-४४

श्लोक-३५। इसका **भावार्थ - जिसका मन, राग-द्वेषादि विकल्पों से आकुलित / चलित नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को—परमात्मस्वरूप को अनुभवता है;...** कोई ऐसा कहे कि भाई! प्रथम इसे राग की मन्दता से नय, निक्षेप और प्रमाणज्ञान से जाने तो वह अनुभव होता है। ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आत्मा का अनुभव, वह शुभ-अशुभ विकल्प से हो, ऐसा नहीं है। ऐसी सूक्ष्म सीधी बात है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, अर्थात् कि जिसे सुख का पन्थ प्रगट करना है, उसे मन के सम्बन्ध में होनेवाली पुण्य-पाप की वृत्तियों को छोड़ने से स्वरूप का अनुभव होगा।

अन्य कोई राग-द्वेषादि से आकुलित... जिसे अन्दर में विकल्प उठा करते हैं, वह **अनात्मदर्शी जन,...** आत्मा को देख नहीं सकता। आहाहा! यह तो ठेठ की-मक्खन की बात है। भाई! इसका साधन? सब पूछते हैं न बहुत यह? वहाँ भी पूछते हैं अगास में कि यह निश्चय की बात की, परन्तु उसका कुछ साधन? साधन यह। पूर्णानन्द का नाथ अन्दर विकल्प की वृत्ति छोड़कर स्वरूप को अनुभव करता है, वह साधन। सेठ! ऐसा कि कुछ दान करें, दया पालन करें, व्रत पालें, तपस्या करें, भक्ति करें, मन्दिर बनावें तो कुछ आत्मा का दर्शन और सम्यक्त्व होगा या नहीं? आहाहा! लेख लिखना बहुत आवे शास्त्र के, उससे आत्मा का अनुभव होगा या नहीं? लेख लिखना, वह तो सब विकल्प है। आहाहा!

मुमुक्षु : साधन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो कहा साधन-फाधन नहीं।

यहाँ तो आत्मा अन्दर निर्विकल्प चीज़ है अर्थात् कि पूर्ण आनन्द और ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरपूर प्रभु आत्मा है, उसे तो किसी भी प्रकार के विकल्प की जाति से वह अनुभव में आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, यह एकान्त हो जाता है। पण्डित कितने ही कहते हैं कि यह तो एकान्त है। यह एकान्त करेगा तो ही उसका-अनेकान्त का सच्चा ज्ञान होगा। आहाहा! देखा! अस्ति-नास्ति दोनों बात की है।

जिसे आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। अभी तो धर्म का पहला सोपान, धर्म की

पहली सीढ़ी, वह प्राप्त करना हो, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप है, उसे विकल्प की वृत्ति छोड़कर सीधा निर्विकल्प से अनुभव हो सके ऐसी चीज़ है। आहाहा! यह बड़ा विवाद इन सब पण्डितों के साथ। बनारस के सब पढ़े हुए (ऐसा कहे, उस) व्यवहार से होता है, व्यवहार से होता है। यहाँ इनकार करते हैं। राग की मन्दता के परिणाम करते-करते आत्मा अविकारी आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह १३वीं गाथा में आया था न नय, निक्षेप, प्रमाण से जाने। तथापि वे सब विकल्प अभूतार्थ हैं। वह सच्चा साधन नहीं है। आहाहा!

अरे! अनन्त काल से इसने परिभ्रमण के पंथ को छोड़ा नहीं और वे विकल्प हैं, वह संसार है। आहाहा! स्वरूप में वह नहीं है। स्वरूप तो आनन्दकन्द प्रभु, शुद्ध ज्ञायकस्वभाव से भरपूर पदार्थ है, उसमें पर्यायें जो निर्मल प्रगट हों धर्म की, वे भी उसमें अन्दर में नहीं हैं। आहाहा! ऐसी गजब बात! सब (ऐसा मानते हैं कि) अपने मात्र दान दो, यह करो... यह करो... यह करो... दवाखाना लगाओ, भोजनशाला बनाओ, भोजनशाला। पाँच लाख रुपये करो, उसमें से ब्याज में से दो। (भोजन) प्रतिदिन का। अभी दो रुपये का खर्च होता है तीन का, एक समय का। एक रुपया भोजन दो सबको। ऐसा करते हैं न? राजकोट में भी है। ऐसा है कुछ है न? मोहनभाई की ओर से है। मोहन घीया की ओर से कुछ है। थोड़ी कीमत में दे। तो उसमें अच्छा भाव है तो उसमें से धीरे-धीरे आत्मा का अनुभव होगा। यह तो इनकार करते हैं। कहो, सेठ! दवा मुफ्त में देना, दूसरों की अंतड़िया प्रसन्न हों। उससे जीव को कुछ लाभ नहीं होगा? अरे... भाई! यह तो विकल्प की वृत्ति है। यह तो दूर रहो। इससे तो आत्मा का सम्यग्दर्शन होगा नहीं, परन्तु आत्मा अनन्त गुण का धनी गुणी है और उसमें आनन्द आदि गुण है, ऐसा भेद का जो विकल्प उठा हुआ राग, उससे भी वह आत्मा ज्ञात हो ऐसा, अनुभव में आये ऐसा नहीं है। आहाहा! यह कठिन लगता है न! लोग मानते हैं कि यह सोनगढ़ का है। सोनगढ़ का है या शास्त्र का है? ऐई! सेठ! भाई! तुझे खबर नहीं।

यह प्रभु चैतन्य अपने शुद्ध स्वभाव से भरपूर महाप्रभु है। उसे स्वभाव की धारा से ही अनुभव किया जाता है। निर्मल स्वभाव की धारा से ही उसे अनुभव किया जाता है और

पकड़ा जाता है; बाकी कोई वस्तु है नहीं। दूसरे कहते हों तो भ्रम है। समझ में आया? आहाहा! आत्मा जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है और उसका ज्ञान है, वह गुण है। और ज्ञाता-ज्ञेय... और ज्ञाता स्वयं ज्ञान का अपनी दशा का ज्ञेय है। ऐसे तीन भेद का भी जहाँ विकल्प-राग उठता है, तब तक आत्मा प्राप्त नहीं होता। ऐसा वस्तुस्वभाव है। इसने कभी यह रास्ता लिया नहीं और लेने की दरकार की नहीं। सब बाहर की धमाधम (की है)।

यशोविजय नहीं कहते? वे कहते हैं न? 'धाम धूम से धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर रे।' आहाहा! अज्ञानियों ने बाहर की प्रवृत्ति मानो व्रत करना और तपस्यायें करना, दान देना और दूसरों के-दु:खी के आँसू पोंछना, नंगे को कपड़े देना, भूखे को अनाज देना, रोग को औषध देना। धीरुभाई! ऐसी बात है। (यह) मार्ग ही नहीं है। यह तो सब पुण्य का मार्ग है, राग का है। आहाहा! और इस राग के मार्ग से अन्तर अनुभव आत्मा प्राप्त हो, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। ऐसी बात है, भाई! निरालम्बी प्रभु है। इसने कभी दरकार की ही नहीं। इस जगत के लालापेठा कर-करके मर गया। लालापेठा समझे न? दया पालूँगा तो भाई सामनेवाले की अंतरडिया... अन्तर दुआ देंगे। उसके अन्तरडिया दुआ दे। आहार, पानी दे, सम्हाल रखे, रोगी को दवा दे, कुछ कपड़ा दे। सब बातें खोटी खोटी है। आहाहा! ऐई... सेठ!

मुमुक्षु : आगेवाले करते आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करते आये तो करे। अज्ञान करते हैं अनादि से। समझ में आया?

यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ यह भाव है, उसे सन्त जगत को आढतिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया? जिसे अन्दर में जब तक शुभराग के विकल्प उठे—दया के, दान के, गुण-गुणी के भेद का, उस विकल्प से आत्मा का अज्ञान टले या ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। ऐई... नवरंगभाई! छने पानी का कहाँ चला गया? चला गया। भाई को था न। ... २००५ के वर्ष नहीं? २६ वर्ष हुए २६। आहाहा!

भगवान! तू ऐसी निरालम्बी वस्तु है। आहाहा! इस चैतन्य के समुद्र में प्रवेश करने के लिये किसी भी प्रकार के राग के विकल्प की उसे आवश्यकता नहीं है। पोपटभाई!

यह पैसेवाले हों, मानो पैसा खर्च करें और कुछ धर्म होगा धीरे-धीरे। दो-पाँच (लाख), दो-पाँच लाख तो खर्च न करे, परन्तु थोड़े बहुत दे। शरीर का बलवान हो, वह अपवास करे कि धर्म होगा। मन का बलवान हो, वह मन से बातें करे धर्म ऐसा और धर्म ऐसा। तीनों बल वहाँ काम आवे ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! है? आहाहा!

जैसे—तरङ्गों से उछलते हुए पानी में... अब न्याय देते हैं। पानी है, उसमें तरंग उठती हो तरंग / लहरें। **अन्दर रही हुई वस्तु दिखलायी नहीं देती;...** तरंग उठे उसमें क्या पड़ा है, (वह दिखाई नहीं देता)। सोने का गहना पड़ गया हो, (वह) दिखाई नहीं देता। **इसी प्रकार राग-द्वेषादिरूप तरङ्गों से...** अर्थात् कि **विकल्पों से...** अर्थात् कि शुभ-अशुभ वृत्तियों से **चञ्चल बने हुए मनरूपी जल में अर्थात् ज्ञानजल में, आत्मतत्त्व दिखलायी नहीं देता।** आहाहा! सुजानमलजी! यह मार्ग बहुत, भाई..!

मुमुक्षु : रास्ता तो बताओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न! परन्तु कब प्रयत्न किया? सुना नहीं और निर्णय किया नहीं, उसका ऐसा का ऐसा अन्दर से घोटाला किया है। आहाहा!

वह वस्तु राग के विकल्प की वृत्ति से पार है। उसे राग के विकल्प की मन्दता से उसमें जाया जाये, आत्मा में प्रवेश होकर आत्मा अनुभव में आवे, वह वस्तु ऐसी नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! इसलिए लोगों को कठिन पड़ती है। वे कहे कि शास्त्र दो सबको, जिससे तुम्हें ज्ञानावरणीय टलकर ज्ञान होगा। कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं हुआ? कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं हुआ? कुन्दकुन्दाचार्य थे।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य को उससे हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कहते हैं, उससे हुआ। ऐई... सेठ! क्या (कहा)?

कुन्दकुन्दाचार्य पूर्व भव में ग्वाला थे। उस सेठ के घर में उसके पशुओं को जंगल में चराते थे। उसमें जंगल में आग लग गयी। और स्वयं, आग लगी वहाँ देखते हैं कि नीचे वृक्ष तले, कुन्दकुन्दाचार्य का जीव, वहाँ एक सन्दूक पड़ी हुई। सन्दूक सुलगी नहीं। इसलिए फिर सन्दूक को ऐसे देखते हैं। ओहो! यह तो शास्त्र! सेठ का ग्वाला था। वह शास्त्र लेकर घर में आया। उसमें मुनिराज आहार के लिये। नग्न दिगम्बर मुनि, अमृत के

सागर, अमृत की लहरें उछालते हुए। आहाहा! छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते हुए। महाराज को सेठिया ने आहार दिया, उस ग्वाले ने पुस्तक दी। कथा में बात आती है। उसके कारण ऐसा कि कुन्दकुन्दाचार्य को ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हुआ। ऐसा कहते हैं, वे सब पण्डित-बण्डित। वह तो एक कौन था, ऐसा ज्ञान कराया। बाकी जब उसे सम्यग्ज्ञान हुआ, तब उसने कोई यह किया और वह किया, इसलिए सम्यग्ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा!

यों भी नहीं आते वे दस प्रकार के धर्म उत्तम क्षमा आदि? और उसमें त्याग धर्म आता है। त्याग में ऐसा आता है कि अपने पास कोई पुस्तक हो तो दूसरे को देना। दसप्रकार के धर्म में आता है न सेठ? उत्तम क्षमा। उसमें त्याग आता है—त्यागधर्म। कथन में ऐसा आता है कि अपने पास कोई पुस्तक हो और कोई माँगे तो दे, वह इतना त्याग हुआ। वह तो एक क्रिया हुई। एक विकल्प हुआ कि यह दूँ। उस विकल्प से आत्मा को सम्यग्ज्ञान होगा (नहीं)। नवरंगभाई! यह सब इतने-इतने कथन और लोग पण्डित कहे, वह सब बात मिथ्या होगी?

कुन्दकुन्दाचार्य का दृष्टान्त देते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य पुस्तक के बनानेवाले। वे भगवान के पास गये। आठ दिन रहे। साक्षात् प्रभु विराजते हैं। आहाहा! इतना अधिक क्षयोपशम कि जिनके शास्त्र की रचना साधारण आचार्य न कर सके, ऐसी तो उनकी रचना। इतना ज्ञान का क्षयोपशम उस ग्वाला के भव में मुनि को पुस्तक दी, उसके कारण हुआ, ऐसा लोग कहते हैं। यहाँ इनकार करते हैं कि ऐसा है ही नहीं। आहाहा! क्या हो?

यह चैतन्य आनन्द का सागर ज्ञान का भरा हुआ... आहाहा! उसे मैं यह आत्मा अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्यकन्द हूँ—ऐसा जो विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति वह तो है, उससे भी उसकी प्राप्ति हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बापू! मार्ग अलौकिक है, भाई! इसे मार्ग को प्राप्त करने की विधि क्या है, यह इसने जानी नहीं। समझ में आया? वे कहते हैं कि एकबार वन्दे जो कोई (ताहि नरक पशु गति नहीं होई)।

मुमुक्षु : होवे नरक पशु गति....

पूज्य गुरुदेवश्री : पशु नरक। सम्मेदशिखर की यात्रा (करे)। धीरुभाई! देखो न!

हमारे अब यह होगा और यह गिरनार की। तीज के दिन यात्रा है। नहीं? तीज को? दूज को। दूज के दिन सवेरे जाना है। तीज के दिन दोपहर में है नहीं? ऊपर जाने का है। भाई आनेवाले हैं बाबूभाई छह सौ लोगों को लेकर (आनेवाले हैं)। अपने बाबूभाई नहीं? धर्मचक्र निकाला है न उन्होंने? छह सौ लोग। प्रायः वे आनेवाले हैं दूज में सवेरे। तीज को सायंकाल ऊपर चढ़ना है। बापू! यह तो एक शुभराग है। होता है, परन्तु यह शुभराग है, इसलिए इसे सम्यग्दर्शन होगा (—ऐसा नहीं है)। धीरुभाई!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन न हो तो कुछ नहीं, धर्म तो होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म नहीं। आहाहा! ऐसा कुछ सज्झाय में ऐसा आता है न, हों! धीरुभाई! यह तुम्हारा नाम आया न, उसमें आया है। 'धीरज धर न अरे... अधीरा।' ऐसा आता है। बहुत सज्झाय पढ़ी हुई है न, हजारों सज्झाय पढ़ी हुई है। तब दुकान पर, हों! (संवत्) १९५४, ६५, ६६ (के वर्ष)। चार सज्झायमाला है। ढाई सौ-ढाई सौ की सज्झाय। उसमें ऐसा आता है। 'धीरज धर न अरे... अधीरा..' फिर भूल गये। इतना पद याद रहा। धीर हो, भाई! धीर हो। आहाहा! तेरे ऐसे विकल्प की जाति से तू ज्ञात हो, ऐसा तू नहीं है। आहाहा! परसन्मुख के उत्साह की वृत्ति जहाँ तक है, वहाँ तक स्वभावसन्मुख नहीं हो सकेगा। समझ में आया? उपदेश देकर बहुत लोग धर्म पावे, लाखों लोग पावे, उससे इसे—आत्मा को धर्म का लाभ हो, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : तो उपदेश....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था? वाणी वाणी के कारण से आती है।

यह तो बात हुई नहीं? कि वाणी आती है। यह आत्मा उसका कर्ता नहीं है। भाषा की वर्गणा जो रजकणों का समूह है, उसमें से भाषारूप परिणमने के रजकण हैं, वे भाषारूप होते हैं। उनका आत्मा कर्ता नहीं है और वह भाषा की पर्याय कान में पड़ी सामनेवाले को, इसलिए उस काल में उसे ज्ञान की पर्याय होती है, वह भाषा से नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है। उस काल में उसके ज्ञान की पर्याय उत्पन्न (होने का) काल है, भले परलक्ष्यीज्ञान है परन्तु वह उत्पन्न का काल है, इसलिए होता है। भाषा से होता है, ऐसा नहीं है। बापू! मार्ग ऐसा कठिन है, हों!

ऐसा एक बार हम सम्प्रदाय में कहते थे, हों! आचारांग में आता है। नो लोए ऐसणं चरियं। गौतम! मेरे मार्ग को तू लोक के साथ मिलाना नहीं। लोग ऐसा मानते हैं और लोग ऐसा कहते हैं, वह नो लोए ऐसण चरियं। लोक की ऐषणा खोजकर मेरे मार्ग के साथ मिलान तू नहीं करना। मार्ग हमारा वीतराग का अलग है। सम्प्रदाय में यह श्लोक आता है। आचारांग में। तब कण्ठस्थ किया था न। व्याख्या चलती थी तब। तब हजारों लोग। ६० वर्ष पहले भी। नो लोए ऐसाणं चरियं, यह श्वेताम्बर का। फिर ऐसा कहने के लिये कि हे गौतम! हमारे मार्ग को दुनिया के किसी भी मार्ग के साथ तू मिलाना नहीं। मिलान खाये ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : समन्वय तो करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। मिलान किसके साथ करे? आहाहा! किसी के साथ विरोध दृष्टिवाला हो, (उसका) विरोध नहीं। प्रेम (करना)। व्यक्ति के प्रति विरोध नहीं, वैर नहीं, शत्रुता नहीं। परन्तु जैसा स्वरूप है, उससे उल्टा हो, उसे जाने कि इसकी दृष्टि उल्टी है। परन्तु इससे व्यक्ति के प्रति वैर हो, ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा है। समझ में आया? वह भूला है परन्तु वह भूल टालेगा; इसलिए उसके चैतन्य के गुण के प्रति का प्रेम नहीं जाता। धीरुभाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं... यह समाधितन्त्र के श्लोक ही सब आत्मा को समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन (कैसे हो, इसके हैं)। समाधि सम्यग्दर्शन अभी चौथा गुणस्थान, धर्म का पहला सोपान कब हो और कैसे हो? आहाहा! कहते हैं कि भगवान! भगवान तुझे कहते हैं और कहते हैं भगवान। कि तेरे आत्मा में भरा हुआ सागर वीतरागस्वभाव है। उसे जो वृत्तियाँ पुण्य की, दया की, भक्ति की उठती है, अरे! गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठता है, उससे भी वह चैतन्य प्राप्त नहीं होता। समझ में आया? अरे! सत्य सुनने को मिलता नहीं, वह बेचारा क्या करे? धीरुभाई! वीतरागमार्ग वीतराग का ऐसा मार्ग। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग तीर्थंकरदेव (ऐसा फरमाते हैं)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो राग है। धर्मचक्र निकाले न! यह सब निकाले दिल्ली

से और चारों ओर से धर्मचक्र निकाले। दिल्ली से, इन्दौर से, फतेपुर से। बापू! वह तो सब शुभराग होता है। जब तक पूर्ण वीतरागदशा न हो, तब तक ऐसे शुभराग होते हैं, परन्तु इससे आत्मा को धर्म का लाभ हो, (ऐसा नहीं है)। यह तो बीच में व्यवहार प्रतिबन्ध का कारण आये बिना रहता नहीं। व्यवहार, वह पुण्य का कारण और बन्ध का कारण है। आवे सही, परन्तु वह साधन है और उससे आत्मा को लाभ होता है, इस बात में जरा भी दम नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कहाँ गये गिरधरभाई? गिरधरभाई के यहाँ संगमरमर का मकान (मन्दिर) बनाना है ढाई लाख का, तीन लाख का। बनाने का भाव पुरुषार्थ मन्द हो तो होता है। इससे शुभ है, इसलिए मन्दिर बनता है, ऐसा भी नहीं है और मन्दिर होना है, इसलिए शुभभाव होता है, ऐसा भी नहीं है और शुभभाव होता है, इसलिए धर्म में प्रवेश करने की अनुकूलता होती है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग।

वीतरागस्वरूपी प्रभु। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म।' स्वयं जिनस्वरूपी भगवान विराजते हैं, अकषायरस का कन्द है, वह कषाय के विकल्प से प्राप्त हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? तो फिर ऐसा शुभभाव करना किसलिए? ऐसा कहते हैं। परन्तु वह शुभभाव आता है। किन्तु उससे अन्दर में धर्म और आत्मा की शान्ति का लाभ मिले, ऐसा नहीं है। पाप से बचने के लिये शुभभाव होता है, परन्तु आत्मा को बचाने के लिये शुभभाव से भी इसे भिन्न पड़ना पड़ेगा। आहाहा! समझ में आया?

विकल्पों से चञ्चल बने हुए मनरूपी जल में अर्थात् ज्ञानजल में, आत्मतत्त्व दिखलायी नहीं देता। आहाहा! पानी की ऐसे तरंग उठती है, वहाँ नीचे पड़ी हुई चीज तरंग की आड़ में दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उसे दया, दान, व्रत या गुण-गुणी के भेद के विकल्प तरंग, उसके कारण उसे आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहाहा! कठिन बातें ऐसी। **ज्ञानजल में, आत्मतत्त्व दिखलायी नहीं देता। निर्विकल्पदशा में ही आत्मदर्शन होता है;...** बहुत सादी भाषा की है। आहाहा! निर्विकल्प अर्थात्? किसी भी प्रकार के विकल्प की-राग की वृत्ति छोड़कर उस वीतरागी पर्याय द्वारा ही उस आत्मा का अनुभव होता है। आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप है। जन्म-मरण का अन्त लाने का यह एक

उपाय है। आहाहा! चौरासी लाख के अवतार कर-करके दु:खी होकर संसार में डोला है, परन्तु इसे सुख के पन्थ की पद्धति की खबर नहीं हुई। समझ में आया?

विशेष—**वस्तुस्वरूप समझकर, अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर,...** लो! समझ अर्थात् यह चैतन्य है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, निर्मलस्वरूप है—ऐसे वस्तु के स्वरूप को समझकर **अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर,...** यह चीज़ जो भगवान आत्मा, उसके सन्मुख होने से **राग-द्वेषादि विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं।** विकल्प उत्पन्न नहीं होते। स्वरूप के अन्तर में जाने से जो विकल्प की, राग की वृत्ति शान्त हो जाती है अर्थात् विकल्प होते नहीं, उसे निर्विकल्प में आत्मा प्राप्त होता है। आहाहा! लाख उपाय करे दूसरे। छहढाला में आता है न, भाई? नहीं? लाख....

लाख बात की बात निश्चय उर लाओ,
छोड़ी सकल जग द्वंद्व फंद निज आतम ध्याओ।

आहाहा! छहढाला में आता है। परन्तु लोग कहाँ के कहाँ रटने में पड़े रहे। इसका स्वरूप क्या है, उसे जानने की दरकार नहीं की। आहाहा! समझ में आया?

राग-द्वेषादि विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं। उनको शान्त करने के लिए आत्मसन्मुखता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। स्वभाव के सन्मुख से विपरीत विकल्प, उन्हें टालने के लिये स्वभाव की सन्मुखता के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। भारी सूक्ष्म, जगत को। आहाहा! समझ में आया? **उपयोग, अन्तर्मुख होने पर,...** ज्ञान का व्यापार—जानने का जो व्यापार, उस प्रभु पूर्णानन्द की ओर ढलने से शुद्धस्वरूप-सन्मुख होने से **राग-द्वेषादि का अभाव होता है;...** वहाँ पुण्य आदि के विकल्प नहीं रहते। **निर्विकल्पदशा प्रगट होती है और परमात्मतत्त्व का आनन्द अनुभव में आता है।** आहाहा! क्या कहा यह? भगवान शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द ऐसा तत्त्व है। वर्तमान पर्याय के उसकी ओर सन्मुख होने से रागादि की उत्पत्ति नहीं होती। निर्विकल्पदशा होती है, तब अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। **परमात्मतत्त्व का आनन्द अनुभव में आता है।** आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन और इसका नाम धर्म। आहाहा! 'कोई कहे

सेवीये विविध क्रिया करी, फल अनेकान्त लोचन न देखे।' आनन्दघनजी में आता है। 'कोई कहे सेवीये विविध क्रिया करी,...' विविध क्रिया—दया, दान, भक्ति, उपासना, सेवा, शास्त्र पठन, शास्त्र बनाना, देना—ऐसी विविध प्रकार की क्रियायें। 'कोई कहे सेवीये विविध क्रिया करी, फल अनेकान्त लोचन न देखे।' परन्तु उसका फल तो अनेक अर्थात् चार गति है। आहाहा! आनन्दघनजी में आता है। धीरुभाई! श्वेताम्बर में। 'फल अनेकान्त क्रिया करी बापडा, रळवळे (भटके) चौ गतिमांहि लेखे।' जिसका फल अनेकान्त है। अनेकान्त अर्थात् अनेक गति में भटकना। समझ में आया? अब उसे धर्म होगा... धर्म होता है और ऐसा मनवाकर बेचारे पड़े हैं। आहाहा! उन्हें आत्मा का अनुभव नहीं होता। समझ में आया?

उस समय बाहर की कैसी भी अनुकूलता या प्रतिकूलता हो, तो भी चित्त मलिन नहीं होता... शुद्ध चैतन्य के ध्येय के ध्यान में अनुभवते हुए उसे विकल्प नहीं रहता। आहाहा! ऐसी बातें बेचारे को व्यवहार का तो लोप कर डालते हैं। ऐई! राग। राग का लोप हो, तब ही अन्दर जाया जाता है। नवरंगभाई! ऐसी चीज़ है, बापू! उसे लक्ष्य में तो ले। उसे ज्ञान में-लक्ष्य में तो ले कि मार्ग तो यह है। उसे इस प्रकार की श्रद्धा से निर्णय तो कर। इस प्रकार की (विकल्पात्मक) श्रद्धा। आहाहा! फिर श्रद्धा अन्दर।

वस्तु स्वरूप पूर्ण शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करने के लिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होने के लिये उसे राग की मन्दता के लिये विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! है? इसका मूल स्वरूप शुद्ध चैतन्य, उसे अवलम्बन करते हुए शुद्ध नित्यानन्द प्रभु के सन्मुख में जाने से मन में मलिनता नहीं रहती। आहाहा!

ऐसा जीव, स्वरूप में लीन होकर अकथ्य आनन्द-शान्ति अनुभवता है... आहाहा! अनुभवरस का प्याला पीया न जाये। ऐसी बात है जरा। आहाहा! यह आनन्दस्वरूप प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द कि जो करोड़ों इन्द्राणी के संग में आता इन्द्र, उसे उस सुख की गन्ध नहीं है। उस सुख में तो (भोग सम्बन्धी सुख में तो) जहर है। आहाहा! प्रभु आत्मा में ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द है कि उस जहर के आनन्द के साथ उसे मिलान नहीं किया जा सकता। तो इन्द्र के सुख से आत्मा के आनन्द का सुख अनन्तगुणा (कहलाये किस प्रकार?) परन्तु जहर के साथ आत्मा को गुणा नहीं किया जाता है। आहाहा! यह किसकी

तुलना होगी ? वह तो जहर का प्याला। लक्ष्मी का आनन्द, स्त्री के विषय में आनन्द, इज्जत के सिंहासन में चढ़ा और बैठा हो बड़ी इज्जत, उसका सुख, वह जहर का सुख है। आहाहा!

आत्मा के सिंहासन पर बैठने से... आहाहा! उदासीन—राग से हटकर शुद्ध चैतन्य के धाम में बसने से जो आनन्द अनुभव में आता है, कहते हैं कि बाह्य के आनन्द के साथ कहीं तुलना नहीं है। वह अकथ्य आनन्द और शान्ति है। आहाहा! शक्कर का स्वाद ख्याल में होने पर भी, कैसा है ? किस पदार्थ के साथ तुलना करके (बतलाना) ? वह कोई चीज़ नहीं है। शक्कर अथवा दूध। समझ में आया ? या घी-घी लो। घी का स्वाद ख्याल में होता है। जिसे जन्मघुट्टी से घी मिलता है, तथापि वह घी कैसा मीठा है ? किसी पदार्थ के साथ तुलना करके कहा नहीं जा सकता। हें ? उस शक्कर की मिठास का ज्ञान, हों! मिठास (यहाँ) आती नहीं। मिठास है, वह तो जड़ है। चैतन्य को उसकी—जड़ की मिठास नहीं आती। मात्र उसका ख्याल आता है उसमें। और उसमें विकल्प उठता है, इसलिए ठीक लगता है। परन्तु उस घी का ज्ञान हुआ वहाँ। हुआ है तो उस काल की अपनी पर्याय का। परन्तु वह ज्ञान घी कैसा ? कोई जगत का पदार्थ उसे तुलना करके ऐसा घी का स्वाद, ऐसा नहीं कह सकते। घी का स्वाद जन्मघुट्टी से मिला है। घी केला जैसा होगा ? वह तालाब में नहीं होते (होते) घी केला ? केला जैसा स्वाद होगा ? शक्कर जैसा होगा ? गुड़ जैसा होगा ? यह जानता अवश्य हूँ, परन्तु कैसा है, यह कह नहीं सकता। तब उसकी जाति—धूल के स्वाद का ख्याल वह धूल है न घी। आहाहा! उसके ख्याल को दूसरे पदार्थ के साथ मिलान कर-तुलनात्मक करके कही जा सके, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। तो ऐसे अकथ्य कहते हैं, देखो। आहाहा!

अकथ्य आनन्द-शान्ति अनुभवता है... आहाहा! **परन्तु बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना से जिसका चित्त, राग-द्वेषादि कषायों से आकुलित होता है,...** आहाहा! **उसको शुद्धात्मा का आनन्द नहीं आता अर्थात् उसको शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।** आहाहा! ऐसा गजब धर्म भाई ऐसा। हमने तो पूरी जिन्दगी ऐसा सुना नहीं था। यह करो, सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, अमुक करो, ढींकणा करो, ऐसा सुना था। बापू! मार्ग अलग, भाई! यह सब विकल्प की वृत्तियों की बातें हैं। आहाहा!

श्लोक - ३६

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह -

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥ ३६॥

अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसायपरिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम्। इत्थंभूतं मनः तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः विक्षिप्तं उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिरात्मस्वरूपं न भवति। यत एवं तस्मात् धारयेत् किं तत्? मनः। कथम्भूतम्? अविक्षिप्तं। विक्षिप्तं पुनस्तत् नाश्रयेन्न धारयेत्॥३६॥

फिर तत्त्व शब्द से क्या कहना चाहते हैं? — वह कहते हैं —

निश्चल मन ही तत्त्व है, चञ्चलता निज-भ्रान्ति।
स्थिर में स्थिरता राखि, तज अस्थिर मूल अशान्ति॥ ३६॥

अन्वयार्थ - (अविक्षिप्तं) रागादि परिणति से रहित तथा शरीर और आत्मा को एक माननेरूप मिथ्याअभिप्राय से रहित, जो स्वरूप में स्थिर है, (मनः) वही मन है, (आत्मनः तत्त्वं) आत्मा का वास्तविक रूप है और (विक्षिप्तं) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्मा के भेदज्ञान से शून्य मन है, वह (आत्मनः भ्रान्तिः) आत्मा का विभ्रम है; आत्मा का निजरूप नहीं है; (ततः) इसलिए तत् (अविक्षिप्तं) उस राग-द्वेषादि से रहित मन को (धारयेत्) धारण करना चाहिए और (विक्षिप्तं) राग-द्वेषादि से क्षुब्ध हुए मन को (न आश्रयेत्) आश्रय नहीं देना चाहिए।

टीका - अविक्षिप्त अर्थात् रागादि से अपरिणत; देहादि के साथ आत्मा के अभेद (एकरूप) के अध्यवसाय (मिथ्याअभिप्राय) का परिहार करके, स्व-अनुभव में ही निश्चल (स्थिर) हो गया हुआ — ऐसा मन, वह आत्मतत्त्व अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। विक्षिप्त अर्थात् ऊपर कहा उससे विपरीत (अर्थात् रागादि से परिणत तथा देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित) मन, वह (आत्म) भ्रान्ति है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए उसको (अविक्षिप्त मन को) धारण करना। उसको अर्थात् किसको? मन को; कैसे (मन को)? अविक्षिप्त (मन को); परन्तु उस

विक्षिप्त (मन को) धारण नहीं करना-उसका आश्रय नहीं करना।

भावार्थ - जो मन, राग-द्वेष से विक्षिप्त नहीं होता, आकुलित नहीं होता, देहादि में आत्मबुद्धि नहीं करता और आत्मस्वरूप में निश्चल रहता है, वह आत्मतत्त्व है; आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। जो मन, राग-द्वेषादिरूप परिणमता है-उनसे विक्षिप्त होता हैं, देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, वह आत्मभ्रान्ति है; आत्मा का निजरूप नहीं; इसलिए अविक्षिप्त मन, आत्मतत्त्व होने से प्रगट करनेयोग्य है और विक्षिप्त मन, आत्मतत्त्व नहीं होने से, हेय है-त्यागने योग्य है।

विशेष स्पष्टीकरण -

प्रथम, स्व-पर का भेदज्ञान करके, परपदार्थों में इष्टानिष्टपने की कल्पना का त्याग करना, राग-द्वेषादि के कारणों की ओर उपेक्षाबुद्धि करना और भावश्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करना। इससे परपदार्थों के सम्बन्धी सब सङ्कल्प-विकल्प शान्त हो जायेंगे, मन अविक्षिप्त बनेगा और आत्मस्वरूप में स्थिर होगा। आचार्यों ने ऐसे अविक्षिप्त भावमन को ही प्रगट करने का उपदेश दिया है, क्योंकि वह आत्मतत्त्व है और वही मोक्ष का कारण है।

जो ज्ञान का उपयोग, रागादि विकल्पों में तथा परपदार्थों में रुकता है, वह ज्ञान नहीं है परन्तु जो ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक ज्ञान है-आत्मतत्त्व है; इसलिए वह उपादेय है।

जो उपयोग, पर में ही अटका हुआ रहने से आत्मसन्मुख नहीं झुकता, वह पर के झुकाववाला तत्त्व है; आत्मा के झुकाववाला तत्त्व नहीं। उससे संसार है; इसलिए वह हेय है ॥३६॥

श्लोक - ३६ पर प्रवचन

फिर तत्त्व शब्द से क्या कहना चाहते हैं ?—वह कहते हैं— तत्त्व शब्द से क्या कहना चाहते हैं, यह कहते हैं। यह ३६।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥ ३६॥

इसकी टीका। एक राजा था। उसकी रानी रूठ गयी थी। राजा मनाने गया, फिर मान गयी और फिर हो गया वैराग्य, फिर ली दीक्षा। ऐसी बात होवे तो समझ में भी आये। परन्तु दीक्षा किसे कहना?

मुमुक्षु : फिर हुआ मोक्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर हुआ मोक्ष।

अभी मनसुख कहता था पालेजवाला। उसके बुआ के पुत्र का पुत्र, दस वर्ष की उम्र। दीक्षा ली अहमदाबाद। कुँवरजीभाई की बहिन का पुत्र। पुत्र का पुत्र। उसे एक सीखा रखा साधु ने। कोई कहे तो (कहना कि) मुझे दीक्षा लेनी है... मुझे दीक्षा लेनी है। परन्तु अभी दस वर्ष का, समकित की खबर नहीं तुझे। तेरे गुरु को भी खबर नहीं। मनसुख ही कहता था हमारे। आया था कल। उसकी बुआ के पुत्र का पुत्र। इसलिए यह दीक्षा लेने गये, मनाने गये। बहुत-बहुत समझाया। एक ही बात करे, मुझे दीक्षा लेनी है... मुझे दीक्षा लेनी है... परन्तु क्या दीक्षा अर्थात् क्या, इसकी तो खबर पड़ती नहीं। अभी तो दस वर्ष का। कुछ भान नहीं होता। देनेवाले को भान नहीं होता और लेनेवाले को भान नहीं होता। फिर (ले) दीक्षा और मिथ्यात्व को बाँधे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। मिथ्यात्व-मिथ्यात्व। मिथ्या श्रद्धा को उपार्जित करे। दीक्षा नहीं, चारित्र नहीं। समकित नहीं, उसे दीक्षा माने, वह मिथ्यात्व को पोषता है। आहाहा! दीक्षा कहाँ थी? अभी तो सम्यग्दर्शन किसे कहना, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! मालिक होता है अभी महिलायें कितनी ही कुँवारी रहती हैं दीक्षा में। सब भटकनेवाले। मिथ्यात्व को घोंट-घोंटकर निगोद में जानेवाले। ऐसी बात है। कठिन बात है, पोपटभाई! दुनिया से अलग है। आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य तो ऐसा कहते हैं कि एक वस्त्र का तिल जितना, तुष जितना कपड़ा रखे और हम मुनि हैं, ऐसा माने, मनावे, माननेवाले को भला जाने, (वह) निगोदं गच्छति,

ऐसा पाठ है। यह निगोद आलू, शक्करकन्द में जायेगा। अनन्त काल में त्रस होगा। क्योंकि नौ तत्त्व की विरुद्ध श्रद्धा उसकी है। सेठिया घर में दीक्षा की शोभायात्रा निकाले। दीक्षा ले न, तो घर से शोभायात्रा निकाले। नाम बाहर आवे, दो-पाँच हजार खर्च करे। आहाहा! अरे... भाई! तू लुटता है, बापू! तुझे खबर नहीं।

कहते हैं, एक वस्त्र का धागा इतना रखने का भाव जिसे है, उसके भाव में मिथ्यात्व पड़ा है। अर्थात् मुनि हैं ऐसा। आहाहा! क्योंकि वस्त्र रखने का संयोगी चीज़ का जो भाव है, वह संवर नहीं, वह आस्रव है और उसका संयोग होता है, वह आस्रव को निमित्त है। उसे संवर नहीं और संवर मानता है। उसे निर्जरा नहीं (और) निर्जरा मानता है। उसका फल मोक्ष नहीं (और), उसका फल मोक्ष मानता है। प्रत्येक तत्त्व में अन्तर है। आहाहा! समझ में आया? भाई तो ऐसा कहे, ऐसी दीक्षा-बीक्षा का भाव करे तो शुभ तो होगा या नहीं? ऐसा कहते हैं। धूल भी नहीं शुभ। महामिथ्यात्व का अशुभभाव पड़ा है, उसमें जरा कुछ राग की मन्दता का (भाव करे, उसमें) ठीक लगे, उसकी गिनती क्या? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब ऐसा ही चलता है। है न, सब देखा है न! आहाहा!

कहते हैं कि **अविक्षिप्त अर्थात् रागादि से अपरिणत; देहादि के साथ आत्मा के अभेद (एकरूप) के अध्यवसाय (मिथ्याअभिप्राय) का परिहार करके, स्व-अनुभव में ही निश्चल (स्थिर) हो गया हुआ—ऐसा मन, वह आत्मतत्त्व अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।** क्या कहते हैं? विकल्प जो है—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के, उनसे अपरिणित—नहीं परिणमित **देहादि के साथ आत्मा के अभेद के अध्यवसाय का परिहार करके,...** देह मैं हूँ, देह की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा जो अभेद मिथ्यात्वभाव, उसे छोड़कर, **स्व-स्वरूप में ही निश्चल (स्थिर) हो गया हुआ...** आहाहा! अपने आनन्दधाम में मन जम गया। **ऐसा मन, वह आत्मतत्त्व अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।** अर्थात् कि निर्विकल्पदशा, वह आत्मा का स्वरूप है। आहाहा!

विक्षिप्त अर्थात् ऊपर कहा उससे विपरीत (अर्थात् रागादि से परिणत... विकल्प से, राग से परिणमित मन अथवा ज्ञान **तथा देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित) मन,**

वह (आत्म) भ्रान्ति है;... आहाहा! राग की एकता और देह वह मैं, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ; विकल्प उठता है, वह मेरी चीज़ है—ऐसी जो भ्रान्ति, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। समझ में आया? **वह आत्मा का स्वरूप नहीं है;...** अर्थात् क्या कहते हैं? कि विकल्प-राग से परिणत ज्ञान और देह से एकपने की मान्यता। ऐसे (अ)भेदज्ञान करे वह। ऐसी जो भ्रान्ति अर्थात् वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ तो उस काल में उसे असमाधि है, ऐसा कहना है। राग की एकता और देह की एकता, ऐसा जो भाव, वह भ्रान्ति अर्थात् असमाधि है, दुःख है। तथा राग और शरीर से भिन्न पड़े हुए तत्त्व में लीन होने पर वहाँ आनन्द है। समझ में आया? अर्थात् कि शुभ विकल्प से परिणमित दशा और देह और आत्मा एक हूँ, ऐसी भ्रान्ति, वह सब मिथ्यात्वभाव है। फिर भले साधु हुआ हो बाहर से हजारों रानियाँ छोड़कर, परन्तु अन्दर में यह विकल्प उठा है, यह विकल्प, वह मैं हूँ। समझ में आया? और विकल्प की परिणति अर्थात् दशा, वह मेरी है, ऐसी जो भ्रान्ति, वह मिथ्यात्व में पड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए उसको (अविक्षिप्त मन को) धारण करना। उसे आत्मा के स्वरूप को धारण करना, विकल्प को छोड़ देना, ऐसा कहते हैं। **उसको अर्थात् किसको? मन को; कैसे (मन को)? अविक्षिप्त (मन को); परन्तु उस विक्षिप्त (मन को) धारण नहीं करना-उसका आश्रय नहीं करना।** आहाहा! अर्थात्? मन में जो विकल्प उठे, वह विक्षिप्त मन है, अस्थिर मन है, चंचल कल्लोल है। वह दुःखरूप दशा है। उसका आश्रय नहीं करना। ओहोहो!

भावार्थ - जो मन, राग-द्वेष से विक्षिप्त नहीं होता,... जिसकी ज्ञान की पर्याय में राग-द्वेष से विक्षिप्त-अस्थिर-चंचल नहीं होता, **आकुलित नहीं होता, देहादि में आत्मबुद्धि नहीं करता...** देहादि मैं हूँ, ऐसा जो ज्ञान की परिणति में मानता नहीं। **आत्मस्वरूप में निश्चल रहता है, वह आत्मतत्त्व है; आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।** आहाहा! पंच महाव्रत के विकल्प से रहित वह आत्मा का स्वरूप है। पंच महाव्रत के विकल्प, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। आहाहा! पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (और अपरिग्रह) वह सब विकल्प है, राग की वृत्ति है। विक्षिप्त है, चंचलता है, अस्थिर है,

अनात्मा है। यह तो पूरे संसार को उड़ा देने की बातें हैं। आहाहा! अनादि संसार का अन्त लाने की यह तो बात है कि जो भगवान आत्मा जिसमें संसार अर्थात् उदयभाव है ही नहीं। आहाहा!

विकल्प है सब, वे तो उदय भाव हैं, संसार है। आहाहा! ऐसे विक्षिप्त, अस्थिर, विकल्प की दशा को अनात्मारूप से जानकर उससे भिन्न पड़। आहाहा! ऐसा ज्ञानस्वरूप... आहाहा! वह **आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। जो मन, राग-द्वेषादिरूप परिणमता है...** जिस पर्याय में राग का परिणमन होता है, **उनसे विक्षिप्त होता हैं,...** अस्थिर होता है। **देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित है...** शरीर और राग से भिन्न आत्मा की खबर नहीं **और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, वह आत्मभ्रान्ति है;...** आहाहा! **आत्मा का निजरूप नहीं; इसलिए अविक्षिप्त मन, आत्मतत्त्व होने से प्रगट करनेयोग्य है...** वह निर्विकल्पदशा प्रगट करनेयोग्य है। ऐसी बातें। **मन, आत्मतत्त्व नहीं होने से, हेय है...** अस्थिर मन, वह आत्मतत्त्व नहीं होने से छोड़नेयोग्य है व्यवहार विकल्प। और अन्तर में स्थिर होनेयोग्य है। तो आत्मा का सम्यग्दर्शन होगा, नहीं तो होगा नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल १२, शुक्रवार, दिनांक २४-१-१९७५, श्लोक-३६, प्रवचन-४५

३६वीं गाथा। पृष्ठ ५९वाँ। दूसरा पेरेग्राफ है। दुर्गम स्वरूप का अनुभव कैसे हो, यह बात है। क्योंकि अनादि काल से राग-द्वेषादि विकल्प का तो अनुभव अनन्त बार हुआ। परन्तु वास्तविक तत्त्व जो चैतन्यमूर्ति आनन्द का धाम, उसमें निर्विकल्परूप से उसका... ऐसा मिला नहीं। शुभ और अशुभराग की वृत्तियाँ करे, वह तो दुःखरूप आस्रवतत्त्व और एक अनात्मा है। आहाहा! ठीक आज अवकाश है न, इसलिए आये हैं। अवकाश है न अवकाश।

यहाँ तो आत्मा अब विकल्प से अवकाश लेता है। चैतन्य आनन्द का दल, वह आत्मा है। उसमें ज्ञानस्वरूपभाव, ज्ञानस्वरूपभाव जानने के स्वभाव से भाव, वह **मन रागादि विभाव भावों से छूटकर...** देखो! यह छूटकर आया। अवकाश आया। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो या अशुभ हो। चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प हो या शास्त्र के पठन का विकल्प हो, परन्तु वह विकल्प तो आस्रव है। वह आत्मतत्त्व नहीं। आहाहा! उस आस्रव से भिन्न पड़कर ज्ञानस्वरूप भावमन, भावमन का अर्थ यह आत्मतत्त्व।

रागादि विभाव भावों से... बहुत सूक्ष्म बात है, धीरुभाई! धर्म, वह कोई साधारण बात नहीं है। अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी किया नहीं। बाकी तो अनेक शुभभाव के मरण अनन्त बार मिले हैं। अशुभभाव के मरण अनन्त बार मिले हैं। परन्तु यह शुभ-अशुभ दोनों विकल्प हैं। चाहे तो दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का हो, पूजा का या गुण-गुणी के भेद का (हो)। यह विकल्प है, वह राग है। यह आत्मा रागादि स्वरूप को छोड़कर अन्तर ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा को निर्विकल्पदशा से पकड़े।

ज्ञानस्वरूप भावमन अर्थात् आत्मा। विकल्प के विभावभावों से छूटकर अन्तर आत्मा के आनन्द को **शरीरादि बाह्य पदार्थों से भिन्न...** करके। आहाहा! सम्यग्दर्शन —प्रथम धर्म की सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान, वह कब हो, कहते हैं। आहाहा! सब शुभ-अशुभ विकल्पों से छूटकर, बाह्य पदार्थ के भाव से हटकर... आहाहा! **चैतन्यमय, एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावरूप अनुभव करने लगता है...** आहाहा! अकेला

ज्ञानस्वभाव, उसका अनुभव करे, तब उसे आनन्द का स्वाद आता है, तब उसे आत्मा का लाभ हुआ कहा जाता है। आहाहा! देखो! यह लाभ सवाया, बनिये नहीं लिखते? ...दरवाजे के ऊपर लिखते हैं। लाभ सवाया। दूसरा? शुभ-लाभ। शुभ-लाभ। लिखते हैं या नहीं? वह शुभ अलाभ। जगत का लाभ, वह (आत्मा का) अलाभ।

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्दर जिसका स्वरूप विकल्प बिना का, राग बिना का— ऐसा जो आत्मतत्त्व, उसे बाह्य के आश्रय से बतलाना, (वह अलाभ है)। विकल्प की वृत्तियों को छोड़कर अन्तर के अवलम्बन में जाये... आहाहा! भाई! तुझे यह **ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है...** सेठ! यह ऐसा मार्ग है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ज्ञायकभाव—जाननभाव, जाननस्वभाव आत्मतत्त्व को स्वपदार्थ के सन्मुख जाने में परपदार्थ का, विकल्प का आश्रय उसे छोड़ना पड़ेगा। यह व्यवहार रखकर निश्चय होगा, (ऐसा तीन काल में नहीं होता)। समझ में आया? आहाहा! कठिन मार्ग, बापू!

ऐसे आत्मा के सन्मुख के भाव बिना परसन्मुख के भाव से तो अनन्त बार मरा, अनन्त बार जन्मा। आहाहा! सर्प इसे काटा और मरा, ऐसे मरण इसने अनन्त बार किये हैं। सत्य होगा? क्यों? अनन्त काल हुआ न? आदि बिना का काल है। है.. है और है आत्मा। तो (अनन्त) भव में अनन्त बार इसे सर्प डसा (और) मरा, ऐसे मरण अनन्त बार किये। वह मरण तो सर्प डसे और छूटता है, एक बात है। राग की क्रिया, वह धर्मक्रिया है—ऐसा जो मिथ्यात्व का जहर, ऐसे जहर से अनन्त मरण किये हैं। इसे कहीं शान्ति नहीं मिली। यह शान्ति मिले, उसका उपाय—उपाय परसन्मुख के झुकाव के भाव को छोड़कर अन्तर आनन्दस्वरूप में ध्येय में सन्मुख होकर... आहाहा! यह आत्मा का अनुभव करे, **तथा उसमें तन्मय हो जाये, तब वह अविक्षिप्त...** निर्विकल्प मन अर्थात् आत्मतत्त्व कहलाये। अविक्षिप्त मन है न, मन? मन शब्द से यहाँ आत्मा लेना।

आत्म-तत्त्व कहते हैं,... चैतन्य भगवान ध्रुवस्वरूप, वह नित्य आनन्द का दल है। उस आनन्द के दल को विकल्पों की वृत्ति से छूटकर अन्तर में विश्रामधाम ले और निर्विकल्प तत्त्व हाथ आवे। उसे निर्विकल्प तत्त्व का निधान अनुभव में आवे। ऐसी यह कैसी बात है! धीरुभाई! ऐसा कहीं सुना है तुम्हारे... उसमें? ...अमुक को बड़ी कम्पनी

है। आहाहा! वहाँ तो गप्प-गप्प बातें चलती हों सब। आहाहा! भाई! तू धीर हो, धीरज में आ। परसन्मुख के आश्रय से, लक्ष्य से जो भाव हो, वह सब विकारी जहर परिणाम है। ऐसे पर आश्रय में परद्रव्य में परतत्त्व के झुकाववाले जो विकल्प शुभाशुभ, उनमें आत्मा नहीं है। वह शुभाशुभराग में आत्मा नहीं है। इसलिए उस शुभाशुभराग में... निर्विकल्प मन अर्थात् निर्विकल्प आत्मतत्त्व का अनुभव होता है, उसे निर्विकल्पदशा में आत्मलाभ होता है। आहाहा! ऐसी बातें लोगों को बहुत कठिन पड़े। लोगों को बेचारों को चढ़ा दिया बाहर में। आहा! बापू! इस मार्ग बिना भाई! तेरे जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। आहाहा! मार्ग यह है। दूसरे प्रकार से हल्का करके विपरीत मार्ग बतायेगा, वहाँ पन्थ नहीं आयेगा। आहाहा!

चैतन्य भगवान पूरा पूर्ण स्वभाव से तत्त्व विराजमान है। आहाहा! उसका लाभ इसे कैसे हो? कि बाह्य की ओर के चाहे जैसे विकल्प करता हो, उनका लक्ष्य छोड़कर निर्विकल्पदशा से आत्मा को अनुभव करे, उसे आत्मा का लाभ होता है, उसे धर्म होता है और वह सुख के पन्थ में पड़ता है। कहो, नवनीतभाई! आहाहा! है? **निर्विकल्प भाव मन को आत्म-तत्त्व कहते हैं,...** आहाहा! पूरा चौदह पूर्व और बारह अंग का मक्खन है। आहाहा! करने का हो तो इसे सुख के पन्थ में लगना हो तो इसे यह करना पड़ेगा। बाकी सब थोथा। शास्त्र के वाँचन के विकल्प, सुनने के विकल्प, कहने के विकल्प... आहाहा! इन सबमें आत्मा नहीं। इन विकल्प की वृत्तियों का लक्ष्य छोड़कर भगवान आनन्द की मूर्ति है, उसके सन्मुख होकर, राग बिना की दशा द्वारा आत्मा को अनुभव करे, उसे आत्मा का लाभ मिले, उसे धर्म लाभ हुआ कहलाता है। वह मोक्ष के पन्थ में जाता है, ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया? बाकी सब भटकने के रास्ते चढ़ जाते हैं।

परन्तु जब उसमें विकल्प उठने लगें... निर्विकल्प तत्त्व स्वरूप के अनुभव में आत्मा मिला, उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति आत्मा के निर्विकल्पभाव द्वारा ही होगी। बाकी विकल्प उठा, वृत्ति उठे अन्दर... आहाहा! चाहे तो मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, ऐसा विकल्प उठता है, तब विक्षिप्त सविकल्प तत्त्व हुआ। सविकल्प रागवाला तत्त्व, मनवाला तत्त्व हुआ है। आहाहा! ऐसा आत्मा का तत्त्व कहते नहीं। आहाहा!

ज्ञान और आनन्दस्वरूप की सन्मुखता में रमने से भगवान आत्मा ऐसा है, ऐसा उसे लाभ होता है। आनन्दस्वरूपी है। शान्तरस का दल एक वस्तु है। अशान्त के विकल्प छूटकर शान्तरस में अनुभव में जाये, उसे आत्मतत्त्व मिला कहलाता है। आहाहा! यह कमाया आत्मा को। पैसा, आहाहा! सविकल्प आस्रव है। आहा! चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव में जाने से विकल्प-राग नहीं रहता। राग की व्याख्या लोग स्थूल करते हैं। परन्तु यहाँ तो चैतन्यस्वरूप शुद्ध वीतरागमूर्ति में से हटकर कोई भी दया, दान या देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति या गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठे, वह आत्मा नहीं है। (धर्म) ऐसा महँगा किया, कितने ही ऐसा कहते हैं। यह सोनगढ़ को कितने ही गालियाँ देते हैं। यह सोनगढ़ का है? धीरुभाई कहते थे, उसमें सत्य है, उस सत्य को बाहर प्रसिद्ध करते हैं, ऐसा कहते थे। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... है। आहाहा! भाई! तू शान्त हो। तेरा स्वभाव है, उस स्वभाव से पकड़ में आये, इतना निर्णय तो कर। निर्णय तो कर, भाई! बाहर के आश्रय से उत्पन्न होते विकल्प चाहे तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा ... और उन्हें सुनने का विकल्प उठा, वह राग है। मार्ग अलग है, भाई! यह राग है, वह आत्मतत्त्व नहीं है। वह तो आस्रवतत्त्व है। वह बन्धस्वभावी भाव है। आहाहा! भगवान आत्मा अबन्धस्वभावी वस्तु है। अरे! ऐसी सत्य की बात का पड़ा विरह, भगवान का विरह पड़ा, परन्तु ऐसी सत्य बात का विरह पड़ा। आहाहा! उसकी पर्याय में शुभराग के भाव हों, वहाँ पड़ा प्रभु को दुष्काल। आहाहा! उसे सुकाल करना हो तो इस विकल्प का लक्ष्य छोड़कर भगवान आत्मा में अन्तर्दृष्टि करना तो पर्याय में सुकाल होगा। अनादि का दुष्काल है, उसकी दशा में। अनादि का इसे अन्दर में आत्मा के लाभ का अभाव है। आहाहा! यह कोई पर की दया पाले और यह दया की मण्डली, क्या कहते हैं? आता है न जीवदया मण्डली, फलाना-अमुक सब? पैसा इकट्ठा करना हो तो धीरुभाई जैसों को सामने ले जाये। पाँच-पचास हजार, लाख इकट्ठे करने। भाई! आओ तुम। तुम्हारा मान... पाँच, पचास, लाख इकट्ठे होंगे। लो, हमने बहुत धर्म किया। आहाहा!

सेठ! भाई! तुझे खबर नहीं। जो विकल्प है, वह तो अनात्मतत्त्व है। आहाहा! भाई! उसमें—विकल्प में आत्मा साथ नहीं है। विकल्प में तो जहर आया है, राग आया है। यह वीर मण्डली के नायक हों और सामने आवे, अमुक के मन्दिर में क्या कहलाते हैं? ट्रस्टी, सामने काम करनेवाले, ऐसा सब बहुत है। कहते हैं, बापू! वह तो सब विकल्प की जाति है, भाई! वह तो राग की जाति है, भाई! उसमें आत्मा नहीं है। आहाहा! उस विकल्प की वृत्ति की जाल को सम्हाल। चैतन्यमूर्ति की ओर जाने से वह विकल्प की जाल नहीं रहेगी। उसका अनुभव होने पर विकल्प की एकता नहीं रहेगी। अनादि की राग की (और) स्वभाव की एकता मानी है, महामिथ्यात्व का जहर है। समझ में आया? कुछ व्यवहार अच्छा करूँगा तो धर्म होगा, ऐसा माननेवाले, भाई! भूलते हैं। उन्हें खबर नहीं। आहाहा! तेरा नाथ तो अन्दर रागरहित की दशा में स्थित है। आहाहा! कठिन मार्ग है, भाई! अपूर्व मार्ग मिला है। पूर्व में अनन्त काल में कभी किया नहीं। अपूर्व!

इसलिए आत्मार्थी को स्वसन्मुख होकर... आहाहा! स्व ऐसा जो चिदानन्द भगवान, उसके सन्मुख होकर **निर्विकल्प मन को ही...** अर्थात् निर्विकल्प आत्मा के तत्त्व को धारण करना। मन शब्द से आत्मा। ऐसा अविकल्प आत्मा की दशा को धारण करना चाहिए। **उससे ही आत्म-लाभ है।** आहाहा!

विशेष - प्रथम, स्व-पर का भेदज्ञान करके,... अब इसकी रीति की पद्धति जरा बताते हैं। स्व अर्थात् आनन्दमूर्ति प्रभु और पर अर्थात् विकल्प और शरीरादि, वाणी आदि सब। (वह) पर की ओर का भेदज्ञान करके। पर से प्रभु भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करके परपदार्थ की इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना का त्याग करना। परपदार्थ से यह इष्ट है और अमुक प्रतिकूल, वह अनिष्ट है, उसे छोड़ दे। परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नहीं। आहाहा! इष्ट। देव-गुरु-शास्त्र तो इष्ट है, इसलिए उनका प्रेम करना। छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। इष्ट तो तेरा नाथ है। अनिष्ट तो विकारी वृत्तियाँ हैं। इष्ट चिदानन्द आत्मा सहजानन्द की मूर्ति प्रभु, वह इष्ट है तथा शुभ और अशुभ की वृत्तियाँ, वे सब अनिष्ट है। कोई बाह्य की वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं है। कुटुम्ब-कबीला, देव-गुरु-शास्त्र हमारे इष्ट है, वैरी-विरोधी हमारे अनिष्ट है, ऐसा तो है नहीं, कहते हैं। आहाहा! ऐसा कठिन, भाई! ऐसा तो कान में पूरा नहीं पड़े हो... भाई! ... यह सुनने का बहुत मिले। आहाहा! क्या हो?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी यहाँ, पर भिन्न है और स्व (सन्मुख) जाने से इसकी पर्याय का झुकाव स्व में जाता है। पर भिन्न है और मैं मेरा अभिन्न तत्त्व है, ऐसा लक्ष्य करने जाये वहाँ पर्याय द्रव्य में ढल जाती है।

मुमुक्षु : ....ध्यान करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय ऐसे झुक जाती है। राग की ओर न झुककर वह द्रव्य की ओर ढल जाती है। आहाहा! सम्प्रदाय में तो प्रतिक्रमण करो, सामायिक करो, प्रोषध करो, अपवास करो। अभी कोई महिला ने कुछ किया था न? कुछ सवा सौ कुछ किये थे अपवास। पानी पीकर किये होंगे। सवा सौ नहीं, एक सौ साठ। पैंसठ जयपुर में। स्थानकवासी में। नहीं?

अरे भाई! उपवास तो परमात्मा उसे कहते हैं, आनन्द का नाथ प्रभु, (उसके) उप अर्थात् समीप में अन्दर में जाकर बसे। उपवास शब्द है। उप—उपसर्ग है। उप अर्थात् समीप है। वास अर्थात् बसना है। चिदानन्द भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके समीप में जाकर उसमें बसे, उसे उपवास कहते हैं। बाकी सबको लंघन कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? विकल्प करता है। करता है, इसने किया क्या? विकल्प करता है कि मैंने इतने किये, यह राग करता है। अरे! यह सत्याग्रह के लिये नहीं करते? अपवास करे, यह करे। इस प्रकार से नहीं करो, वहाँ तक आहार नहीं लेंगे। जबरदस्ती है यह सब। चैतन्य भगवान के समीप में जबरदस्ती करता है। आहाहा! राग की क्रिया को यह सत्याग्रह मानता है। आहाहा! सत् वस्तु ज्ञायक चिदानन्द प्रभु, उसके अन्तर में एकाग्र होकर 'यह मैं' ऐसी जो प्रतीति करना, उसका नाम सत्याग्रह है। धीरुभाई! यह व्याख्या ही अलग है। आहाहा! बात अलग है, बापू! सब दुनिया देखी है न। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर की ओर का भेदज्ञान किया, तब वह पर्याय द्रव्य पर ढल गयी। राग और पर से भिन्न पड़ने पर स्वसन्मुख पर्याय गयी, उसका नाम भेदज्ञान। पर्याय

पर्याय में रही, परन्तु पर्याय ढल गयी ऐसे। इसलिए ढली इस ओर तो कहीं द्रव्य और पर्याय एक नहीं हो गये। परन्तु पर्याय ऐसे ढली तो पर से भेदज्ञान हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : अभेद है, ऐसा तो कहने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस अभेद का अर्थ, यह ऐसे खण्ड पड़ता था, यह ऐसे दोनों एक हुए। अभेद का अर्थ, जिस जाति की पर्याय आयी, वह पर्याय वह वस्तु की ओर पर्याय आयी, वह पर्याय उस वस्तु की ओर ढली, उसे अभेद कहा। बाकी कहीं पर्याय और वस्तु दोनों एक हो जाते हैं कहीं? आहाहा! यह तत्त्व बहुत निराला तत्त्व है। आहाहा! जिसकी अभी पद्धति की खबर नहीं होती। हलुवा कैसे होता है? कि महँगा पड़ता है। घी में आटे को सेंकना, आटा सब घी पी जाता है। फिर गुड़ का पानी डालो तो हलुवा होता है। बापू! यह हमारे महँगा पड़ता है। तब कहे, गुड़ का पानी बाद में डालना है न, तो गुड़ के पानी में पहले आटा सेंको, फिर डालो घी। लुपरी भी नहीं होगी। लुपरी समझते हो? पोटीस-पोटीस। वह नहीं होगी। क्योंकि महिलायें ऐसा कहे... अपने तो सुना हुआ है, किया हुआ नहीं। बहू को कहे, उसकी सासू कि इस पोटीस में थोड़ा-बहुत घी डालना, हों! जातुं-वळतुं ऐसा बोले। जातुं-वळतुं अर्थात् कि घी बहुत पड़े नहीं और पड़े बिना रहे नहीं। आहाहा! तब वह पोटीस होती है। यह तो गुड़ के पानी में लोट सेंका और फिर घी डाला तो अधिक पड़ता था। पोटीस नहीं होगी। हलुवा तो नहीं होगा परन्तु पोटीस भी नहीं होगी। समझ में आया? पोपटभाई! ऐसी बातें हैं, बापू!

इसी प्रकार आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम से कल्याणस करना चाहे, उसे अच्छा पुण्य भी नहीं बँधेगा। समझ में आया? धर्म—हलुवा तो किसका होगा? पहले श्रद्धा को आत्मा में सेंकना पड़ेगा। आहाहा! निर्विकल्प श्रद्धा सम्यक्, वह पूरे आत्मा को—पूर्ण को स्वीकार करती है। समझ में आया? अग्नि में मुख्य तीन शक्तियाँ वर्णन की गयी हैं न? पाचक, दाहक, प्रकाशक। अग्नि पाचक, दाहक, प्रकाशक (कहलाती है)। अनाज को पकावे, लकड़ियों को जलावे, प्रकाश करे। अग्नि का धर्म है न? पाचक, दाहक—जलावे, प्रकाशक।

भगवान आत्मा में तीन गुण मुख्य। सम्यग्दर्शन, वह पाचक है। पूरे तत्त्व को पचाता

है। पूर्णानन्द का नाथ मैं परमात्मस्वरूप हूँ, ऐसा सम्यग्दर्शन उसे पचाता है। सम्यग्ज्ञान में प्रकाश करता है (कि) पूर्ण ऐसा है, अपूर्ण ऐसा है, निमित्त ऐसा है—ऐसा ज्ञान प्रकाशित करता है और स्वरूप में चारित्र है, वह राग को जलाता है। यह तो समझ में आये ऐसा है न, भाई! आहाहा! मार्ग बापू! यह तो अनन्त काल का अनजाना मार्ग, भाई! यह मार्ग की अशक्यता नहीं, दुर्लभता है। समझ में आया?

इष्टानिष्टपने की कल्पना का त्याग करना,... आहाहा! मक्खन जैसा रूपवान शरीर सुन्दर, वह जड़ है, प्रभु! वह माँस और हड्डियाँ हैं। आहाहा! उसमें तेरी नजर पड़ने पर तुझे प्रीति लगती है, भाई! तू हड्डियों के प्रेम में पड़ा है। आहाहा! माँस और हड्डियों के प्रेम में तू रंग गया है। भगवान आनन्द का नाथ है, उसका प्रेम तूने छोड़ दिया। समझ में आया? यहाँ तो ऐसी बात है, सेठ! यहाँ तो दूसरा क्या हो? ऐसी बात है, बापू! आहाहा! अरे! शुभभाव हो, उसका प्रेम, प्रभु कहते हैं कि त्रिलोक के नाथ का तुझे द्वेष है। 'द्वेष अरोचक भाव' आनन्दघनजी कहते हैं। आनन्दघनजी हुए हैं न श्वेताम्बर में? 'द्वेष अरोचक भाव...' आनन्द का नाथ ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्प आत्मतत्त्व तुझे रुचे नहीं और राग का कण है, वह तुझे रुचे (तो) तुझे स्वरूप के प्रति द्वेष है। आहाहा! पोपटभाई! ऐसे मार्ग की रीति कठिन, भाई! साधारण लोगों को तो ऐसा कर डाले कि यह पागल है। ऐसा कैसे? पागल ऐसी बातें करे, लो, ऐसा आत्मा।

मुमुक्षु : पागल को पागल दिखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! मार्ग तो ऐसा है, उसका निर्णय तो कर। उस विकल्प की भूमिका में वस्तु ऐसी है, उसका निर्णय तो कर, भाई! तो वीर्य वहाँ अटकेगा। पर में जाने से रुककर स्वसन्मुख ढलेगा। आहाहा! 'रुचि अनुयायी वीर्य'। स्वरूप ऐसा है, (ऐसी) रुचि होगी तो तेरा वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ सब रुचि अनुयायी-रुचि के अनुकूल वीर्य काम करेगा। राग का वीर्य नहीं काम करेगा शुभराग में। आहाहा! बहुत (कठिन) मार्ग, भाई। जगत से तो एक बार मरना पड़ेगा तब, कहते हैं। तब जीवित ज्योति हाथ आयेगी। प्रथम की बात है यह, हों! राग से लेकर सब चीज़ों से तुझे मरना पड़ेगा। वह मैं नहीं, वह मुझमें नहीं, उससे लाभ नहीं। आहाहा! समझ में आया? बड़े-बड़े भाषण दे (कि) ऐसा करना,

अमुक करना, हम ऐसा करते हैं। अपने समाज उत्कर्ष का काम करो। समाज उत्कर्ष करो, संघ उत्कर्ष करो, ऐसी सब बातें बहुत करते हैं। गप्पगोला मारते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू एक बार सुन न, भाई! यह एक आत्मा का उत्कृष्टपना कैसा हो, उसकी तुझे खबर नहीं और समाज का उत्कृष्टपना करने निकल गया? आहाहा! कहते हैं, इष्ट-अनिष्ट कोई चीज़ ही नहीं है। क्योंकि आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और इसके अतिरिक्त सब चीज़ें तुझे ज्ञान में ज्ञेय है। ज्ञान में ज्ञेय अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य है। यह इष्ट है और अनिष्ट है, ऐसी ज्ञेय पदार्थ में रजिस्टर्ड करके छाप नहीं लगायी है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे **इष्टानिष्टपने की कल्पना का त्याग करना, राग-द्वेषादि के कारणों की ओर उपेक्षाबुद्धि करना...** पर से विमुख होने पर राग का अभाव होता है, इसलिए परसन्मुख की उपेक्षा **और भावश्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करना।** आहाहा! देखो यह।

अन्दर की ज्ञान की निर्मल पर्याय उसे अन्तर में झुकाना। भगवान साहेबा वहाँ बैठा है। चैतन्य प्रभु वहाँ है। आहाहा! **भावश्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करना। इससे परपदार्थों के सम्बन्धी सब सङ्कल्प-विकल्प शान्त हो जायेंगे,...** आहाहा! परन्तु इसका कुछ दूसरा उपाय हल्का? ऐसा सब माँगते हैं। कहो, गिरधरभाई! यह मार्ग है, भाई! दूसरा रास्ता मानेगा, वह सस्ता, महँगा पड़ जायेगा, बापू! बनिये का दृष्टान्त नहीं देते? मण लौकी लाकर गाँव में से बेचने आया होगा अभी। मण, डेढ़ मण। उसमें सब मण बिक गयी और दस सेर रह गयी। परन्तु वह सब ऐसी हो जरा दागवाली, हल्की-पतली रह गयी हो। उसमें एक बनिया आया। भाई देखो, अभी चार आने सेर देते हैं, तुमको दो आने। अब अभी तो महँगा हुआ। अपने को बहुत खबर नहीं है। चार आने सेर लौकी बेची है। यह दस सेर है। अब हमारे उठाकर कहाँ ले जाना गाँव में? दो आने दी, जाओ ले जाओ। बनिया मानो हमारे दस सेर आयी। घर जाता है वहाँ सड़ा हुआ पूरे में। एक-एक में छेद पूरे में एक सड़ा हुआ। सस्ता पड़ा महँगा। इसी प्रकार बनिया दूसरे प्रकार से लाभ लेने जायेगा (कि) राग में से ऐसे होगा, पुण्य में से ऐसे होगा, अमुक में से ऐसे होगा। वह पूरा तेरा... जायेगा। आहाहा! बराबर है न? धीरुभाई! यह गाँव में ऐसा होता है। यह भिण्डी-बिण्डी नहीं होती? भिण्डी... होती है न? अच्छे-अच्छे ले गये हों। सवा मण, डेढ़ मण में से दस सेर बची हो फिर... ओहो! दो आने सेर, अभी कहे दस रुपये। वह बनिया लोभिया

हो। ठीक, अपने को सस्ता मिला। लाओ। घर में जाये वहाँ वह सड़ा हुआ पूरा सड़ा हुआ ठेठ तक। टुकड़ा भी अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार दया, दान, व्रत, भक्ति, तप करो, तुम्हारे कल्याण होगा। वह सड़ा हुआ है। सड़ी हुई लौकी तुझे देता है। आहाहा! समझ में आया? लोभिया बनिया बहेगा उसमें। उसका सब जायेगा। आहाहा!

कहते हैं, **आत्मस्वरूप में स्थिर होगा।** सब विकल्प छोड़कर, कोई भी विकल्प आत्मा को लाभ करे... आहाहा! वह है ही नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम का विकल्प, वह आत्मा को लाभ नहीं करता। पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (और अपरिग्रह) वह भी विकल्प और राग की वृत्ति है। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप में वह विकल्प है ही नहीं। ऐसे विकल्प को समा देगा और **मन अविक्षिप्त बनेगा...** स्थिर होगा। **आत्मस्वरूप में स्थिर होगा। आचार्यों ने ऐसे अविक्षिप्त भावमन को...** अर्थात् नहीं अडोलित मन **प्रगट करने का आचार्यों ने उपदेश दिया है,...** अर्थात् ऐसा आत्मतत्त्व प्रगट हुआ। **क्योंकि वह आत्मतत्त्व है...** समझ में आया? **और वही मोक्ष का कारण है।** क्योंकि उसमें कहा था आत्मतत्त्व का कहते नहीं। आस्रव है, ऐसा कहा। सविकल्पदशा, वह आस्रव है। पहले में कहा था। तब निर्विकल्पदशा, वह आत्मतत्त्व है। गजब बात, भाई! और कितने ही ऐसा कहे, सभा देखकर उपदेश देना। परन्तु सभा देखकर क्या सभा देखकर? सभा तो आत्मा है। ऐसा उपदेश आचार्य ने क्या सभा देखकर किया है? मार्ग यह है, सुनना हो तो सुनो और रुचे तो रुचो। समझ में आया? आहाहा! अपने को यह मार्ग रुचता न हो न, इसलिए फिर कहे, हल्का मार्ग बताओ, दूसरे को हल्का मार्ग बताओ। हल्का कैसा दूसरा? उल्टा कहो। हल्का अर्थात् उल्टा। आहाहा!

स्थिर होगा आत्मा, कहते हैं। आचार्य ने यह ऐसा उपदेश दिया है। पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त थे, मुनि थे, जंगल में बसते थे। देव जिनके चरण पूजते थे। पूज्यपाद शब्द है न? पाद अर्थात् पैर, पूज्य। ऐसे आचार्य ने यह उपदेश किया है, कहते हैं। **क्योंकि वह आत्मतत्त्व है और वही मोक्ष का कारण है। जो ज्ञान का उपयोग, रागादि विकल्पों में...** ज्ञान अर्थात् जानने का भाव इन दया, दान आदि विकारों में **तथा परपदार्थों में रुकता है, वह ज्ञान नहीं है...** वह आत्मा नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! दया, दान, व्रत, भक्ति,

पूजा, तपस्या, अपवास, उसमें जो रुकता है, वह राग में रुकता है। वह आत्मा नहीं है। वह तो आस्रवतत्त्व है। समझ में आया?

जो ज्ञान का भाव राग में और परपदार्थ में रुकता है, वह आत्मा नहीं। वह ज्ञान ही नहीं। आहाहा! **परन्तु जो ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होता है,...** जो भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु अपने ज्ञान में स्थिर होता है, वहाँ प्रतिष्ठित होता है। आहाहा! ज्ञान को वहाँ प्रतिष्ठित-शोभा देता है कि वहाँ... ऐसा। अपने ज्ञान में ज्ञान जाता है तो प्रतिष्ठित होता है, **वही वास्तविक ज्ञान है...** कहो, यह सब डॉक्टर का ज्ञान और वकालत का ज्ञान, यह धीरुभाई की कम्पनी का ज्ञान होगा न कहीं कम्पनी का? ... चलाता था लड़का। मुम्बई है। कुछ होगा धन्धे का। कोई लड़का कहता था। परन्तु कोई...

मुमुक्षु : किरीटभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ कोई कहता था। कहा, होगा कुछ। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि यह सब संसार के ज्ञान।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! अभी तो समकित पाना, इसके लिये बात है। समकित बिना मुनि कहाँ से होता था? नग्न होकर वस्त्र छोड़े, इसलिए साधु हो गया? समझ में आया? जिसे चारित्र अर्थात् चरना, किसमें चरना, किसमें रमना, इस चीज़ का पता मिला नहीं और चारित्र हो जाये? चारित्र अर्थात् चरना। माल हो, वहाँ चरे। ढोर कहाँ चरते होंगे? ढेफा में? ढोर चरते हैं न? माल होता है, वहाँ चरते होंगे या ढेफा में चलते होंगे? ऐसे चरना अर्थात् माल अन्दर देखा है। आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु सम्यग्दर्शन में उसका भान हुआ है। उस माल में रमने-रचने जाये, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा! सेठ! यहाँ सेठियाओं ने सब गड़बड़ की हो उसमें। जय तिष्ठ... तिष्ठ... तिष्ठ... किया तो होगा न थोड़ा-बहुत?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बनाया हो उसके लिये और फिर बोले मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार (शुद्धि)। यह चारों झूठे हैं। ऐई, सेठ! यह दोनों इकट्ठे होंगे न? कभी साधु-बाधु को पड़गाया तो होगा न? नग्न मुनि।

मुमुक्षु : गाँव में आये हों मेहमान, उन्हें भूखा रखे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! तब झूठ बोलकर झूठा देना ?

मुमुक्षु : भोजन तो कराना पड़े न ? भूखे मारे कहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था भोजन। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, चारित्र अर्थात् कि चरना, रमना। आनन्द का भोजन करना, इसका नाम चारित्र है। परन्तु अब वह आनन्दस्वरूप है, वह तो दृष्टि में आया नहीं। कहाँ चरेगा और किसे रुचेगा ? राग को रुचेगा पत्थर को। राग अचेतन है, पुण्य-पाप के परिणाम अचेतन-जड़ हैं; चेतन नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? कुछ समझ में आया—ऐसा कहा जाता है न ? आहाहा ! क्या वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ के पन्थ की बलिहारी है ! तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्हें सौ इन्द्र पूजते हैं, उनके समवसरण में इन्द्र पिल्ले की भाँति बैठते हैं, ऐसे तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव का वह हुकम यह है। भाई कहते थे न कि वहाँ सत्य बातें, महाराज सत्य में से तो कहते हैं। धीरुभाई ! आहाहा ! बापू ! ऐसा मार्ग। आहाहा ! पहला निर्णय तो कर। उस भूमिका में सच्चा निर्णय ऐसा (होता है), ऐसा तो निर्णय कर। आहाहा ! ऐसा उपदेश वह सब किसी समय आता है। ११वीं गाथा में नहीं कहा ? शुद्धनय का उपदेश कहीं-कहीं है, विरल है। ११वीं गाथा में आता है न ?

क्या कहा यहाँ ? **जो उपयोग, पर में ही अटका हुआ रहने से...** जानने का स्वभाव जीव का है, वह जाननेवाला राग में, पुण्य में, विकल्प में रुकता है। समझ में आया ? **आत्मसन्मुख नहीं झुकता, वह पर के झुकाववाला तत्त्व है;...** वह आस्रवतत्त्व है। आहाहा ! भारी बातें, भाई ! भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा है, उसकी सन्मुखता छोड़कर जितना पर-सन्मुख के विकल्पों में जाता है... आहाहा ! वह आत्मतत्त्व के झुकाववाला तत्त्व नहीं है। आहाहा ! भगवान ऐसा कहते हैं, हों ! भगवान कहते हैं कि मेरी भक्ति में तेरा उपयोग रुकेगा, वह आत्मा नहीं है। आहाहा ! भगवान ऐसा कहते हैं। सन्त कहते हैं, देखो न ! हमको आहार देने में तेरा उपयोग रुकेगा, वह आत्मा नहीं है, पुण्य है। आहाहा ! हमारा स्मरण करने में तेरा उपयोग रुकेगा, वह राग में रुकेगा, वह आत्मा नहीं। ऐसी तो बात...

यह तो हीरा के पासा पड़ते हैं, भाई! आहाहा! बेल्जियम में है हीरा की घंटी—घंटी। हीरा की घंटी होती है। अपने लोहे की होती है न, वहाँ हीरा की। वहाँ आये थे सेठ ९५ में। राजकोट। उस हीरा की घंटी चढ़े, पासा पड़े हीरा को। वह लोहे का करे। यह कहते हैं हीरा ले जाये, वह तो क्या कहना, परन्तु हीरा की रज नीचे गिरे, उसे ले जाये तो हजारों रुपये पैदा हों। बेल्जियम का एक आया था ९५ में। नानालालभाई को वह धन्धा है न? नानालाल कालीदास, राजकोट। वह धन्धा है। वहाँ आये थे। लाये थे। ऐसे हीरा की उसके पास घंटी। इसी प्रकार वीतराग मार्ग को घंटी चढ़ाते हैं। निर्मलानन्द के नाथ को पहुँच जा, नाथ! वहाँ तेरा हीरा है वहाँ। अरे! इस बात को ले जाये भाव को, उसका तो क्या कहना? परन्तु इस प्ररूपणा में तत्त्व हाथ आवे अन्दर में, वह भी हीरा के रजकण हैं। बहुत कठिन बात है।

उससे संसार है;... आहाहा! भगवान आत्मा स्वसन्मुखता के उपयोग से हटकर जितना परसन्मुख के झुकाव में जाये, वह सब विकल्प संसार है। ओहोहो! आचार्य तो कह गये हैं पहले कि जो शुभ-अशुभ विकल्प राग है, उसे लाभ माने, वह तो मिथ्यादृष्टि पागल है। परन्तु उपदेश का विकल्प जो है, वह भानवाले का विकल्प है, वह पागल है, कहते हैं। चारित्रदोष है। आहाहा! **उससे संसार है;...** किससे? आत्मा के स्वभाव के झुकाव के अतिरिक्त जितना बाह्य पदार्थ देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश की ओर के झुकाव का भाव, वह सब राग और संसार है। सुजानमलजी! ऐसी बात है। आहाहा! **इसलिए वह हेय है।** क्या कहा यह? कि चैतन्य आनन्द ज्ञानस्वरूपी है, उसका स्वसन्मुख का जो व्यापार है, वह तो निर्विकल्प और आत्मतत्त्व है। उसमें से जरा परसन्मुख के झुकाव के वाँचने में, सुनने में, कहने में, देखने में जाता है, वह सब विकल्प है, वह संसार और राग है। यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ यह जिनचन्द्र प्रभु... आहाहा! उनका यह मार्ग है। वहाँ राग का कण भी नहीं समाता। समझ में आया? अब ३७ गाथा लेंगे। विक्षेप कैसे होता है और अविक्षेप कैसे होता है? यह लेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ३७

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह -

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः। क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः। तदेव मनः ज्ञानसंस्कारैरात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः। स्वतः स्वयमेव। तत्त्वे आत्मस्वरूपे अवतिष्ठते॥३७॥

फिर, किस कारण से मन का विक्षेप होता है और किस कारण से उसका अविक्षेप होता है? वह कहते हैं —

हों संस्कार अज्ञानमय, निश्चय हो मन भ्रान्त।
ज्ञान संस्कृत मन करे, स्वयं तत्त्व विश्रान्ति॥ ३७॥

अन्वयार्थ - (अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीरादि को शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या / अज्ञान है, उसके पुनः-पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा, (मनः) मन (अवशं) स्वाधीन न रहकर; (क्षिप्यते) विक्षिप्त हो जाता है, रागी-द्वेषी बन जाता है और (तदेव) वही मन (ज्ञानसंस्कारैः) आत्म-देह के भेद-विज्ञानरूप संस्कारों द्वारा (स्वतः) स्वयं ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूप में (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है।

टीका - शरीरादि को पवित्र, स्थिर और आत्मीय (अपना) आदि माननेरूप जो अविद्या (अज्ञान), उसका अभ्यास अर्थात् उसकी बारम्बार प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए संस्कारों अर्थात् वासनाओं - उन द्वारा करके अवश अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन अर्थात् अनात्मा के आधीन, वह मन विक्षेप पाता है / विक्षिप्त होता है। वही मन, ज्ञान संस्कारों द्वारा अर्थात् आत्मा को शरीरादि से भिन्न जाननेरूप अभ्यास द्वारा, स्वतः अर्थात् स्वयं ही तत्त्व में / आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।

भावार्थ - शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करना, अज्ञान है-अविद्या है।

उसकी पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों से मन, परवश होकर-पराधीन होकर; रागी-द्वेषी बन जाता है, विक्षिप्त होता है। वही मन, भेदज्ञान के संस्कारों से स्वतः अर्थात् अपने आप आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।

शरीर, जड़ है, अपवित्र है, अस्थिर है और पर है। उसमें आत्मा की कल्पना करके, उसको पवित्र, स्थिर और अपना मानना तथा ज्ञान और राग को एक मानना अर्थात् शुभराग से लाभ मानना, अविद्या है-अज्ञान है। इस अज्ञानता को — विपरीत मान्यता और विपरीत ज्ञान को बारम्बार अन्दर घोटने से और तदनुसार आचरण करने से, वासनारूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से मन अपने वश-स्वाधीन नहीं वर्तता, अपितु परवश बनता है अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन होकर क्षुब्ध होता है विक्षिप्त होता है। ऐसा राग-द्वेष से आकुलित मन, बाह्यविषयों में ही प्रवर्तता है; ज्ञानस्वरूप में स्थिर नहीं होता।

मैं, शरीरादि से और राग-द्वेषादि विकारों से भिन्न, पवित्र, स्थिर और ज्ञायकस्वरूप हूँ — ऐसे स्व-पर के भेदविज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान संस्कारों से वही मन, स्वयं स्वाधीनरूप से-अपने ही आप, राग-द्वेषादि से रहित होता है-अविक्षिप्त होता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

शुद्धात्मा की बारम्बार भावना से ज्ञान के संस्कार उत्पन्न होते हैं, उनसे मन, राग-द्वेष-रहित होकर, समाधि में स्थिर होता है।

'मैं शुद्धज्ञानस्वरूप परमात्मा हूँ; शरीर-मन-वाणीरूप मैं नहीं, मैं उनसे भिन्न हूँ — ऐसी भावना बारम्बार भाने से, उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कारों से चैतन्यस्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है।' *(यही ग्रन्थ, श्लोक-२८)*

इसलिए ज्ञानसंस्कार, समाधि का कारण है और अविद्या का संस्कार, असमाधि का कारण है।

ज्ञानसंस्कारों द्वारा जैसे-जैसे स्वरूप में स्थिरता होती जाती है, वैसे-वैसे राग-द्वेषादि भाव छूटते जाते हैं और वीतरागता बढ़ती जाती है। इसलिए जहाँ तक मन (ज्ञान का उपयोग) बाह्यविषयों से छूटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर न हो, वहाँ तक

आत्मतत्त्व की भावना करते ही रहना चाहिए।

श्री समयसार, कलश-१३० में कहा है कि —

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युता ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

'यह भेदविज्ञान अविछिन्नधारा के अर्थात् जिसमें विच्छेद न पड़े — ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से वहाँ तक भाना कि जहाँ तक ज्ञान, परभावों से छूटकर, ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) ठहर न जाये।'

'यहाँ ज्ञान का ज्ञान में ठहरना दो प्रकार से जानना — एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर, सम्यग्ज्ञान हो और फिर से मिथ्यात्व न आवे, तब ज्ञान, ज्ञान में ठहरा कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान, शुद्धोपयोगरूप स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप न परिणमें, तब वह ज्ञान में ठहर गया कहलाता है। जहाँ तक दोनों प्रकार से ज्ञान, ज्ञान में न ठहर जाए, वहाँ तक भेदविज्ञान की भावना करना।'

(श्री समयसार, कलश १३० का भावार्थ)

इस श्लोक में 'स्वतः' शब्द यह अर्थ सूचित करता है कि जीव स्वयं अपने सम्यक् पुरुषार्थ से अपने स्वरूप में स्थिर होता है; अन्य किसी कारण से नहीं॥३७॥

पौष शुक्ल १३, शनिवार, दिनांक २५-१-१९७५, श्लोक-३७, प्रवचन-४६

यह समाधितन्त्र (शास्त्र है)। आत्मा को समाधि अर्थात् शान्ति कैसे होती है ? अर्थात् कि सम्यग्दर्शन भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जिसे सम्यग्दर्शन कहा है, वह क्या चीज़ है ? और उस सम्यग्दर्शन में क्या होता है ? उस सम्यग्दर्शन में समाधि-आनन्द का अनुभव होता है। सूक्ष्म बात है। यह इसने अनन्त काल में कभी किया नहीं और उसे छोड़कर मन में अनादि से पुण्य और पाप के राग के संस्कार के कारण उसका मन विक्षिप्त अर्थात् असमाधिवाला है। समझ में आया ?

लोगस्स में नहीं आता ? 'समाहि वर मुत्तमं दिन्तु' इसके अर्थ की कहाँ खबर है ? 'समाहि वर मुत्तमं दिन्तु'। हे परमात्मा ! हमारी हमें समाधि प्राप्त हो। समाधि अर्थात् आत्मा

आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, उसे अन्तर्दृष्टि करके शुद्ध आनन्द के स्वाद को लेना और उसमें प्रतीति करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान उसे त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं। धीरुभाई! और वह क्यों प्राप्त नहीं हुआ? अनादि से पुण्य और पाप के विकल्प शुभ-अशुभभाव, वे सब विकार हैं, उन्हें अपना माना; इसलिए वहाँ से हटा नहीं और अन्तर आत्मा में आया नहीं। इसलिए उसे असमाधि अर्थात् दुःख की दशा वर्तती है। पोपटभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह पैसेवाले को सुखी कहते हैं न! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, एकबार सुन प्रभु! ३७वीं गाथा है। बहुत सरस है। वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव को जब सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, (तब) एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में तीन काल-तीन लोक जिन्होंने जाने, ऐसे तीर्थंकरदेव की वाणी में (आया कि) असमाधि में क्यों रहा अनादि से? और समाधि की कैसे प्राप्ति हो? इसकी बात है। समाधि कहो या धर्म कहो। असमाधि कहो या अधर्म कहो। आहाहा!

कहते हैं कि देखो! ३७ (श्लोक)। **किस कारण से मन का विक्षेप होता है और किस कारण से उसका अविक्षेप होता है?** यह उपोद्घात है। किस कारण से मन में राग-द्वेष की असमाधि होती है? और किस कारण से आत्मा के आनन्द की शान्ति, समाधि और समकित और धर्म होता है? यह कहते हैं।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

इसकी **टीका :- शरीर...** यह (शरीर) जड़-मिट्टी है। यह पुद्गल है, जड़ है। यह कहीं आत्मा नहीं है। वह तो अजीवतत्त्व है। यह अजीवतत्त्व **आदि को पवित्र,...** मानकर। यह शरीर मेरा है, ऐसा मानकर। यह तो जड़ है, धूल है, अपवित्र पदार्थ है। पवित्र तो भगवान है। इस शरीर को पवित्र माना। स्वयं पवित्र है, इसकी खबर नहीं होती। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव धरनेवाला है, उसकी इसे खबर नहीं होती। मृग की नाभि में कस्तूरी, यह मृग को खबर नहीं होती। इसी प्रकार अज्ञानी पुण्य और पाप के भाव के

प्रेमी, उसे भगवान आनन्दस्वरूप है अन्दर आत्मा, उसकी उसे खबर नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं, शरीर को पवित्र माना। शरीर को चूंथने से, भोग लेने से मुझे ठीक पड़ता है, ऐसा मूढ़ ने-अज्ञानी ने अनादि से ऐसा माना है। आहाहा! यह तो माँस और हड्डियाँ और चमड़ी है। इसमें मुझे मजा आता है, ऐसा अज्ञानी ने अनादि से माना है। यह तो जगत से अलग प्रकार की बात है। और यह ठीक है, ऐसा माना है। पवित्र तो स्वयं है, ऐसा नहीं जाना और उसे पवित्र माना कि यह मेरा शरीर सुन्दर बहुत, अच्छा बहुत, और शरीर से हम काम लेते हैं। तो शरीर तो जड़ है, वह तो मिट्टी है। उससे काम चले, वह तो सब जड़ के होते हैं। आहाहा! **उसे स्थिर माना है।** स्थिर तो स्वयं नित्यानन्द प्रभु है, ऐसा न मानकर, ऐसा न जानकर शरीर को हुआ, यह तप हुआ। यह सत् कायम है। आहाहा!

और आत्मीय (अपना) आदि माननेरूप... मेरा शरीर है, मेरी वाणी है, मेरा मन है। अन्दर शुभ और अशुभभाव होते हैं न! सूक्ष्म बात है, भगवान। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, वह पापवासना और दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा का विकल्प, वह पुण्यवासना। शास्त्र की बात में इसका शोर मचता है। बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! पर की दया पालने का भाव, अन्दर भगवान की भक्ति, पूजा का भाव, दान का भाव, दया का भाव, यात्रा का भाव, पंच महाव्रत का भाव, वह सब राग है। बापू! तुझे खबर नहीं। समझ में आया? उन्हें मेरा मानकर उनका तूने सेवन किया। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग दुनिया से निराला है। आहाहा! अन्दर आनन्द का नाथ स्वयं प्रभु चैतन्य विराजता है, उसमें पवित्रता है, उसमें सुख है, ऐसा भूलकर... आहाहा!

अभी एक पद याद आया था एक थोड़ा सा, हों! यह अन्तिम क्या चेतनजी थे न। वह कहीं सज्झाय में से आया होगा। 'भुल्यो मन भमरा तुं क्यां भमे? भम्यो दिन ने रात।' चार सज्झायमाला आती है न? उसमें होगा। उस समय (पढ़ा था वह) और याद आया अभी। सज्झाय है। चार सज्झायमाला है न? हमने सब पढ़ी है न, दुकान पर पढ़ी है। ६५ और ६६ के वर्ष। संवत् १९६५ और ६६। पालेज में दुकान में। दुकान तो पिताजी की दुकान थी। स्वतन्त्र दुकान घर की थी। चार सज्झायमाला है अपने। एक-एक में ढाई सौ-

ढाई सौ सज्झाय है। ऐसी चार है। वे चारों पुस्तकें तब मँगायी थी। ऐई! ६४-६५। कितने वर्ष हुए? ६६ वर्ष हुए। दुकान में बहुत अधिक शास्त्र पढ़ते थे। उसमें यह अभी चेतनजी खड़े थे और याद आ गया, नहीं? ''भुल्यो मन भमरा..' अरे! भ्रमरा! तू कहाँ भ्रम्यो? चेतन आनन्द का नाथ अन्दर विराजता है। वह सिद्ध समान तेरा स्वरूप है। आहाहा! उसे भूलकर पुण्य और पाप के भाव में भटका, पाँच इन्द्रियों के विषय में। उसमें कहीं शान्ति नहीं है, वह तो सब अशान्ति है। आहाहा!

हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ,.. रति, अरति के भाव, वे पापवासना हैं। वह दुःख है। अब कठिन पड़े ऐसी बात कही। भाई ने कही। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के भाव, वह सब शुभराग है। आहाहा! वह वहाँ अनादि से अटका है। वह शुभराग है कहो या अधर्म है कहो। बात तो ऐसी है। तीन लोक के नाथ का पुकार तो यह है। समझ में आया? वह धर्म नहीं। धर्म तो वह राग की क्रिया बिना चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करना, उसे तीर्थंकरदेव धर्म कहते हैं। बहुत निवृत्ति नहीं मिले पुण्य और पाप के कारण और ऐसा करते हुए कुछ थोड़ा पुण्य हुआ वहाँ अटक गया (कि हमने) कुछ धर्म किया। अरे... बापू! ऐसा तो अनन्त बार किया है। समझ में आया?

कहते हैं, शरीर आदि को अपना माननेरूप जो अविद्या, वह अज्ञान है। आहाहा! शरीर मेरा, वाणी मेरी, मन मेरा, पुण्य और पाप के भाव विकारी है, वे मेरे, यह आस्रवतत्त्व है। आहाहा! उन्हें अपना माना, वह अज्ञान, अविद्या संसार है। आहाहा! अनन्त काल में भटका, वह रह गया कहीं, यह खबर नहीं इसे। यह तो जो करता है, वह किया करता है। जरा निवृत्त हो वहाँ शुभभाव करे। दुकान में पाप की घाणी में (पिलता है)। दोनों मलिन परिणाम हैं। यह पुण्य और पाप दोनों। एक सोने की बेड़ी और एक लोहे की बेड़ी। परन्तु गजब, भाई!

मुमुक्षु : सोने की बेड़ी तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : सोने को तौल होता तौल (वजन)। आहाहा!

कहते हैं, कैसे तुझे आत्मा की शान्ति नहीं मिली? सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ?

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा को शान्ति मिलती है। आहाहा! क्यों नहीं हुआ? कि परवस्तु को (अपनी) मानने के संस्कार द्वारा वहाँ रुक गया है। धीरुभाई! ऐसा है। आहाहा!

(अज्ञान), उसका अभ्यास अर्थात् उसकी बारम्बार प्रवृत्ति... यह क्या कहलाता है? डोरा को कांतते हैं न? क्या कहलाता है तुम्हारे चरखा। उसमें डोरा ऐसे एक के बाद एक, एक के बाद एक ऐसे निकला ही करता है। ऐसा कहते हैं कि प्रभु! अनादि के तूने पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव किये, उसका चरखा लगाया तूने। आहाहा! उसके संस्कार के कारण तुझे असमाधि हुई। आहाहा! चिदानन्द भगवान अन्दर आनन्द का नाथ ज्ञाता-दृष्टा जो तीर्थंकरदेव ने जिसे आत्मा कहा, उस आत्मा को तू भूल गया। समझ में आया? आहाहा!

ऐसे **संस्कारों अर्थात् वासनाओं - उनके द्वारा अवश अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन...** शुभ और अशुभभाव में आधीन होने से इन्द्रियाँ और उसके विषय में दौड़ गया। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग की वाणी है, वह भी सुनने में शुभभाव है। क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है। बहुत सूक्ष्म बातें हैं। वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है, अभी तो सब ढंक गया है, सब उल्टा है। आहाहा!

कहते हैं, ऐसे अविद्या के संस्कार से परसन्मुख के झुकाव में तेरी दशा में संस्कार जम गये। अन्दर आत्मा आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' आहाहा! वह तुझे श्रद्धा में, दृष्टि में, अनुभव में रह गया, इसलिए तुझे समाधि नहीं हुई। समाधि अर्थात् यह बाबा करते हैं, वह नहीं, हों! यह तो सुख अन्दर होना चाहिए। भगवान आनन्द की डली है, आनन्द की गाँठ है वह। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है। जैसे शक्करकन्द है न? उस शक्करकन्द में सर्वत्र मिठास ही भरी है। यह शिवरात्रि में नहीं करते? है अनन्त काय, हों! उसमें अनन्त जीव हैं। उसे पकाकर खाते हैं न? बाफकर अन्दर शक्कर डालकर खाते हैं।

यह भगवान आत्मा अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का शक्करकन्द है। क्यों, क्या, कभी सुना भी नहीं। चन्दुभाई! आहाहा! ऐसे आनन्द के नाथ को तूने नहीं देखा, नहीं जाना, नहीं माना। आहाहा! और ऐसे अज्ञान संस्कार से पाँच इन्द्रिय के परलक्ष्य में पराधीन

हो गया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उससे (विपरीत) **आत्मा के आधीन, वह मन विक्षेप पाता है...** क्या कहा यह? यह शरीर, वाणी, मन सब जड़ है और अन्दर में पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे भी वास्तव में तो चैतन्य की जाति की जाति नहीं है। वह भी अचेतन है। छह जीव की पर्याय में, परन्तु उसमें ज्ञान और आनन्द का अभाव है; इसलिए पुण्य और पाप के भाव, वे मेरे हैं—ऐसे उसमें दौड़कर मन का विक्षेप हुआ। आहाहा!

अनात्मा के आधीन (हुआ)। यह शुभ और अशुभभाव, वह आत्मा नहीं। शुभभाव वह पुण्य है; अशुभभाव, वह पाप है। वे दोनों आस्रव हैं। आहाहा! उसके आधीन होकर... आहाहा! मन का विक्षेप हुआ। आहाहा! उसे अशान्ति हुई। उसे कषाय का भाव उत्पन्न हुआ। उसमें वह दुःख में वह विक्षिप्त हो गया उसे। मन अस्थिर हो गया। आहाहा! समझ में आया? भारी बात ऐसी कैसी परन्तु? वह तो कहे, अपवास करने से धर्म होगा, यह भगवान की भक्ति करें हमेशा। बापू! यह सब बातें शुभभाव की हैं।

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो,...' भगवान तो ऐसा कहते हैं, भाई! तू तो साधु भी अनन्त बार हुआ। पंच महाव्रत के परिणाम भी तूने अनन्त बार किये हैं। वह शुभराग है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक...' नौवें ग्रैवेयक गया। बारह देवलोक हैं, ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं, वहाँ अनन्त बार गया। समझ में आया? शुभभाव, पुण्य के भाव, शुक्ललेश्या के भाव, यह विवेक करके,... 'पै निज आतम ज्ञान बिन...' आत्मा क्या चीज़ है, उसके अनुभव बिना उसे सुख का अंश भी नहीं आया। आहाहा! समझ में आया? जिसे दुनिया धर्म मानती है, उसे ज्ञानी कहते हैं कि वह पराधीन दुःख है। यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिन्हें सौ इन्द्र पूजते हैं। भगवान तो विराजते हैं महाविदेह में। चौबीस तीर्थंकर, वे तो मोक्ष में पधारे। णमो सिद्धाणं में गये। और सीमन्धर भगवान आदि बीस तीर्थंकर महाविदेह में विराजते हैं, अरिहन्त पद में हैं। अभी शरीर है। समझ में आया? उनके मुख में से यह वाणी निकली, यह वाणी की रचना है। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई!

मन में संस्कार ऐसे डाले, कहते हैं। शरीर की क्रिया मैं ऐसी करूँ, शुभभाव मैं करूँ, अशुभभाव ऐसा करूँ, उसमें यह फँस गया है। आहाहा! इस अज्ञान के संस्कार में

फँस गया है। यह अविद्या के संस्कार पड़े। चैतन्य से विपरीत दशा के संस्कार पड़े हैं। समझ में आया? **अर्थात् विक्षिप्त होता है। वही मन, ज्ञान संस्कारों द्वारा...** मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला आनन्द हूँ। मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य आनन्दघन है, अतीन्द्रिय आनन्द का रसिक वह मैं आत्मा (हूँ)। आहाहा! राग का रसिक, वह आत्मा नहीं। ऐसी बात कैसी! यह तो सब व्यवहार का लोप हो जाता है। भाई! तुझे व्यवहार की खबर नहीं, बापू! वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव गणधर और सन्तों के बीच, इन्द्रों के बीच यह धर्म फरमाया था। आहाहा! समझ में आया?

पुण्य और पाप के भाव, वह विकार है, उससे मेरी चीज़ भिन्न है। आनन्द है, ज्ञान है, शान्ति है, स्वच्छता है, प्रभुता है, वह मैं आत्मा हूँ। ऐसे इसने संस्कार डाले नहीं थे। यदि यह संस्कार डाले तो उसे समाधि हो। आहाहा! है? **आत्मा को शरीरादि से भिन्न जाननेरूप अभ्यास द्वारा,...** यह रजकण मिट्टी, इससे मैं भिन्न हूँ, वाणी जड़ है, उससे मैं भिन्न हूँ। पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह राग (है, उससे) मैं भिन्न हूँ। आहाहा! ऐसे पर से भेदज्ञान के संस्कार डालने से इसे सम्यग्दर्शन और समाधि होती है। ऐसा मार्ग है, धीरुभाई! यह सब पैसेवालों को मानो हम पैसा खर्च करें तो धर्म हो जाये। ऐई! सेठ!

मुमुक्षु : करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना, वह यह करना नहीं? पुण्य हो, उसमें राग की मन्दता करे तो पुण्य होता है। पोपटभाई! यह पोपटभाई ने दिये हैं न अभी पचास हजार। नहीं? वढवाण। मन्दिर होता है न? ऐई... गिरधरभाई! यह धीरे-धीरे सब करेंगे। उसमें भी वह क्रिया जो होती है, वह तो पर है। उसमें देखनेवाले को राग की मन्दता का भाव हो तो पुण्य है, धर्म नहीं।

मुमुक्षु : इतने अधिक रुपये खर्च करे और पुण्य?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके रुपये? रुपये तो जड़ के हैं।

मुमुक्षु : ऐसा, तो इसने खर्च नहीं किये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : खर्च इसने नहीं किये। वे तो वहाँ खर्च होने का जड़ के कारण से है। ऐई! धीरुभाई!

मुमुक्षु : खर्च करने का भाव किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव किया तो कहा न, राग मन्द किया हो तो शुभ होगा। इसने और वह तुम्हारे तलकशीभाई का पुत्र रमणीक। दोनों पचास हजार दिये हैं। उसने पचास हजार दिये हैं। लाख। ढाई-तीन लाख का होता है। यहाँ तो ऐसा पहले से कहते आये हैं कि मन्दिर बने वह उसके कारण से बनता है। इसका भाव करनेवाले को राग की मन्दता हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। धीरुभाई! धीरुभाई बनानेवाले हैं न यह सब। हम तो पहले से (कहते हैं)। अरे! भगवान!

मुमुक्षु : राग के भाव में धर्म होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग। बापू! तुझे खबर नहीं भाई! यह वृत्ति उठती है, वह विकल्प राग है। आहाहा! हो, अशुभ से बचने के लिये वह भाव होता है परन्तु वह धर्म है और उससे धर्म धीरे-धीरे धर्म होगा, इस बात में जरा भी दम नहीं। कहो, सुजानमलजी! ऐसा मार्ग वीतराग का है, बापू! आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, इन्द्रों और गणधरों के समक्ष में यह कहते थे, वह यह कथन हैं सब। आहाहा! भाई! तुझे संस्कार दूसरे पड़ गये। आत्मा की जाति के संस्कार नहीं पाड़कर पुण्य और पाप के भाव मेरे और उसमें मुझे लाभ होगा, ऐसे संस्कार से अज्ञान पोसाया है, कहते हैं। सेठ! सेठ को जहाँ हो वहाँ बैठावे। पैसा दे और उसमें दस हजार, पाँच हजार रुपये। सेठ को सामने बैठावे। अभी वहाँ कुण्डलपुर जानेवाले हैं न! सामने रखेंगे, हों! अपने को खबर नहीं होती न। चन्दुभाई ने कहा था। वहाँ होता है न बड़ा गजरथ। गजरथ न?

मुमुक्षु : कमेटी के प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये उसके प्रमुख हैं। सामने कहलाये पैसेवाले। कुछ देंगे पाँच, दस हजार फिर। आहाहा!

मुमुक्षु : जबरदस्ती से पकड़ावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अरे.. भाई!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! यह लक्ष्मी है, वह तो जड़ है। जैसे शरीर जड़ है, यह मिट्टी।

मिट्टी है न ? यह कुछ लगे, तब नहीं कहते कि मेरी मिट्टी पकाऊ है ? पानी को छूने देना नहीं। ऐसा कहते हैं या नहीं ? परन्तु वह बोलने जितना। कोई भान नहीं होता। मेरी मिट्टी पकाऊ है, ऐसा कहते हैं। परन्तु मेरी करके फिर मिट्टी कहना है, इसकी खबर नहीं इसे भी। यह लगे न तब। कील लग गयी हो। पानी छूने देना नहीं, हों! मेरी मिट्टी पकाऊ है। मिट्टी है न यह ? धूल है, वह तेरी हो गयी ? कहाँ से इस मिट्टी का हो माटी (स्वामी) हो गया ? मिट्टी का स्वामी। आहाहा! इसी प्रकार पैसा जड़-धूल है। सोने का हो या चाँदी का हो या यह तुम्हारी अभी वह होती है न, क्या कहलाता है ? नोट कागज के, वह तो सब जड़ है। वह जड़ होकर रहे हैं, कहीं तेरे होकर रहे हैं ?

मुमुक्षु : मेरे पास हो, वहाँ तक तो मेरे कहलाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं इसके होकर रहे। धीरुभाई! वे अजीव होकर रहे हैं या तुम्हारे होकर रहे हैं ये ? तुम्हारे होकर रहे तो तुम आत्मा हो अरूपी, तो अरूपी हो जाये वे।

मुमुक्षु : मेरे पास हैं, तब तक तो मेरे हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। जरा भी हराम है वह तो। जड़ के हैं। यही बाधा है न यहाँ।

इस अजीवतत्त्व को जीव का अपना मानना, यह महामिथ्यात्व के संस्कार हैं। लोगों को भी इस प्रकार से चढ़ा दिया है। पैसेवाले हों, वे पैसा खर्च करे। धर्मधुरन्धर लगाओ एक तख्ती। तख्ती क्या है वह ? तख्ती... तख्ती लगाते हैं न ? बहुत तस्दी/मेहनत करे बेचारा। पचास हजार, लाख खर्च किये हों तो जाओ अमुक भाई की यादगिरी में वापस नाम डाले तीन, चार, पाँच। अमुक भाई देनेवाले और अमुक की यादगिरी में।

मुमुक्षु : हस्ते फलाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हस्ते फलाना इतने तो नाम डाले। अरे... भगवान! तू क्या करता है यह ? बापू! राग की मन्दता उसमें की हो तो पुण्य है। वह पुण्य बन्धन है। होता है, परन्तु वह है बन्धन, बापू! वह धर्म नहीं। आहाहा! परन्तु अज्ञान से ऐसे संस्कार डाले, कि उसमें धर्म है, ऐसा मिथ्यात्व का पोषण किया इसने। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा-मिथ्यादर्शन शल्य। आहाहा!

कहते हैं, ऐसे संस्कार से भूल गया तू प्रभु तुझे। आहाहा! और उसके सुलटे संस्कार करना हो तो, मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ। सत् स्वभाव मेरा त्रिकाल आनन्द अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द, वह मेरी चीज़ है। ऐसे बारम्बार अभ्यास से इसे ज्ञान के संस्कार पड़ते हैं, इसे समकित होता है, तब इसे शान्ति होती है। आहाहा! सेठ! ऐसा किसलिए... ऐसा कहते हैं। आहाहा!

देखो, **शरीरादि से भिन्न जाननेरूप अभ्यास द्वारा, स्वतः अर्थात् स्वयं ही तत्त्व में अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।** आहाहा! आत्मतत्त्व अर्थात् तो ज्ञान का स्वरूप, आनन्द की मूर्ति वह आत्मतत्त्व। वह राग और पर से भिन्न संस्कार करते-करते आत्मा में स्थिर होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन और समाधि अर्थात् आनन्द आता है, इसका नाम भगवान समाधि कहते हैं। लोगस्स किया है तुमने? लोगस्स में आता है। 'समाहि वर मुत्तम दिन्तु'। किसे अर्थ की खबर है? पहाड़े बोल जाते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस चार नवकार। आहाहा!

यहाँ तो समाधि। आधि, व्याधि, उपाधिरहित समाधि। यह बाबा समाधि करते हैं, उसकी यह बात नहीं है, हों! आधि, व्याधि, उपाधिरहित समाधि। उपाधि अर्थात् कि यहाँ स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा, यह सब उपाधि; शरीर में रोग आवे, वह व्याधि। यह उपाधि, यह व्याधि। मन में संकल्प-विकल्प पुण्य-पाप के उठें, वह आधि। यह उपाधि, व्याधि और आधि तीन से रहित भगवान आत्मा की समाधि। आहाहा! समझ में आया? कुछ समझ में आया कहा जाता है न? सब समझे तो निहाल हो जाये। यह तो यहाँ की हवा आती है या नहीं? आहाहा!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर का यह फरमान है, आदेश है, यह हुक्म है। आहाहा! भाई! तुझे संस्कार 'पर मुझमें' पड़ गये, इससे तेरी चीज़ को भी तू भूल गया है। अब तू पर के संस्कार छोड़। आहाहा! मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञाता-दृष्टा का भण्डार हूँ। मुझमें नहीं पुण्य-पाप, नहीं शरीर, नहीं वाणी, नहीं कुटुम्ब, कबीला कोई नहीं। आहाहा! यह स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं। मूर्खाई का कहीं पार है? आधा अंग यह और

आधा मैं, अर्धांगना कहलाती है वह। ऐई! मार डाला अज्ञान के संस्कार ने तो। यह कहते हैं न लोग कहते हैं अपने... आहाहा! यह अर्धांगना है, हमारे घर से है। ऐसा कहे न? घर से अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : यह दोनों समझ जाते हैं इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! तेरा घर तो यहाँ ज्ञान और आनन्द है। उस घर में स्त्री भी नहीं और राग भी नहीं, वह घर ऐसा है। आहाहा! नव तत्त्व में बड़ी भूल। वह अजीव को जीव माना। पुण्य के भाव, वे आस्रव के भाव, उन्हें धर्म-संवर माना और धर्म माना। वह नव तत्त्व की विपरीत मान्यता। आहाहा! अभी तो नव तत्त्व के नाम भी न आते हों ठीक से। आहाहा! और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। धूल भी नहीं धर्म, सुन न!

धर्म की चीज़ कोई अपूर्व है। एक सेकेण्डमात्र भी धर्म होने पर जिसके जन्म-मरण के अन्त आवे, ऐसा धर्म है यह। इसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? और इसका नाम समाधि है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, वह मेरे और उसमें मुझे ठीक पड़ता है—ऐसे जो अज्ञान के संस्कार, वे मिथ्यात्व के संस्कार हैं। मिथ्या अर्थात् झूठे संस्कार हैं। और मैं राग नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं। मेरी चीज़ तो सच्चिदानन्दस्वरूप है। सच्चिदानन्द अर्थात्? सत् अर्थात् शाश्वत, ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाववाला मैं—ऐसा बारम्बार अभ्यास से इसे सम्यग्दर्शन के संस्कार उत्पन्न होते हैं। आहाहा! समझ में आया?

व्यवहारवालों को तो ऐसा लागता है कि यह यात्रा करे, सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो धर्म होता है। यहाँ कहते हैं कि लाख यात्रा करे तो धर्म नहीं होता। सुन! क्योंकि परद्रव्य की ओर के झुकाव का भाव, वह राग है। साक्षात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव समवसरण में विराजते हों और कल्पवृक्ष के फूल से जिनकी पूजा की हो, हीरा के थाल और मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल। ऐसी भगवान की पूजा अनन्त बार की है।

मुमुक्षु : भगवान के सामने ही नहीं देखा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके (स्व के) सामने इसने देखा नहीं, ऐसा। वे तो परवस्तु हैं। भगवान तो आत्मा से परचीज़ है। परचीज़ को पूजा, परन्तु स्व को पूजा नहीं। आहाहा!

समझ में आया ? भाई ! यह दुनिया से अलग प्रकार है। ऐसा तो सब चलता है। खबर नहीं ? सब क्या करते हैं ? क्या मानते हैं, क्या मनवाते हैं ? भाई ! यह मार्ग अलग प्रभु ! यह जन्म-मरण के छूटने का समकित का मार्ग नाथ दूसरा है, भाई ! इसके संस्कार भी तुझे नहीं, यह सुनने को मिलता नहीं। आहाहा ! यह सुनकर फिर जानने में कब रखे ? और रुचि करके अनुभव कब करे ? बापू ! यह तो अलौकिक बातें हैं। समझ में आया ? कहते हैं, **जाननेरूप अभ्यास द्वारा, स्वतः अर्थात् स्वयं ही तत्त्व में अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।** लो।

भावार्थ - शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करना,... शरीर, वाणी, मन में आत्मबुद्धि करना अर्थात् 'मेरे हैं', यह (मान्यता) मिथ्यात्व है। मिथ्यादर्शन शल्य। अठारह पाप आते हैं या नहीं ? प्रणातिपाद... नहीं ? अठारहवाँ ? मिथ्यादर्शन शल्य वह यह अठारहवाँ पाप है। टाईल्स हमारी और लड़के हमारे। आहाहा ! कहते हैं, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, पुत्रियाँ, समधी और रिश्तेदार। धीरुभाई ! अच्छा समधी मिला हो और करोड़पति हो, प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। आओ सेठ आओ। वेवला है दूसरा क्या है ?

यहाँ तो कहते हैं, **शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करना, अज्ञान है**- मिथ्यात्व है, मिथ्या शल्य है, विपरीत मान्यता है, अधर्म है। आहाहा ! **अविद्या है। उसकी पुनः-पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से...** उसका अभ्यास पूरे दिन और रात। यह मेरे और मैं इनका। हम उसके काम करते हैं। पानी में डण्डा मारने से कहीं पानी अलग पड़ता है ? इसी प्रकार हमारे समधी सब निकटवर्ती व्यक्ति हैं। यह हमारे अंगीत हैं। गुप्त बात लेनेवाले। सात पीढ़ी से हमारे और इनके सम्बन्ध चला आता है। धूल भी नहीं सुन न। आहाहा ! इस शरीर के साथ सम्बन्ध रखा तो शरीर छूट गया एकदम। यह दगा देगा एक बार। ऐसा छोड़। तेरा स्वामी कुछ नहीं होगा। यह मिट्टी है, उसके कारण से रहेगा, तेरे कारण से नहीं रहेगा यह। तू सम्हाल कर तो रहे और नहीं तो न रहे, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा ! जड़, जड़ के कारण से अपनी अवस्था से रहता है। आहाहा ! और उसे अपना मानकर, अपनी चीज़ को यह भूल गया है। समझ में आया ?

उसकी अविद्या प्रवृत्ति, अभ्यास बारम्बार। मेरा शरीर अच्छा, मेरा शरीर पतला, मेरा शरीर ऐसा, मेरी काठी ऐसी। इस प्रकार पूरे दिन संस्कार। अरर! यह काठी तो जड़ की है। हम खा-पीकर सम्हालकर ध्यान रखें तो शरीर अच्छा रहता है। पथ्य आहार करें तो अच्छा रहे। वह सब जड़ की वस्तु जड़ के कारण से है, बापू! तेरे कारण से नहीं। परन्तु इसे ऐसा कि मैं ऐसे रखूँ तो रहे। समझ में आया?

मन, परवश होकर-पराधीन होकर; रागी-द्वेषी बन जाता है,... फिर तो उसे अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष। बस! यह इसके संस्कार खड़े होते हैं। **विक्षिप्त होता है।** यहाँ विक्षिप्त है न मूल पाठ? **वही मन, भेदज्ञान के संस्कारों से...** आहाहा! बारम्बार संस्कार। पत्थर में रस्सी घिसे तो वह (निशान) पड़े, नहीं आता? स्कूल में आता है न? कुँए के किनारे वह रस्सी। पत्थर काला हो तो भी...

मुमुक्षु : रस्सी आवत जावते सिल पर करत निशान।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास हो, भगवान! मैं राग का विषय नहीं, वाणी नहीं, यह पुण्य और पाप मैं नहीं, स्त्री-कुटुम्ब मैं नहीं। मैं तो आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसे बारम्बार संस्कार डालने से वहाँ रगड़ हो जायेगी। समझ में आया?

अपने आप आत्मस्वरूप में स्थिर होता है। वही मन, भेदज्ञान के संस्कारों से स्वतः अर्थात् अपने आप आत्मस्वरूप में स्थिर होता है। आहाहा! जहाँ जिसने अपना माना, वहाँ वह स्थिर हो। अज्ञानी ने राग और शरीर को (अपने) माना है, (इसलिए) वहाँ स्थिर होता है। ज्ञानी धर्मात्मा ने तो मैं ज्ञानस्वरूप, वह मेरा स्वरूप है। उसमें ऐसे माना, वहाँ स्थिर हो। समझ में आया? आहाहा! परन्तु क्रियाकाण्डवाले को तो भारी कठिन पड़े, हों!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह यात्रा और शत्रुंजय की क्रिया, शत्रुंजय की यात्रा करके आये। वह पुण्य है, वह धर्म नहीं। तब चिल्लाहट मचाये। मुश्किल से निकले थे। अब उसमें कुछ दौ सौ, पाँच सौ खर्च किये हों तो कहे धर्म नहीं। हमारे तम्बोली को ऐसा हुआ था न पहले? ... यहाँ बात हुई। फिर भड़के। भाई! यह यात्रा का स्थल तो तेरा आत्मा है।

सच्ची यात्रा चिदानन्दस्वरूप पर चढ़, आरूढ़ हो। यह यात्रा है। वह यात्रा हो, शुभभाव, अशुभ से बचने के लिये। ज्ञानी को भी होता है, परन्तु यह वस्तुस्थिति सत्य नहीं है। समझ में आया? सत्य वस्तु जो शाश्वत सत् है... सत् है... देखनेवाला जिसका स्वभाव शाश्वत् है, ऐसे स्वभाव से मैं हूँ, ऐसे संस्कार से वहाँ पवित्रता प्रगट होती है और यह राग मैं, शरीर मैं, यह क्रिया मेरी, इसके संस्कार से दुःख उत्पन्न होता है। समझ में आया?

शरीर, जड़ है, अपवित्र है, अस्थिर है और पर है। ... उसमें आत्मा की कल्पना करके, वे मेरे हैं, ऐसी कल्पना करके **उसको पवित्र, स्थिर और अपना मानना तथा ज्ञान और राग को एक मानना...** अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं। ज्ञानस्वरूप को और राग को एक माना...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल १४, रविवार, दिनांक २६-१-१९७५, श्लोक-३७, प्रवचन-४७

६१वाँ पृष्ठ है न ? **ज्ञान-संस्कारों द्वारा...** कहते हैं कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है न ! ऐसा भान होने पर ज्ञान में एकाग्रता के संस्कार पड़ते हैं। उन संस्कारों की यहाँ बात नहीं। प्रवचनसार में आता है। वह तो संस्कार है, वह पराधीन ज्ञान है। परोक्ष की व्याख्या आती है न ? वह यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो आत्मा राग से भिन्न, ऐसे ज्ञान में संस्कार पड़ते जायें, उसकी बात करते हैं। ... है न !

चैतन्यस्वरूप... जिसे आत्मा का कल्याण करना है, उसे कल्याण की दशा कहाँ से प्राप्त होती है, ऐसे स्वभाव को राग से भिन्न अनुभव करना पड़ेगा, जानना पड़ेगा। पहले जानना पड़ेगा। भेदज्ञान को पहला विकल्प कहा है न ? वह निर्विकल्प है। आहाहा ! राग के अंश में उसे ज्ञान में अन्तर में झुकाववाली दशा होने पर मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसे जो पवित्रता के संस्कार पड़ें, उससे आत्मा का अनुभव होता है। आहाहा ! यहाँ कहने का अर्थ तो यह है कि कोई विकल्प के आश्रय से या पर के आश्रय से अन्दर में आत्मा का लाभ हो, यह नहीं है। व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा ! यह वस्तु निश्चय से तो स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। अलिंगग्रहण छठवाँ बोल। चैतन्यस्वरूप के अनुभव के लिये पर के आश्रय की जिसे आवश्यकता नहीं। इसे राग की मन्दता के भाव की अपेक्षा, स्वस्वरूप को जानने के लिये नहीं है।

यह कहते हैं, **ज्ञान-संस्कारों द्वारा...** अर्थात् कि राग से... शरीर से तो भिन्न है ही। मात्र उसकी पर्याय में विकल्पों की वृत्तियाँ उठती हैं और उसी काल में वहाँ ज्ञान की पर्याय है। उसे भेद करने की बात है। सवेरे आया था न ? गति आदि और रागादि प्राप्त होने पर उसकी दृष्टि वहाँ होने से उसे चैतन्यस्वरूप अन्दर ध्रुव है, उसका लाभ नहीं होता।

गति आदि और रागादि दोनों को आत्मा प्राप्त करे अन्दर, वह पर के कारण से नहीं और इसे प्राप्त करे, इसलिए उसे आत्मा का लाभ होता नहीं। अलौकिक मार्ग है, भाई ! राग जो है, उससे चैतन्य में जाया जाये, ऐसा नहीं है। तथा राग में विकल्प उठे, यह चैतन्य भिन्न हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, ऐसे जो राग बिना के अन्दर संस्कार पड़े, यह वहाँ है, परन्तु अब इसे

ध्यान ही नहीं। ... तत्त्वानुशासन में, जितना-उतना-उतना अन्दर प्रविष्ट होता है, उतना सम्यग्दर्शन, ऐसा कहा जाता है। ऐसे तो। वह सम्यग्दर्शन तो पूरा एक साथ होता है। यह आता है न आगे आत्मावलोकन में। कहा था। ऐसा क्यों रखा इन्होंने?

स्वसन्मुख के... भाई! यह तो जन्म-मरण रहित करने की बात है। यह कहीं साधारण धारणा से प्राप्त हो, ऐसा यह तत्त्व नहीं है। आहाहा! व्रत पाले या अपवास करे, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करे, विनय करे, उससे आत्मलाभ हो, ऐसी वस्तु नहीं है। क्योंकि पर सन्मुख की दशावाला भाव, वह दशा सब रागवाली है। आहाहा! उससे भिन्न करने के संस्कार... आहाहा! ऐसे **संस्कारों द्वारा जैसे-जैसे स्वरूप में स्थिरता होती जाती है,...** ऐसा कहते हैं। दृष्टि तो हुई है।

भगवान ज्ञायकस्वरूप है, ऐसी राग से भिन्न पड़कर स्वरूप का ज्ञान होकर प्रतीति हुई है, परन्तु फिर बारम्बार ज्ञान में—स्वभाव में शुद्धता के ध्येय को पकड़कर शुद्धता में जैसे भेद होता जाता है, वैसे-वैसे उसे शान्ति बढ़ती जाती है। वह क्रिया और व्यवहार करते-करते यह होता है, ऐसा स्वरूप नहीं है। ओहो! जन्म-जरा-मरण। भाई बात करते थे न? अर्जुनभाई आये थे। लड़का मर गया न? उसमें रुक गया। छह वर्ष का लड़का सर्प काटा न। ... रोवे तो मुझे विकल्प होता है। अरे... भाई! यह दो में से... क्या है? ऐसा कहते थे। परन्तु स्थिति पूरी होने की हो तब होता है, उसमें किसी की... इन्द्र उसे रख सके... (ऐसा नहीं) लोगों को खबर नहीं है कि तत्त्व क्या है।

सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं, भाई! प्रभु! तू अनन्त गुण का पिण्ड है, भाई! उसका स्वामी होकर, राग का स्वामीपना छोड़कर। शर्तें बहुत। यह भगवान आत्मा क्या चीज़ है, इसके भान बिना यह सब सामायिक और प्रोषध और प्रतिक्रमण करता है, वह सब अज्ञानभाव है। उसे वे लोग धर्म मानते हैं। आहाहा! समझ में आया? ज्ञायक चैतन्यस्वभाव ध्रुव, उसको ध्येय में लेकर उसके संस्कार पड़ते जायें एकाग्रता के, उसका नाम भगवान धर्म कहते हैं। यह सब ऐसे करूँ और वैसे करूँ, यह सब विकल्प उठते हैं, वह सब धर्म नहीं है। लोग कुछ माने बेचारे, जिन्दगी चली जाती है।

अन्तर्मुख दृष्टि में अन्तर आत्मा शुद्ध चैतन्य को अन्दर अनुभव करके। वह आत्मा

शान्तरस का उपशमरस का कन्द है। अकषायस्वभाव की मूर्ति प्रभु है। उसे अकषायभाव द्वारा अन्दर में जाने से... मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! धीरुभाई! सामायिक किये और प्रतिक्रमण किये शाम-सवेरे। अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध किये। अरे! धूल भी नहीं, सुन न! अभी आत्मा राग से भिन्न चीज़ है, उसका पता लिया नहीं और उसमें स्थिर होना है, वह चारित्र कहाँ से आया इसे? समझ में आया? करना अर्थात् स्थिर होना, जमना, परन्तु किसमें? कोई चीज़ हो उसमें न? तो चीज़ क्या है, वह तो दृष्टि में और अनुभव में आया नहीं। और उसमें चारित्र वह व्रत और तप उसे सच्चे आते हैं, तीन काल में नहीं हो सकता। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, ऐसे संस्कार में **राग-द्वेषादि भाव छूटते जाते हैं...** आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि होने से, उसमें जैसे एकाग्रता होती जाती है, वैसे-वैसे राग उत्पन्न नहीं होता। वैसे-वैसे राग नाश होता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का। लोगों ने कुछ का कुछ करके कुचल डाला है। कुछ मनाया है। अरे... प्रभु! तू कहाँ है? भाई! तू जहाँ है, वहाँ तो वीतरागता पड़ी है। कहीं विकल्प को अवकाश नहीं है। वह यह रखूँ, यह छोड़ूँ ऐसी वृत्ति का विकल्प का अवकाश नहीं है।

और वीतरागता बढ़ती जाती है। प्रथम वह स्वरूप ही वीतरागमूर्ति है, उसे भगवान आत्मा कहते हैं। जो वृत्ति उठे वह रागादि, वह आस्रवतत्त्व है। वृत्ति, विकल्प उठे, वह वास्तव में तो भावबन्ध है। भगवान तो अबन्धस्वरूप है। वह भावबन्ध के विकल्प से अबन्धस्वभाव में नहीं जाया जा सकता। बहुत गजब, भाई! ऐसा निरालम्बी स्वरूप, जिसे आलम्बन नहीं बाहर की वृत्ति... ऐसी चीज़ के ऊपर दृष्टि और अनुभव होने से उसमें स्थिर होने से राग-द्वेष घटते जाते हैं और वीतरागता बढ़ती जाती है, इसका नाम धर्म कहा जाता है। क्या कहना राग और क्या कहना वीतराग, इसकी खबर नहीं होती। समझ में आया?

इसलिए जहाँ तक मन (ज्ञान का उपयोग) बाह्यविषयों से छूटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर न हो, वहाँ तक आत्मतत्त्व की भावना करते ही रहना चाहिए। आहाहा! अकेला मक्खन भरा है। यह आत्मतत्त्व की भावना, आत्मतत्त्व भाव भावस्वरूप क्या है? आत्मतत्त्व अर्थात् उसका भाव-स्वभाव क्या है? ऐसा जाने बिना उस आत्मतत्त्व की

भावना, भाव में एकाग्रता नहीं हो सकती। भाव को चैतन्यस्वभावभाव को ज्ञान में भासन बिना... समझ में आया? उसमें स्थिरता (होती) नहीं। क्योंकि वस्तु क्या है, उसकी दृष्टि हुई नहीं और उसे चारित्र (हो जाये)। चारित्र क्या बाहर लटकता है चारित्र? वस्त्र छोड़े, स्त्री-पुत्र छोड़े, इसलिए चारित्र हो गया? आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम कदाचित् हुए तो वह विकल्प है, वह तो राग है। वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा!

ऐसा चैतन्य भगवान आत्मा, उसकी दृष्टि करके, फिर उसमें बारम्बार एकाग्रता का अभ्यास करके स्वरूप में स्थिर हो, वह वहाँ तक करना कि आत्मतत्त्व की भावना पूरी स्थिरता न हो, तब तक करना। आहाहा! यह करना नहीं? आहाहा! परमार्थ वचनिका में आता है कि आगम क्रिया सरल (लगती है)। इसलिए दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम करे और ऐसा माने कि मैं कुछ धर्म करता हूँ। और अध्यात्म के व्यवहार की भी उसे खबर नहीं होती। आता है न भाई? आहाहा!

आगम की जो व्यवहार की क्रिया शास्त्र की अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समिति, गुप्ति व्यवहार यह सरल (लगता है) इसलिए इसे विकल्प आता है, यह जानता है कि मैं धर्म करता हूँ। आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। तू ठगा गया है, भाई! यह अध्यात्म का व्यवहार भी इसे ख्याल में आता नहीं। देखो! क्या कहा? वस्तु तो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता, ऐसी जो पर्याय, वह अध्यात्म का व्यवहार है। ऐसी बात। समझ में आया? यह व्रत और तप, अपवास और यह सब विकल्प है, वह तो सब राग की क्रियायें हैं। वह तो आत्मा का व्यवहार भी नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

आत्मा का व्यवहार तो भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव उसे कहते हैं कि उसकी जाति में क्या भरा है, उसका जिसे भान हुआ है, वह ज्ञान और आनन्द में एकाग्रता होती है, वह आत्मा का व्यवहार है। तुम्हारे तो वहाँ जाना है ... गजरथ। बुलावे, लाखों रुपये खर्च करे। कुछ धर्म होता होगा या नहीं? ... कहाँ रहेगा? आत्मा में या आत्मा से बाहर? आहाहा! यह तो यहाँ कहते हैं प्र-भावना। विशेष प्रतिष्ठित कुछ भावना। स्वरूप आनन्द का नाथ है, उसे पकड़कर एकाग्र होना, वह प्रभावना है। आहाहा! कहो, दुनिया से निराला

मार्ग है भाई! वीतराग परमेश्वर ने कहा हुआ धर्म करना, वह अपूर्व और अलौकिक चीज़ है। आहाहा!

कहते हैं, दृष्टान्त (उद्धरण) देते हैं...

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युता ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

इस भेदविज्ञान की... पुण्य की क्रिया जो दया, दान, व्रत, भक्ति की, यह पुण्य की क्रिया का विकल्प है, उससे भिन्न करने का अभ्यास है। क्योंकि वहाँ धर्म है, क्रिया में धर्म है नहीं। आहाहा! अभी किया वह सब पुण्य होता है। जयन्तीभाई! यह मूर्ति को स्थापित करे, क्या कहा जाता है इसे? अंजनशलाका। ... यह तो सब जड़ की क्रिया है। उसमें कदाचित् राग की मन्दता का भाव हो तो वह पुण्य है, वह धर्म नहीं है। परद्रव्यानुसारी वृत्ति, वह धर्म नहीं। स्वद्रव्यानुसारी परिणति, वह धर्म है। आहाहा!

यह कहते हैं कि '**यह भेदविज्ञान अविछिन्नधारा के अर्थात् जिसमें विच्छेद न पड़े —ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से...** आहाहा! **वहाँ तक भाना...** जो राग का विकल्प है, उससे प्रभु आत्मा भिन्न है। उसे भिन्न करने की भावना कहाँ तक भाना? अखण्ड प्रवाहरूप से। आहाहा! ध्रुव स्वरूप है, उसे ध्येय में लेकर ध्यान करना। यह क्या? भाई! मार्ग ऐसा है। यह चैतन्यस्वरूप पूर्ण वीतरागस्वरूप है, उसे राग के विकल्प से भिन्न करके और उसमें स्थिर होना। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। यह तो अभी मुश्किल से पकड़ में आना कठिन (पड़े कि) क्या कहते हैं यह?

सम्प्रदाय में तो सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, अपवास करो, व्रत करो, सूर्यास्तपूर्व भोजन करो। वहाँ श्वेताम्बर में पूजा करो, भक्ति करो, यात्रा निकालो। दिगम्बर में जाये तो वस्त्र छोड़ो। आहाहा! कौन छोड़े? बापू! आहाहा! यह आनन्द का नाथ भगवान परमात्मस्वरूप विराजता है अन्दर तू। उसे परसन्मुख के झुकाव की वृत्तियों से पृथक् करके... भाई गये लगते हैं, नहीं? धीरुभाई गये? वे कहते थे, वह यह जमीन लेने की है न भाई जमीन। जमीन वह पड़ गयी है। ऐसा कहा किसलिए तुम करते हो? कि भाई! आत्मा के धर्म की बातें हैं। ऐसा कुछ बोलते थे वे। क्या कहलाये साधारण जमीन?....

कोई भी आत्मा जैन हो सकता है, ऐसा कहते थे। यह शशीभाई का दृष्टान्त दिया। सेठ! देखो, यह वैष्णव हैं, तथापि जैन का वाँचन करते हैं, विद्वान का। यह अभी कहते थे, हों! यह मोढ़ है। मोढ मोढ बनिया है। वैष्णव है। इनके बाप-दादा कर्ता माननेवाले थे। कुछ कहा था। वे ... कुछ किया था... समाज के लिये... सार्वजनिक। सार्वजनिक के लिये हो तो उसे एक-दो... प्रवचन... सार्वजनिक के लिये ही यह है। आहाहा! धर्म का स्वरूप जैन परमेश्वर कहते हैं, वह सार्वजनिक के लिये है। आहाहा! वहाँ तो एक हमारे हैं वैष्णव। वही जैन में आकर जैन की बातें करते हैं। डालते हैं भाई का। समझ में आया? नहीं कहते अपने बहिन का? बहिन...

यह वस्तु बापू! यह तो आत्मा की चीज़ है। जिसका आत्मा जो आत्मा है, उसे जाने, उसे आत्मा जैनपना प्रगट हो। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं। जैन तो विश्वधर्म अर्थात् जैनधर्म-आत्मधर्म है। आहाहा! अरे... प्रभु! ढेढ और भंगी हो तो भी धर्म प्राप्त कर सकता है। आत्मा है या नहीं अन्दर? अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योति प्रभु विराजता है। ऐसी चैतन्य की शिखा को पकड़ना, उसका नाम जैनधर्म है। यह कहाँ अमुक के लिये बात है। आहाहा! सर्वोदय तीर्थ ही यह है। सर्वोदय कहा है न, भाई! समन्तभद्राचार्य ने चौबीस तीर्थंकर की स्तुति में सर्वोदय कहा है। सर्व को समझ में आये और सर्व को सहज रीति से प्रगट हो सके, ऐसा यह मार्ग है। समुदाय सर्वोदय, यह ऐसा मानते हैं, सब प्रकार के जितने धर्म माने, उसका नाम सर्वोदय।

कान्तिभाई है न वहाँ मुम्बई। हॉस्पीटल नहीं? सर्वोदय हॉस्पीटल बड़ा। करोड़पति व्यक्ति मुम्बई। कान्तिभाई ... सर्वोदय। वहाँ तो अपने वाँचन पढ़ा था घाटकोपर। स्थानकवासी श्वेताम्बर बहुत लोग दस-दस हजार लोग व्याख्यान में (आते थे)। वहाँ सर्वोदय में। वहाँ अन्तिम था, नहीं? भाई के घर गये थे। नये हॉल में। ... घाटकोपर जैन की बस्ती बहुत है। सब आवे सुनने। क्या कहते हैं यह? यह सब अभी तक ... वर्ष से चली नहीं। अपने वाडा में से अलग पड़े और अलग पड़े, फिर कहते हैं यह क्या?

भाई! सुनो बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है, भाई! वाडा का मार्ग नहीं है यह। आहाहा! यह तो अभी याद आया। वैष्णव भी धर्म पाते हैं। ... लेने जाये न जमीन। ऐसा

कहे। यहाँ तो आत्मा अमुक वैष्णव और अमुक ऐसा, यह कहाँ है ? आत्मा तो आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ अनुभव का पिण्ड है। उसे अनुभव करना, उसे जानना, उसमें पंथ और वाडा कहाँ आया ? उसमें पक्ष कहाँ आया ? आहाहा ! यहाँ यह कहते हैं।

भगवान आनन्द का नाथ चिदानन्दमूर्ति प्रभु है। नारियल में जैसे गोला पृथक् पड़ा है; वैसे यह शरीर, वाणी और मन तथा पुण्य-पाप के विकल्प राग से प्रभु चैतन्य गोला भिन्न है। उसकी भावना कहाँ तक करना ? **विच्छेद न पड़े — ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से वहाँ तक भाना कि जहाँ तक ज्ञान, परभावों से छूटकर,...** बिल्कुल विकल्प से छूटकर **ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो जाये।** आहाहा ! चैतन्य भगवान अपने स्वरूप में स्थिर हो जाये, तब तक उसकी भावना करना। परन्तु यह क्या करना ? भाई ! ... वस्तु की स्थिति है। वस्तुस्वभाव सहजानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा है। वहाँ सहजानन्द ... स्वामी नारायण नहीं, हों ! एक महिला और ऐसा कहती है हमारे उमराला (में)। सहजानन्दी शुद्ध स्वरूप, ऐसा आवे न ? थे हमारे... भाई की माँ। हेमकुंवरबा। आहा ! यह महाराज सहजानन्दी कहते थे, वह तो स्वामी नारायण सहजानन्दी (हो गये वे) ? कुछ खबर नहीं होती।

सहजानन्द तो यह आत्मा सहज स्वरूपी आनन्द है, उसे भाना, भाना, लक्ष्य करना, उसका ज्ञान अर्थात् सहजानन्द। आहाहा ! ... गारियाधार मणिभाई न, वे ? तुम्हारे पास नहीं आयी ? ... परिवर्तन के बाद ... बैठे वहाँ बैठे। वह कहे कि महाराज ! सहजानन्द अर्थात् क्या ? आत्मा सहज आनन्द की मूर्ति है, उसका नाम सहजानन्द है। कुछ खबर नहीं होती और ... कहा था न एक बार लोगस्स में। लोगस्स में आता है न ? लोगस्स में नहीं आता ? 'ऐवं मअे अभिथुआ, विहुयरयमला।' भगवान जाने अर्थ की। किसे खबर, क्या कहते हैं ? पहाड़े बोल जाये, अर्थ की खबर नहीं होती, भाव की तो कहाँ से खबर ?

दशा और विशा के—दोनों का विवाद था लींबड़ी में। दशाश्रीमाली की वृद्धा थी। वह दो लेकर बैठते हैं न ? वह क्या ? घड़ी, उसमें वह णमोत्थुणं आया। उसे अर्थ आवे नहीं, भान नहीं होता। और दशा तथा विशा का विवाद दोनों के उपाश्रय में। उसमें वह महिला बोली कि विहुयरयमला के बदले विहा रोई मर्या। (उसे लगा) अपना विवाद यहाँ कहाँ से लोगस्स में आया ? कुछ भान नहीं होता। ... धर्म किसे कहना, इसकी खबर नहीं

होती। विहा रोई मर्या। वह कहे, विहा रोई मर्या। देखो तो सही अन्दर। वहाँ तो विहुयरयमला है। हे नाथ! हे परमात्मा! विहुय—वि-विशेष हुय आपने टाले हैं। रयमला। और सिद्ध हुए हो। रय अर्थात् आठ कर्म की रज और पुण्य-पाप का मल आपने टाला है। यह बात कहते हैं। पोपटभाई! यह सामायिक करते तब खबर थी अर्थ की? नहीं? अन्ध अन्ध...

यहाँ तो परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा धर्म पाया। उन्होंने कर्म के रज को आत्मा के आनन्द के ध्यान से टाला है और पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी मैल हैं, राग हैं, वह मल कहलाता है। रजकण, वह जड़कर्म है। उसे टालकर परमात्मा शुद्ध हुए हैं। वे ऐसा कहते हैं कि यदि तुझे सिद्ध होना हो तो राग से भिन्न पड़कर जहाँ प्रभु विराजता है शुद्ध चैतन्यघन आत्मा, वहाँ स्थिर हो। वहाँ जम, वहाँ आनन्द का भोजन जीम। जीम अर्थात् वहाँ आनन्द में जम जा। और आनन्द का भोजन कर। आहाहा! क्या होगी वह यह बात?

परभावों से छूटकर, ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) ठहर जाये।' परन्तु **ज्ञान का ज्ञान में ठहरना दो प्रकार से...** (जानना)। एक तो मिथ्यात्व का भाव टलकर सम्यग्ज्ञान हो। राग और आत्मा एक है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... आहाहा! उसे छोड़कर स्वरूप की दृष्टि करना, वह ज्ञान में स्थिर होना सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ कहलाता है। समझ में आया? फिर मिथ्यात्व नहीं आता। आहाहा! राग का भाव और स्वभावभाव दोनों भिन्न हैं, उस भिन्नता के भान में राग की एकता टूट जाये, तब उसे मिथ्यात्व का नाश होता है। तब वह आत्मा में सम्यग्दर्शन अपेक्षा से स्थिर हुआ, ऐसा कहा जाता है।

दूसरे, जब ज्ञान, शुद्धोपयोगरूप स्थिर हो जाये... आगे बढ़कर। अन्दर शुद्ध उपयोग आत्मा का जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसा ही उपयोग शुद्ध हो, तब अन्दर में स्थिर हुआ, ऐसा कहा जाता है। **फिर अन्य विकाररूप न परिणमें,...** आहाहा! ९२ गाथा में आया था अपने। ९२ गाथा प्रवचनसार। आगम कौशल्य से और सम्यग्ज्ञान के भान से मोहग्रन्थी छेदी है। आहाहा! छद्मस्थ मुनि कहते हैं। और वह ग्रन्थी हमने छेदी, वह अब फिर से उत्पन्न होनेवाली नहीं है। पंचम काल के मुनि, आप केवली नहीं और इतना अधिक (जोर)? आहाहा! ... यह गाथा। समझ में आया?

यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है। ऐसा कहते हैं। यह आत्मा स्वयं धर्म हो। वीतराग परिणतिरूप परिणमे, ऐसा हमारा मनोरथ है, कहते हैं। **उसमें विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है।** देखा! दर्शनमोह नहीं, बहिर्मोहदृष्टि है। आत्मा में धर्मरूप से होने में विघ्न करनेवाली एक बहिर्मोहदृष्टि अर्थात् क्या कहा? अन्तर के राग और ... नहीं। उसे राग को मेरा मानना, वह बहिर्दृष्टि, वह स्वरूप को प्राप्त करने में विघ्न करनेवाली है। आहाहा! कर्म विघ्न करनेवाला है, ऐसा नहीं। यह कहते हैं।

आगमकौशल्य... भगवान के ज्ञान में कौशल्यता द्वारा प्रगटी **तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण...** आहाहा! मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, उसके भान में वह मिथ्यात्व की गाँठ गल गयी। नाश हुआ। यह छद्मस्थ मुनि तुम पंचम काल के। केवली बिना, पूछे बिना तुम इतना अधिक कहते हो! समझ में आया? यह बात तो दिगम्बर सन्त पुकारते हैं। दूसरे का भार नहीं। आहाहा! कहते हैं, **आगमकौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण...** अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम की गाँठ जो थी, उसे मेरा माना था, उसे आत्मज्ञान द्वारा नष्ट (हो गयी होने से)। इस क्रिया से यहाँ हुआ, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप का अनुभव होकर घात हो गयी है। **अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी।** चन्दुभाई! ... ऐसी बात है। समझ में आया?

पश्चात् भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। जैसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, वैसे अमृतचन्द्राचार्य। दिगम्बर सन्त वे तो नागा, बादशाह से आघा। जिन्हें जगत की कुछ पड़ी नहीं है। आहाहा! जिन्हें परमात्मा के आनन्द की लहर में जो मजा करते हैं, उन्हें दूसरी पड़ी नहीं है। यह कहते हैं, मैं मेरे आत्मज्ञान द्वारा अन्तर दृष्टि होने से, बहिर्मुख दृष्टि अन्तर्दृष्टि होने से नाश हो गयी है। आहाहा! समझ में आया? **अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी।** आहाहा! यह क्षयोपशम समकित में है, क्षायिक में नहीं। भगवान के पास जाये तो क्षायिक हो। ... स्वयं गये, इसलिए क्षायिक हुआ, ऐसा नहीं, परन्तु उसे क्षयोपशम क्षायिक होगा, ऐसी दृढ़ता उन्हें हो गयी। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें। **अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी।** अरे... नाथ! क्या कहते हैं यह? प्रभु! तुझे क्या हुआ? हम दुनिया से पागल हो गये हैं। हमारा आनन्द का नाथ जगा है, उस जगने द्वारा अन्धकार का हमने नाश किया

है। कितने ही कहते हैं न, सम्यक्त्व की क्या खबर पड़े ? वह तो केवली जाने। पंचाध्यायी में ऐसा पाठ है यह... विषय नहीं। आहाहा!

प्रत्यक्ष... ज्ञानी हैं। यह तो वेदन की अपेक्षा से ... समझ में आया ? संस्कृत है, हों! बहिर्दृष्टि जिसकी है। तो '**सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मन पुनर्भावमापत्स्यते।**' आहाहा! नित्यानन्द प्रभु विराजता है, वहाँ हम गये हैं। भगवान के पास गये थे, वह तो और (अलग)। भगवान विराजते हैं, महाविदेह में तीर्थंकर सीमन्धर प्रभु। ये ... पास गये थे। यह कहते हैं कि हम आत्मा में गये हैं। उन्हें वीतरागचारित्र प्रगट हुआ मेरा आत्मा... मुनिराज ऐसा कहते हैं कि हमारा आत्मा वीतरागचारित्ररूप परिणमा है। महाव्रत के परिणाम जो राग हैं, वह नहीं। आहाहा! वीतरागीचारित्ररूप हमारा आत्मा हुआ है। आहाहा! वीतरागीदृष्टिरूप हुआ है, वीतरागीचारित्ररूप हुआ है। आहाहा! वीतरागीचारित्र को तो अभी... आहाहा! यह क्या कहते हैं ? स्वर्ग में गये हैं परन्तु क्षायिक में सन्धि मारते गये हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त स्वर्ग में विराजते हैं। वहाँ देवरूप से हैं। वहाँ से (आकर) मुनि होंगे और क्षयोपशम समकित का नाश करेंगे (क्षायिक प्राप्त करेंगे)। समझ में आया ? सेठ! ऐसी बाते हैं, बापू! वह तो निमित्त... अलग है। लोग कहें न, इधर-उधर की लगायी है यह तो। यह तो अगम्यगम्य भगवान तीन लोक का नाथ विकल्प से ज्ञात नहीं होता, ऐसा जो निर्विकल्प अगम्य, वह गम्य हो जाता है। आहाहा! और गम्य होने पर जो विश्वास हो जाता है, हम प्राप्त दशा के सत् में से पड़नेवाले नहीं हैं। आहाहा! नवरंगभाई! हम प्राप्त भाव से अब पड़नेवाले नहीं हैं। आहाहा!

प्रभु! तुम्हें अवधिज्ञान नहीं और तुम पंचम काल के (मुनि, तुमको) मनःपर्ययज्ञान नहीं, केवली नहीं, और प्रभु! तुम केवली को पूछने गये थे ? ऐई! तुम भगवान के पास गये थे। आठ दिन रहे थे। पूछा था भगवान को कि अब समकित नहीं पड़ेगा, ऐसा भगवान ने कहा था ? आहाहा! यह हमारा भगवान कहता है। आहाहा! देखो! वीतरागी सन्तों की क्रीड़ा! और वापस कहा, वीतरागचारित्र है। पंच महाव्रत के परिणाम और वस्त्र-बस्त्र छोड़कर नग्न हो, वह साधनपना नहीं है, वह चारित्र नहीं है।

चारित्र तो जिसे आत्मदर्शन, जिसे ज्ञान का भान हो गया है अन्दर। वे उसमें— ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर वीतरागता, वीतरागीस्वरूपी चारित्र प्रगटे। समझ में आया? मेरा आत्मा स्वयं धर्म हुआ है। धर्म करता नहीं था, मैं धर्मरूप हो गया हूँ। देखो, यह सन्तों की वाणी! और दिगम्बर सन्त, वे सन्त; बाकी कोई सच्चे सन्त नहीं हैं। समझ में आया?

समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा निष्कम्प ही रहता है। अधिक विस्तार से बस होओ! जयवंत वर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म; जयवंत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्वोपलब्धि - कि जिसके प्रसाद से, वीतराग—सर्वज्ञ की वाणी हमारे निमित्त में थी, इतना सिद्ध करते हैं। आहाहा! ज्ञानतत्त्व (अधिकार) है। सवेरे चलता है, वह ज्ञेयतत्त्व (अधिकार) है। यह ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन। आहाहा!

यह शब्दब्रह्म, आत्मब्रह्म इन सर्व को जाननेवाली दशा जहाँ व्यापती है। शब्दब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थ को कहने में व्यापता है। ऐसी जो सर्वज्ञ की वाणी, वह हमारे स्वरूप को प्राप्त होने में निमित्त थी। हमने प्राप्त किया, तब उस वाणी को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? मोहनलालजी! ९२ गाथा आयी थी कल। कहते हैं कि जब तक राग से भिन्न पड़कर स्वरूप में स्थिर नहीं हुआ, तब तक भेदज्ञान भाना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

चक्रवर्ती की सभा में जाना हो, तब तो कितनी सभ्यता और योग्यता होनी चाहिए। यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर की सभा में कितनी योग्यता होनी चाहिए! आहाहा! यह गये थे और सुना था भगवान के निकट। प्रभु विराजते हैं। सीमन्धर तीर्थंकरदेव (विराजते हैं)। उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। संवत् ४९। आठ दिन रहे। वे अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं न कि 'भावयेत् भेदविज्ञान' यह कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय से हुई बात है। समझ में आया?

राग से भिन्न पड़कर, अभी तो राग किसे कहना, इसकी भी खबर नहीं पड़ती। यह मानो कि महाव्रत के भाव और दया, दान के भाव और वे सब राग के पोषक हैं। सुन न! वह राग है। आहाहा! उससे भिन्न पड़कर ज्ञान की भावना—स्वरूप की एकाग्रता वहाँ तक करना कि वहाँ से परभाव से छूटकर पूर्ण भाव में रमे, वहाँ तक भावना करना। आहाहा!

...द्रव्य, गुण और पर्याय का ज्ञान हुआ। वह करना जिससे निरन्तर होना। आहाहा! द्रव्य-गुण-पर्याय किसे कहना, इसकी खबर नहीं। द्रव्य, वह वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु और गुण उसकी ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियाँ और उनकी दशायें—अवस्थायें, उसे पर्याय कहते हैं। ऐसा द्रव्य, गुण और पर्याय का ज्ञान... कहते हैं, शुद्ध उपयोग में स्थिर हो जाये, फिर अन्य विकल्परूप न परिणमे, तब ज्ञान को स्थिर हो गया कहा जाता है।

जहाँ तक दोनों प्रकार से ज्ञान, ज्ञान में न ठहर जाए, वहाँ तक भेदविज्ञान की भावना करना। यह क्या है? गुजराती नहीं? इसमें किसी ने लाईन की है। चन्दुभाई ने की है? यह किसने लिखा नीचे?

अज्ञान ही संस्कार से मुझे विक्षेपित हो, *
ज्ञान ही संस्कार से स्वतः तत्त्व में स्थिर हो।

गुजराती में है। आहाहा! देखो, यह तो गुजराती में आया। यह गुजराती है न! यह नीचे किसने लिखा यह? ... लिखा है। यह नजर अभी गयी। किसने हाथ से लिखा है? है कोई इसमें? ... सेठ कहाँ गये? तुमने लिखा है यह? पीछे से। छोटालाल ने। मैंने आज देखा। कल लिखा। इसमें है। यह श्लोक गया न उसका है।

अज्ञान ही संस्कार से मुझे विक्षेपित हो,
ज्ञान ही संस्कार से स्वतः तत्त्व में स्थिर हो।

देखो, यह नहीं था यहाँ। उसमें न? हिन्दी में न? पाठ है पहला। नजर गयी। कल तक नहीं था। आज नजर गयी।

इस श्लोक में 'स्वतः' शब्द यह अर्थ सूचित करता है कि जीव स्वयं अपने सम्यक् पुरुषार्थ से अपने स्वरूप में स्थिर होता है;... उसे व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। ऐसा 'स्वयं' शब्द सूचित करता है। आहाहा! पण्डितों को कठोर लगता है। व्यवहार कहो, वह बन्ध का कारण? व्यवहार, वह निश्चय का साधन नहीं? सेठ! नीचे हरिगीत है। कहते हैं कि पाठ में स्वयं शब्द पड़ा है। ३७ में। है न?

---

* गुजराती छन्द का हिन्दी

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

'स्वतः' राग से, पुण्य से, दया, दान की क्रिया से यह आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह सब राग है। स्वतः अपने निर्मल स्वभाव से ही वह प्राप्त किया जा सकता है। उसे राग की और व्यवहार की-निमित्त की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! **अन्य किसी कारण से नहीं।** अपने सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा अन्दर में स्थिर हुआ जा सकता है। सम्यक् समकित भी अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो सकता है। किसी दूसरे कारण से है नहीं।

अब यह **मन के विक्षेप का और अविक्षेप का फल बतलाकर कहते हैं —** यह ३८वीं गाथा में कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ३८

चित्तस्य विक्षपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह -

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥ ३८॥

अपमानो महत्त्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते अपमानादयो भवन्ति। यस्य चेतसो विक्षेपो रागादिपरिणतिर्भवति। यस्य पुनश्चेतसो न क्षेपो विक्षेपो नास्ति। तस्य नापमानादयो भवन्ति॥३८॥

मन के विक्षेप का और अविक्षेप का फल बतलाकर कहते हैं —

चञ्चल-मन गिनता सदा, मान और अपमान।
निश्चल-मन देता नहीं, तिरस्कार पर ध्यान॥ ३८॥

अन्वयार्थ - (यस्य चेतसः) जिसके चित्त का (विक्षेपः) रागादिरूप परिणमन होता है, (तस्य) उसी के (अपमानादयः) अपमानादिक होते हैं; (यस्यचेतसः) जिसके चित्त का (क्षेपः न) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता, (तस्य) उसके (अपमानादयः न) अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

टीका - जिसका मन, विक्षेप पाता है अर्थात् रागादिरूप परिणमता है, उसको अपमानादि अर्थात् अपमान / अपने महत्त्व का खण्डन-अवज्ञा; मद, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि होते हैं परन्तु जिसके मन में विक्षेप नहीं होता, उसको अपमानादि नहीं होते।

भावार्थ - जिसका मन, राग-द्वेषादि विकारों से विक्षिप्त होता है, उसको ही मान-अपमानादि की वृत्ति होती है परन्तु जिसका मन, राग-द्वेषादिरूप नहीं परिणमता, उसको अपमानादि की वृत्ति उद्भवित नहीं होती; वह मान-अपमान में समभावरूप से वर्तता है।

मोह-राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दुःखी होता है परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष-मोहादि विभावों से रहित होकर, अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है, उसको मान-अपमानादि की कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं,

क्योंकि ज्ञानानन्द में लीन होने पर, कौन बहुमान करता है, कौन अपमान करता है;— ऐसा विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता; वह ज्ञाता-दृष्टारूप रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'ज्ञानी को शत्रु-मित्र के प्रति; मान-अपमान के प्रसङ्ग में; जीवन अथवा मरण के विषय में और संसार अथवा मोक्ष में समभाव-समदर्शिता वर्तती है।' जैसा कि कहा है—

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही समभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥
अपूर्व..... ॥

(अपूर्व अवसर, श्रीमद् राजचन्द्र, काव्य-१०)

जो जीव, ज्ञानभावना छोड़कर, अज्ञान से परसंयोग में मान-अपमान की बुद्धि करता है, वह अज्ञानी है। जिसको ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है — ऐसे अज्ञानी को ही बाह्यदृष्टि से एकान्त मान-अपमानरूप परिणमन होता है। ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है और ज्ञानस्वभाव की ही भावना द्वारा, ज्ञान की अधिकतारूप ही परिणमता है॥३८॥

पौष शुक्ल १५, सोमवार, दिनांक २७-१-१९७५, श्लोक-३८-३९, प्रवचन-४८

समाधितन्त्र।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥ ३८॥

टीका - जिसका मन, विक्षेप पाता है... जरा क्या बात करते हैं ? जिसे आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप है, ऐसा जिसे भान नहीं हुआ, उसे बाहर के अपमान-मान में उसका

चित्त अस्थिर हो जाता है। समझ में आया? **मन, विक्षेप पाता है अर्थात् रागादिरूप परिणमता है,...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है, उसकी जिसे अन्तर में महत्ता भासित नहीं हुई, उसे बाहर में मान-अपमान में सुख में अस्थिरता की दशा हो जाती है। सूक्ष्म बात है। यहाँ समाधि की बात है न! जिसे समाधि अर्थात् आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसा जिसे अन्तर भान होकर समाधि अर्थात् शान्ति का अंश प्रगट हुआ है, उसे मन अविक्षेप रहता है, उसे तो मान-अपमान से उसका मन अस्थिर नहीं होता। आहाहा! आचार्य दिगम्बर मुनि ऐसा कहते हैं।

उसको अपमानादि अर्थात् अपमान / अपने महत्त्व का खण्डन-... अज्ञानी को आत्मा के आनन्द और शान्ति का सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! उसे **अपने महत्त्व का खण्डन-...** अपनी महत्ता जो मानी हो, उसमें उसे खण्डन लगता है कि यह मेरा अपमान करे? आहाहा! उसे राग और द्वेष हो जाते हैं। उसे असमाधि होती है, ऐसा कहना है। जिसे आत्मा आनन्द शान्तिस्वरूप, सच्चिदानन्द आनन्द का सागर है, ऐसी जिसे सम्यग्दर्शन-दृष्टि हुई नहीं, उन जीवों को बाह्य में मान-अपमान में ठीक-अठीक हो जाता है। समझ में आया?

कुछ भी उसकी महत्ता में खण्डन हो, हीनता हो तो उसे अन्दर में राग का भाव और द्वेष का भाव उत्पन्न होता है। साधु हो बाहर से। अन्तर में आत्मा का स्पर्श सम्यग्दर्शन हुआ नहीं। जो निर्विकल्प स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, ऐसा अनुभव और उसका सम्यग्दर्शन हुआ नहीं। उसे चित्त में बाह्य की अनुकूलता-प्रतिकूलता में राग-द्वेष के विकल्प हुआ करते हैं। अर्थात् वह असमाधि में जाता है। आहाहा! जितना राग और द्वेष का विकल्प उठता है, वह सब दुःख और असमाधि है। समझ में आया? चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, परन्तु है तो वह राग दुःख और असमाधि है वह। आहाहा!

उस राग बिना का मेरा प्रभु शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम है। मेरे निधान में तो ज्ञान और आनन्द पड़े हैं, ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक् अर्थात् सच्ची श्रद्धा, सच्चा दर्शन। सच्ची श्रद्धा अर्थात्? देव-गुरु-शास्त्र सच्चे हैं, नव तत्त्व की श्रद्धा, ऐसा नहीं। आत्मा अणीन्द्रिय सहज आनन्द की मूर्ति है, ऐसा स्वसन्मुख होकर पर से विमुख होकर...

आहाहा! रागादि के, पुण्यादि के भाव से और बाह्य निमित्त से विमुख होकर, भगवान आत्मा के सन्मुख होकर जिसे शान्ति और सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है। सम्यग्दर्शन के साथ समाधि—शान्ति प्रगट होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया?

अनन्त गुण का भण्डार प्रभु, उसकी सन्मुखता की भावना जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे जितने संख्या से अनन्त गुण हैं, वे सब गुण उसका व्यक्त अंश प्रगट पर्याय में ले जाते हैं। आहाहा! समझ में आया? रात्रि में आया था न? रात्रि में न? सर्वगुण समकित, नहीं? श्रीमद् ने ऐसा कहा है 'सर्वगुणांश वह समकित'। अपने रहस्यपूर्ण चिट्ठी टोडरमलजी ने उसमें ऐसा कहा है, ज्ञानादिक एकदेश गुण हैं, (वे) सम्यग्दृष्टि को सब प्रगट होते हैं। प्रगट बतलाना है न? है उसमें यह? यह? यह नहीं।

चौथे गुणस्थानवर्ती... अभी सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान गृहस्थाश्रम में है। आहाहा! धर्म की पहली शुरुआत। ऐसे चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी, टोडरमलजी की। आहाहा! भगवान आत्मा संख्या से अनन्त-अनन्त गुण हैं उसमें। संख्या से। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र, जीवत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि अनन्त संख्या से गुण हैं। आहाहा! ऐसी अनन्त संख्या के गुण का धनी प्रभु आत्मा का जिसे सम्यग्दर्शन हो; आत्मदर्शन अर्थात् कि जैसा है, वैसा ज्ञान में भासित हो। आहाहा! समझ में आया? और जैसा है, वैसा उसे सम्यक्-सच्ची श्रद्धा हो, तब उसे अनन्त गुण का एक अंश सबका व्यक्त प्रगट हो जाता है। आहाहा!

उसे शान्ति का अंश आता है, आनन्द का अंश आता है, स्वच्छता का आता है, प्रभुता का आता है, कर्ता का आता है, कर्म का आता है। कर्ता, कर्म एक शक्ति है जीव की, गुण है। आहाहा! वह अनन्त गुण का अस्तित्व जो है अस्तिपना आत्मा का, उसकी अन्तर्दृष्टि होने पर प्रथम उसे अन्तर्दृष्टि होने पर उसे जितने गुण-शक्ति है, सत्त्वरूप से, उसका एक अंश प्रगट हो जाता है। आहाहा! यह तो अभी कुछ खबर नहीं होती और हम समकिती हैं और व्रत लो, तप लो, चारित्र लो। आहाहा! खबर नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। समझ में आया? है?

एकदेश प्रगट हुए हैं। प्रगट हुए हैं। आहाहा! तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को-

ज्ञानी को गुण सर्वदेश प्रगट हुए हैं। भगवान अरिहन्त को अनन्त गुणों की पर्यायें प्रगटरूप से परिणम गयी हैं। चौथे गुणस्थान में दूज उगी, तेरहवें में पूनम को पूर्ण हो गयी। आहाहा! समझ में आया? यह दूज उगती है न, दूज चन्द्रमा की? चन्द्रमा की दूज उगी है। चन्द्र के प्रकाश में सब अंश बाहर प्रगट हुए हैं। एक अंश सदा प्रगट होता है। इसलिए दूज के समय तीन (कला) प्रगट होती है। पूर्णिमा के समय पूर्ण सोलह अंश से कला चन्द्र में खिलती है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा को प्रथम जहाँ सम्यग्दर्शन से दूज उगे... आहाहा! तब उसे अनन्त गुण की एक अंश की व्यक्तता का वेदन आता है। आहाहा! उसे वह दूज उगी तो पूर्णिमा होगी ही। इसी प्रकार जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे केवलज्ञान पूर्ण ज्ञानादि की दशा व्यक्त होगी ही। आहाहा! ऐसा जो आत्मा का मोक्ष का मार्ग है, वह जिसे अन्तर में प्रगट नहीं हुआ, जाना नहीं, अनुभव नहीं किया, उस जीव को बाहर में मान-अपमान में संकल्प-विकल्प में मन दौड़ जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सेठ! क्या कहते हो?

मुमुक्षु : शुरुआत....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरुआत यहाँ से करना। यह तो कहते हैं कि शुरुआत यहाँ से करना। यह पैसा पाँच-दस लाख दिये, उससे धर्म की शुरुआत हो गयी। धूल में भी नहीं।

यहाँ तो आत्मा को सम्यक् अनुभव बिना व्रत और तप करे, वह तो सब लंघन है, राग की मन्दता क्लेश है। यहाँ तो शुरुआत भगवान आत्मा अस्ति—विद्यमान पदार्थ है, वह सत् का सत्त्व जो शक्तियाँ जो गुण जो स्वभाव से उसे अनन्त हैं, ऐसे अनन्त गुण का एकरूप का सत्त्व जो आत्मा, उसका सम्यक्त्व होकर अनुभव होने पर प्रतीति होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह शुरुआत यह है। आहाहा! सेठ! ऐसी बात है। अभी तो यह सब गड़बड़ चलती है। इसका यह करो, इसका यह करो और इसका यह करो और धूल करो। भाई! कौन करे यह? परपदार्थ उसके कार्य की पर्याय बिना का होता है कि जिससे तू अहंकार करे? आहाहा!

तेरे अतिरिक्त अनन्त आत्मायें और अनन्त रजकण जड, उनकी पर्याय हुए बिना वे रहते हैं? पर्याय अर्थात् हालत। वस्तु तो कायम है। उसकी हालतरूपी कार्य तो वह

जीवद्रव्य स्वयं करता है। उसमें यह कहे कि मैं उसका करूँ (तो) मूढ़ है। मिथ्याश्रद्धा के पाप को पोषण करता है। समझ में आया? उसे अन्तर में राग हो शुभ-अशुभभाव, उसका वह कर्ता होता है, करनेयोग्य है—ऐसा मानकर (करे), वह तो मिथ्यादृष्टि जीव है। आहाहा! उसे धर्म की खबर नहीं। क्यों? कि वस्तु जो आत्मा है, वह अनन्त गुण का चैतन्यपिण्ड है। उसमें कोई गुण विकार हो, ऐसा कोई गुण नहीं। अनन्त-अनन्त संख्या से गुण (होने पर भी) उसका कोई ऐसा गुण नहीं कि विकार करे। आहाहा! इससे वस्तु की दृष्टि (में) विकार का करना, वह दृष्टि में नहीं आता। विकार होता है परन्तु उसके सन्मुख होकर विकार करे, वह सम्यग्दृष्टि को नहीं हो सकता। आहाहा!

वीतराग का मार्ग सूक्ष्म है। लोगों ने बाहर से कल्पित कर डाला है। जीवदया मण्डली की। ... हो तो हो। उसमें सब धर्म (मानते हैं)। भगवान भूला है। समझ में आया? आहाहा! महामण्डल तो अन्दर अनन्त द्रव्य का पिण्ड पड़ा है। आहाहा! उसकी परसन्मुख की दिशा अर्थात् उसकी दशा है, भाई! अभी यह सब बातें ऐसी है। परसन्मुख की दिशा की जिसकी दशा है, वह सब राग-द्वेष और अज्ञान है। समझ में आया? उसे स्वसन्मुख की दिशा की दशा होती है। पूर्णानन्द का नाथ, उसकी दिशा उसकी ओर झुकने से जो सम्यग्दर्शन की दशा होती है, वह स्वसन्मुख की दिशा होने पर दशा होती है। आहाहा! कठिन समझना! उस सम्यग्दर्शन में समाधि और शान्ति आती है। कहते हैं कि जिसे ऐसी समाधि और शान्ति का अंश प्रगट हुआ, उसे बाहर के मान-अपमान से इसे चित्त अस्थिर नहीं होता। आहाहा! बात बहुत कठिन है। सब प्रमुखरूप से बैठावे सेठ को। दो-पाँच हजार लोग इकट्ठे हुए हों न, वापस बाहर बोले ऐसा (कि) तुम हमको निभाकर सक्षम करके... अन्दर गलगलिया (होते) हों। ... करके निभाव किया था। निभाने के लिये यह तुम्हारे काम हैं। फिर ऐसा बोले। पोपटभाई! यह सब खेल करते हैं सब। आहाहा! कहो सेठ! सेठ को। सामने अभी बैठना था कुण्डलपुर गजरथ में। कहो, सेठ! सेठ को वहाँ बैठना था सामने। अभी बैठना था सेठ को, कुण्डलपुर गजरथ में। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि जिसकी आत्मा की शान्ति समाधि और सम्यग्दर्शन नहीं, उसे बाह्य के मान-अपमान में चित्त की व्यग्रता हुए बिना नहीं रहती। समझ में

आया? यह कहते हैं देखो न! **रागादिरूप परिणमता है, उसको अपमानादि अर्थात् अपमान / अपने महत्त्व का खण्डन-अवज्ञा;...** हम अवज्ञा तुम्हारी नहीं मानेंगे... है? टीका में है। मद हो जाये उसे। हम बड़े हैं। घर में बड़े, परिवार में बड़े, जाति में बड़े, समाज में बड़े। ऐई... सेठ! कैसे होगा? ऐसा इसे मद होता है। वह कहा नहीं था परमात्मप्रकाश में? योगीन्द्रदेव मुनि हैं, दिगम्बर सन्त। परमात्मप्रकाश बनाया है न? उसमें एक श्लोक ऐसा रखा है कि इस पंचम काल में पैसेवाले लोग पूर्व के पुण्य के कारण कोई दो-पाँच, दस लाख, पच्चीस लाख, पचास लाख मिले, उसे उस पैसे से और वैभव से उसे अभिमान होता है कि मैं पैसेवाला हूँ। मैं कुछ खर्च करूँ। पैसा हम खर्च करें। धर्म के काम में पैसा हम दे सकते हैं। गरीब कहाँ से दे? ऐसा इसे मद चढ़ता है। ऐसा कहा। मद होने पर इसे मति का भ्रम हो जाता है। मति भ्रष्ट होने पर यह स्वरूप से भ्रष्ट वर्तता हुआ... आहाहा! गति में भटकने जाता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य भी कहाँ किया?

आचार्य ने तो इतना लिया। परमात्मप्रकाश है यहाँ। ऐसा कहे... खबर नहीं। यह रहा। योगीन्द्रदेव मुनि हुए। दिगम्बर मुनि योगीन्द्रदेव। '**पुण्णेणहोइ विहवा**' पुण्य के कारण वैभव मिलता है। पुरुषार्थ से नहीं। चतुर चतुराई करके व्यवस्था करे, इसलिए पैसा मिले, ऐसा नहीं है। कठिन बात। है? पुण्य से धन होता है। हिन्दी है। धन से अभिमान होता है। हम कमा सकते हैं, हमारे पास पैसा है। गरीब व्यक्ति है, उसे कमाना आता है कहीं? ऐसा करके मद करता है। योगीन्द्रदेव मुनि कहते हैं। दिगम्बर सन्त वनवासी। वनवासी थे। मुनि तो वन में रहते थे। यह तो सब गड़बड़ उठी है। आहाहा! धन से अभिमान और मान से बुद्धिभ्रम होता है, मतिमोह पाठ है (अधिकार-२)।

पुण्णेणहोइ विहवो, विहवेण मदो, मएण मति मोहो।
मइ मोहेणय पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥६०॥

मद अर्थात् मति है। मद, वह मति... आचार्य कहते हैं, **बुद्धि के भ्रम होने से पाप होता है, इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे।** आचार्य कहते हैं। दिगम्बर मुनि। परमात्मप्रकाश

है। आहाहा! कितनी बात की है! दिगम्बर सन्तों ने तो जगत को निहाल कर दिया है। क्योंकि वीतराग का मार्ग जो है सनातन, उसे जाहिर करके प्रसिद्ध किया है। आहाहा! उनकी एक-एक बात में सत्य की भणकार बजती है, परन्तु जिसे समझने की गरज हो (उसे)। आहाहा! है ? ऐसा पुण्य हमारे न होवे। पोपटभाई! कहो, गिरधरभाई! गिरधरभाई और सब गरीब हैं पैसेवाले। यह तो आनेवाले हों, वे आनेवाले हैं और न आनेवाले हों वे नहीं आनेवाले। मुफ्त का विकल्प करके राग में दौड़ जाता है। जो लक्ष्मी के रजकण जिसके पास आनेवाले हों, वे आते ही हैं। यह माँगे (या) न माँगे। जिसे नहीं आनेवाले हैं, वह माँगे तो भी नहीं आते। आहाहा! ऐसा नहीं कहते ? खानेवाले का नाम दाने-दाने पर लिखा है। अर्थात् क्या कहा, समझे ? दाना होता है न दाना, अनाज ? ... खानेवाले का नाम होता है। नाम तो कहाँ लिखा है ? परन्तु जितना खानेवाले के पास अनाज आनेवाला है, वही आयेगा। उसकी कल्पना से अनाज आवे, ऐसा तीन काल में नहीं है। क्या शब्द है तुम्हारे ?

मुमुक्षु : दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम। नाम का अर्थ वहाँ कहीं नाम लिखा है ? पण्डितजी!

मुमुक्षु : दाने-दाने पर मोहर लिख दी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मोहर यह। वहाँ कहाँ मोहर पाड़ी है ? जो रजकण जिसके पास आनेवाले हैं, वे आते ही आते हैं और जिसके पास रजकण नहीं आनेवाले हैं, वे नहीं आनेवाले, वे नहीं ही आते। यह मेहनत करके मर जाये रात-दिन तो भी नहीं आते। आहाहा! ऐसे वीतराग के वचन हैं। क्योंकि वह तो जड़ पदार्थ पर है। पर को लाने का क्या ? तू उसका स्वामी है ? आहाहा!

मैंने पैसे का सदुपयोग किया। जड़ का सदुपयोग होता होगा ? वह तो जड़ है, अजीव है। यह मिथ्या अभिमान है। आहाहा! भारी कठिन काम है, बापू! वीतरागमार्ग की दृष्टि और सम्यग्दर्शन की समाधि, यह अलौकिक बात है। इसके बिना सब चाहे जो करे दान, दया, व्रत और तप और कहते हैं कि हमने बालव्रत और बालतप किया। मूर्खता से

भरपूर व्रत है। समयसार है न? उसमें ऐसा लिखा है। यह तो लिया था। ...गाँधी। मोहनलाल गाँधी। प्रवचन में आये थे न वहाँ राजकोट? ...सब ... उनके साथ वह है न दूसरा कौन? महादेवभाई। ... तब यह आया कि जो जीव कुछ दूसरे का कर सके, दया पाल सके, यह मान्यता मूढ़ जीव की है। समयसार में है। '**मूढो अण्णाणि**'। मैं पर को जिला सकता हूँ, पर को सुख की सामग्री दे सकता हूँ—ऐसा माननेवाले, वे मूढ़ और अज्ञानी हैं। आहाहा! ऐसी कठिन बात, भाई! जगत को पचना भारी कठिन। मूढ़ है।

फिर एक बार नहीं आये थे? है न? नटुभाई आये थे। नटुभाई कहे, एक महाराज मुझे मूढ़ कहते थे, वे महाराज कहाँ हैं? मैंने तो कुछ व्यक्तिगत नहीं कहा था। मैंने तो सिद्धान्त है (वह कहा था)। उन्होंने कहा, महाराज मूढ़ कहते थे। वह व्यक्तिगत नहीं कहा था। वहाँ सिद्धान्त ऐसा है कि पर को मैं जीवन दे सकता हूँ, पर को जिला सकता हूँ, पर को बचा सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, पर को सुखी कर सकता हूँ, पर को दुःखी कर सकता हूँ—यह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! वीतराग त्रिलोकनाथ का यह कथन है। वस्तु अनन्त पदार्थ है, तो अनन्त पदार्थों में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। समझ में आया? मैं दूसरे को बन्ध करा दूँ, अरे! मैं दूसरे को मोक्ष कराऊँ, (यह भी) भ्रान्ति है। आहाहा! उसके अज्ञान बिना उसे बन्ध नहीं होगा, उसके ज्ञान से, राग से विवेक भिन्न किये बिना उसे मुक्ति होगी नहीं। यह तो उसके कारण से होता है। समझ में आया? दूसरे को मुक्ति करा दूँ... श्लोक है। बन्ध-मोक्ष।

भाई! परपदार्थ का बन्धन करता है, वह अज्ञानी राग के कारण करता है। पर करा सके बन्ध को? और वह जीव मुक्ति को प्राप्त करता है तो वह तो राग से भिन्न करके भेदज्ञान द्वारा उसे पाता है। वीतरागभाव से वह मुक्ति पाता है, उसे तू मुक्ति दे दे? मद है। समझ में आया? ... घर में सम्पत्ति होती है, (उससे) **घमण्ड होता है, अज्ञान से बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है और पाप से भव भव में अनन्त दुःख पाता है, इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है।** आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं अभी सुन, भाई! जिसे आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, जाननेवाला-

देखनेवाला ही क्रिया करनेवाला है, वह क्रिया। वह आत्मा दूसरी चीज़ करे, यह है नहीं। आहाहा! ऐसा जिसे भान नहीं, उसे मान-अपमान से चित्त में खण्डन-भंग हुए बिना नहीं रहता। राग और द्वेष उत्पन्न होता है। आहाहा! सेठ! अवज्ञा होती है, मद चढ़े, ईर्ष्या हो। यह साधारण लोग मेरे साथ तुलना करना चाहते हैं। ईर्ष्या होती है। बापू! तू किसके साथ करेगा ईर्ष्या? यह जगत की चीज़ें स्वतन्त्र उसके कारण से टिकती और परिणम रही है। जगत की चीज़ें उसके कारण से मुक्तरूप से टिक और बदल रही है। उन्हें तू किस प्रकार फेरफार कर सकेगा? भारी कठिन काम। 'होंशिडा होंश न कीजे।' यह सज्झाय आती है। यह हमने किया, इसका काम किया, अरे... भाई! रहने दे यह बात। यह मद और अभिमान के सब वाक्य हैं, भाई! अभी तुझे खबर नहीं।

भगवान तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। जगत है दृश्य और आत्मा दृष्टा। जगत है ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता। इसके अतिरिक्त क्या करेगा तू दूसरा? आहाहा! समझ में आया? ऐसा जिसे भान नहीं, उसे यह **ईर्ष्या, मात्सर्य आदि होते हैं परन्तु जिसके मन में विक्षेप नहीं होता,...** मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ मैं, मुझे उसने देखा नहीं। मेरा अपमान किस प्रकार करे? मुझे मान किस प्रकार दे? मैं कौन हूँ, इसकी तो उसे खबर नहीं, इसलिए ज्ञानी को मान-अपमान में से चित्त की क्षोभता नहीं होती। आहाहा! यह तो अन्तर के धाम की बातें हैं, भाई!

मोह-राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की... देखा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु की जिसे पहिचान नहीं, वह मोह और राग-द्वेष के विभाव में परिणमता **जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दुःखी होता है...** मुझे इसने पहिचाना, इसके कदप्रमाण में इसने मुझे मान दिया और मेरे कद के प्रमाण में मुझे बड़ा न करके अमुक को बड़ा किया। ऐसी कल्पना से मर जाता है। आहाहा! गजब बात है, भगवान! यहाँ तो वीतरागता की दशा कैसे प्रगट हो और अज्ञान कैसे प्रगट हो, उसकी बातें हैं। समझ में आया?

मोह-राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता... देखा! जो आत्मा के ज्ञानस्वरूप में नहीं वर्तता परन्तु राग-द्वेष और मोह में वर्तता हुआ **जीव ही मान-अपमान की कल्पना से**

दुःखी होता है... आहाहा! **परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष-मोहादि विभावों से रहित होकर,...** मैं तो राग और द्वेष से तो मेरी चीज़ भिन्न है, प्रभु! राग और द्वेष के विकल्प तो आस्रव हैं। वे आत्मतत्त्व नहीं। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव तो राग-द्वेष आस्रव हैं। वे आत्मतत्त्व नहीं। आत्मतत्त्व ज्ञायकतत्त्व है। ऐसा जिसे ज्ञानी को राग-द्वेष से भिन्न का भान है। आहाहा!

अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है, उसको मान-अपमानादि की कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं,... किसने मुझे बड़ा जाना, किसने मुझे हल्का माना। आहाहा! उस अज्ञानी को ऐसा होता है। आहाहा! धर्मी जीव को चित्त **राग-द्वेष-मोहादि विभावों से रहित...** हुआ है। अर्थात्? कि जिसने पुण्य-पाप और मोह, राग-द्वेष के भाव से भिन्न आत्मा को जाना है। आहाहा! समझ में आया?

समयसार ७२ गाथा में आया है। पुण्य और पाप के भाव सब अशुचि हैं। चाहे तो दया का, दान का, भक्ति का, व्रत का, पूजा का भाव, वह अशुचि-मैल है। आहाहा! भगवान आत्मा निर्मलानन्द है, ऐसा जिसे भान है, वह स्वयं विभाव से रहित भिन्न आत्मा को जानता है, इसलिए अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है। ऐसा कठिन काम, भाई! गृहस्थाश्रम में भी हमारे किस प्रकार करना? पूरे दिन स्त्री, पुत्र को निभाना। पुत्री-पुत्र बड़े हों, अच्छे घर में विवाह करना, लड़की को अच्छी जगह डालना और यह सब करना। कौन डाले? बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! परद्रव्य को अच्छी जगह डालना किस प्रकार? तेरा अधिकार है? आहाहा! ऐसी जो कल्पना में पड़ा है न, उसे मान-अपमान में चोट लगती है। परन्तु जिसने इस कल्पना से मेरी चीज़ भिन्न है। मैं तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु हूँ। जगत की आँख हूँ। जगत को देखनेवाला हूँ। जगत को फेरफार करनेवाला, वह मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे मान-अपमान आदि लाना, वह चाहिए नहीं। वह मान-अपमान में समभाव रहता है। थोड़ा लेंगे अभी।

मोह-राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दुःखी होता है परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष-मोहादि विभावों से रहित होकर, अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है, उसको मान-अपमानादि की कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं,

क्योंकि ज्ञानानन्द में लीन होने पर,... आहाहा! आत्मा वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का जानना, वह नहीं। वह तो प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप है। वह सर्वज्ञस्वरूप है। वह 'ज्ञ' स्वभावी प्रभु है। वह जब पर के अनुकूल-प्रतिकूलता में राग-द्वेष नहीं करता, तब आत्मा में लीन होता है। ओहो! मैं तो आनन्दकन्द हूँ। मेरा आनन्द तो मेरे पास है। मेरे आनन्द को दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं। दूसरा महिमा करे तो सुखी होऊँ, निन्दा करे तो नाराज होऊँ, ऐसा मुझमें नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग जगत को। कुछ सरल होगा या नहीं दूसरा? सरल में सरल है राख। राख को सरल कहते हैं न राख? भस्म। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू!

ज्ञानानन्द में लीन होने पर,... आहाहा! **कौन बहुमान करता है, कौन अपमान करता है;—ऐसा विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता; वह ज्ञाता-दृष्टारूप रहता है।** आहाहा! भरतजी घर में वैरागी। नहीं आता? भरत घर में वैरागी। छह खण्ड की बात। छियानवें हजार स्त्रियाँ। इन्द्र जिसके मित्र, हीरा के जिसे सिंहासन। मैं यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। आहाहा! मेरी चीज़ मुझसे भिन्न नहीं होती; भिन्न हो, वह मेरी नहीं। समझ में आया? भरतजी... यह दृष्टान्त तब नहीं दिया था? आता है न यह दृष्टान्त?

अंग में कछोड़ा पहनकर निकले गाँव में। उसमें कोई सोनी होगा। वह कुछ बोलता था कि यह भरत कहते हैं कि हम वैरागी। यह तो राज करते हैं और कितना मजा करते हैं। आता है न कथा में तो? भरतजी काला वस्त्र पहनकर रात्रि में... रैयत को देखने निकले। रैयत को खबर नहीं यह कौन है? एक सोनी बातें करता था कि भरत कहते हैं, हम धर्मी हैं, मेरे सब... राग करना और बड़ा महल रहने का। यह सवेरे बुलाया सोनी को। आओ... आओ... सोनी। उस सोनी को बुलाया। इतना समझते नहीं? सोनी को बुलाया यहाँ। यह तो नाटक करते हैं यह। अपने नाटक नहीं किया था? तुम्हारे नहीं? धीरुभाई या किसने किया था? नाटक। दूसरे कौन? नाटक आता है। यहाँ किया था।

भरत को आत्मज्ञान था और वैराग्य—पर से उदास थे, तथापि वे राज में दिखते थे, इसलिए अज्ञानियों को ऐसा हुआ कि यह तो राज का करे और मानते हैं कि मैं तो ज्ञानी हो गया। तब उनकी परीक्षा करने के लिये सोनी को कहा, हे सोनी महाजन! तुम्हें एक तेल

का कटोरा देता हूँ। तेल भरकर कटोरा। कटोरा समझे न ? खुल्ला। कलश दिया हो तो ऐसे दे। यह तो खुल्ला कटोरा तेल भरकर देता हूँ। गाँव में शृंगार होता है। गाँव में देखना। इस तेल से भरा हुआ ऐसा। तेल। देखो इसमें से तेल नीचे बूँद पड़ी तो पुलिस पीछे है, (वह) तलवार से सिर काट देगी। आता है या नहीं ? गाँव में सर्वत्र घूमो। गाँव में शृंगार किया हुआ है अयोध्या में। कैसे आये ? क्या देखा ? भाईसाहेब ! कहीं मेरी नजर नहीं गयी। कटोरे को व्यवस्थित रखना... अरे ! भाई ! हमारी नजरें आत्मा में हैं। हमारी नजर अन्यत्र नहीं है, भाई ! तुझे खबर नहीं। हमारे स्व में से न निकलें, ऐसा हमको अन्दर दृष्टि में पड़ा है। आहाहा ! ऐसे बाहर से कहते हैं कि यह स्त्री में है, यह रानी में है। बापू ! हम कहीं नहीं हैं। जैसे नारियल में गोला पृथक् रहता है, वैसे हम बाहर से पृथक् हैं। समझ में आया ? इसका नाम सम्यग्दृष्टि का लक्षण।

विशेष :- 'ज्ञानी को शत्रु-मित्र के प्रति; मान-अपमान के प्रसङ्ग में;... विशेष है न, विशेष। धर्मी को... धर्मी उसे कहते हैं। आहाहा ! जिसे अन्तर के स्वभाव का भान है। आहाहा ! अरे ! मैं जो हूँ, वह तो ज्ञान और आनन्द हूँ और जो यह विकल्पादि उठते हैं, वह मैं नहीं। आहाहा ! उस धर्मी का यह लक्षण है। धर्मी के लिये कुछ सिर पर आम उगे तो धर्मी है, ऐसा है कहीं ? और पापी के सिर पर बबूल उगे। बावल समझते हो ? बबूल-बबूल। देखा है ? भगवान ! यह मैं तो आत्मा हूँ, वह ज्ञान और शान्ति से भरपूर भण्डार है। ऐसा जिसे भान है, उसे बाह्य मान-अपमान में वह दौड़ नहीं जाता। आहाहा !

शत्रु-मित्र के प्रति; मान-अपमान के प्रसङ्ग में; जीवन अथवा मरण के विषय में... नीचे है न श्लोक श्रीमद् का ? श्रीमद् राजचन्द्र।

शत्रु मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते वही स्वभाव जब;
जीवन या मरण में नहीं न्यूनाधिकता,

आहाहा ! यह श्रीमद् अपूर्व अवसर में कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र। नाम सुना है ? छोटी उम्र में जातिस्मरण हुआ था। सात वर्ष की उम्र में। क्षयोपशमभाव और दृष्टि निर्मल सम्यक्। ३२(वें) वर्ष में कहते हैं।

जीवन या मरण में नहीं न्यूनाधिकता,
भव-मोक्ष में भी शुद्ध वर्ते समभाव जब... अपूर्व... १०

भव हो या मोक्ष हो, सर्वत्र वीतरागता वर्तती है, कहते हैं। आहाहा! भव हो तो भव को जाने, मोक्ष हो तो मोक्ष को जाने, ऐसा मेरा स्वरूप है। समझ में आया? आहाहा! इसका अर्थ यह। फिर दूसरा आत्मधर्म में से लिया है। **ज्ञानभावना छोड़कर, अज्ञान से जो जीव...** ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा की अन्तर की लाईन सन्मुख छोड़कर **अज्ञान से जो जीव परसंयोग में मान-अपमान की बुद्धि करता है,...** संयोग अनुकूल या प्रतिकूल, उसमें मान-अपमान की बुद्धि करे, **वह अज्ञानी है।** आहाहा!

जिसको ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है... मैं आनन्द और ज्ञानस्वभाववाला आत्मा हूँ, ऐसा जिसे भान है... आहाहा! उसे तो मान-अपमान की बुद्धि नहीं होती। पर संयोग के कारण होती नहीं, ऐसा कहना है। कोई अस्थिरता थोड़ी हो जाये, उसे वह गिनता नहीं। अज्ञानी को तो संयोग से हो जाये। बाह्य दृष्टि से एकान्त मान-अपमान में परिणमन हो जाता है। आहाहा!

ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। आहाहा! **किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो,...** धर्मी है, उसे वीतरागता (पूर्ण) न हो तो जरा अस्थिरता थोड़ी होती है। **वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है...** आहाहा! सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं। कदाचित् निर्बलता के कारण थोड़ी राग की अस्थिरता हो परन्तु वह मुझसे भिन्न है, ऐसा ज्ञानी जानता है। मुझमें वह वस्तु एकमेक है नहीं। आहाहा! मैं मेरे ज्ञान और आनन्दस्वभाव से अभिन्न हूँ। परन्तु वृत्ति जो उठी राग आदि, उससे भी (मैं) भिन्न हूँ। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि को अन्दर भान वर्तता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कठिन मार्ग, भाई! आहाहा!

भगवानरूप से विराजमान है। ऐसा कहे। चतुर लोगों को... तगड... पाँच-पचास हजार मिले, वह कहे, मैं दस हजार कमाता हूँ। ऐई! नहीं? बापू! यह सब बातें तेरी भ्रमणा की है। आहाहा! जो चीज़ें बाहर की आना-जाना, वह तो उसके अपने स्वकाल के कारण से आती-जाती है। आहाहा! समझ में आया? हमने... खर्च किये २५ लाख इस मकान में। सेठियाओं ने खर्च किये। सब भ्रम है, भ्रम। बात ऐसी नहीं है, भाई! उस काल में परमाणु

की पर्याय का परिणमन होकर वह होनेवाला था, वह होता है। तुझसे होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'मैं कर्ता ने तुम हो कर्ती कबीरो कहे जो ऐसी।' देखो तो सही, कितना काम किया! क्या करेगा बापू! इतने काम किये, मैंने इतने काम किये। आहाहा! भूखे को अनाज दिया, प्यासे को पानी दिया, रोगी को औषध दिया, जगह-ठिकाना नहीं था, उसे ठिकाना दिया। ठिकाना अर्थात् मकान। क्या दिया बापू तूने उसे? वह पर की चीज़ दे सकता है? यही अज्ञान है। उसमें उसे मान-अपमान हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! बहुत मार्ग... यह तो तलवार की धार का है। तलवार की धार पर चलना... 'धार तलवार की सोह्यली दोह्यली चौदहवाँ जिनतणी चरण सेवा।' चौदहवें अनन्तनाथ भगवान की स्तुति है। आनन्दघनजी कहते हैं। 'धार तलवारनी सोह्यली दोह्यली चरण सेवा...' आहाहा! 'धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।' परन्तु आत्मा की सेवा... आहाहा! यह सेवा, हों! धूल की नहीं। आनन्द का नाथ भगवान की सेवा में रहना, उसके निकट में रहना और राग में न जाना, यह कौन कर सकता है। धर्मी जीव कर सकता है। आहाहा! समझ में आया?

बाह्यदृष्टि से एकान्त मान-अपमानरूप परिणमन होता है। ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है... वह तो जिस काल में राग होता है, उस काल में ज्ञानी उसे भिन्न जानता है। ऐसा मार्ग है, भाई! चाहे तो शुभराग आवे भक्ति का, पूजा का, ज्ञानी को आता है, होता है परन्तु धर्मी तो उससे भिन्न हूँ, ऐसा जानता है। वह राग और मैं दोनों एक नहीं हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग!

ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है और ज्ञानस्वभाव की ही भावना द्वारा,... भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसकी एकाग्रता द्वारा **ज्ञान की अधिकतारूप ही परिणमता है।** राग से भिन्न स्वरूप है, ऐसी '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' ३१ गाथा आती है न? यह दया, दान, राग के भाव से मेरी चीज़ तो ज्ञानस्वभाव भिन्न है। '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' जो कोई यह पुण्य और पाप के विकल्प उठते हैं, उनसे मेरी चीज़ ज्ञानस्वभाव से अधिक अर्थात् भिन्न है। आहाहा! ऐसा धर्मी जानता है। उसे धर्मी कहा जाता है। आहाहा! यह ३८ हुई।

श्लोक - ३९

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह -

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥ ३९॥

मोहान्मोहनीयकर्मोदयात्। यदा प्रजायेते उत्पद्येते। कौ? रागद्वेषौ। कस्य? तपस्विनः। तदैव रागद्वेषोदयकाल एव। आत्मानं स्वस्थं बाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं भावयेत्। शाम्यत उपशमं गच्छतः। रागद्वेषौ। क्षणात् क्षणमात्रेण॥३९॥

अपमानादि को दूर करने का उपाय —

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष।
स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग॥ ३९॥

अन्वयार्थ - (यदा) जिस समय (तपस्विनः) किसी तपस्वी अन्तरात्मा के (मोहात्) मोहनीयकर्म के उदय से, (राग-द्वेषौ) राग और द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न हो जावें, (तदा एव) उसी समय वह तपस्वी (स्वस्थं आत्मानं) अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की (भावयेत्) भावना करे। इससे वे राग-द्वेषादि (क्षणात्) क्षणभर में (शाम्यतः) शान्त हो जाते हैं।

टीका - मोह से अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से जब पैदा हों-उत्पन्न हों; कौन (दो)? राग और द्वेष। किसको (उत्पन्न हो)? तपस्वी को। तब ही अर्थात् राग-द्वेष के उदय काल में ही स्वस्थ आत्मा की अर्थात् बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर (वापस हटकर) स्वरूप में स्थिर होते हुए आत्मा की भावना करनी। वैसा करने से राग-द्वेष क्षण में -क्षणमात्र में उपशमते हैं-शान्त हो जाते हैं।

भावार्थ - जब अन्तरात्मा की अस्थिरता के कारण, मोहवश राग-द्वेषादि उत्पन्न हों, तब चित्त को परद्रव्यों से हटाकर, स्वसन्मुख झुकाकर, शुद्धात्मा को भाना। वैसा करने से क्षणमात्र में राग-द्वेषादि शान्त हो जाते हैं।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और शरीरादि को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्धात्मा की

भावना करना ही राग-द्वेषादि विकारों के अभाव करने का उपाय है।

विशेष स्पष्टीकरण-

सम्यग्दृष्टि जीव को भूमिकानुसार राग-द्वेष होते हैं परन्तु उसको उस समय अन्तर में आत्मा का भेदज्ञान है। वह बाह्यनिमित्त और विकार को अपने आत्मस्वरूप से भिन्न मानता है; इसलिए उनको आदरता नहीं है। अवशपने-अस्थिरता के कारण जो राग-द्वेष होते हैं, उनको वह अपना स्वरूप नहीं मानता। उसकी दृष्टि तो अपने स्वरूप की ओर ही है। वह अस्थिरताजन्य राग-द्वेष का अभाव करने के लिए चैतन्यस्वभाव की ही भावना भाता है।

इसलिए सम्यग्दृष्टियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि -जब चारित्र की कमजोरी से राग-द्वेषादि विकारी वृत्तियों का उत्थान हो, तब आत्मस्वरूप की भावना करनी। उससे वृत्तियाँ शान्त हो जायेंगी। राग-द्वेषादि के शमन के लिए 'शुद्धात्मा की भावना' — यही एक रामबाण उपाय है॥३९॥

श्लोक - ३९ पर प्रवचन

३९। **अपमानादि को दूर करने का उपाय—**मान-अपमान को दूर करने का उपाय। यह समाधिशतक है। पूज्यपादस्वामी मुनि हुए हैं, तीसरी-चौथी शताब्दी में लगभग। ये भी भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान के पास गये थे। पहले लेख है। देव जिनके चरण पूजते थे। आहाहा! वे कहते हैं, मान-अपमान दूर करने का उपाय।

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥ ३९॥

यहाँ तो स्वयं की बात करते हैं न मुनि। नीचे के में नहीं। इसमें लिखा।

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष।
स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग॥ ३९॥

इसमें नहीं। नहीं न? यह भाई ने लिखा है। शान्तिभाई ने।

टीका - मोह से अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से... ऐसा। निमित्त से। **जब पैदा हों-उत्पन्न हों;...** राग। **कौन (दो) ? राग और द्वेष।** मोह का कर्म निमित्त, हों! मोह के कर्म से होता है, ऐसा नहीं। यह तो सवेरे बात आ गयी है। निमित्त कहा। उपादान स्वयं करता है, तब उसे निमित्त कहा जाता है। इस अर्थ के उल्टा मारते हैं फिर, देखो! मोहकर्म के कारण राग-द्वेष होता है। अरे... सुन न! राग-द्वेष तू करे, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

तत्त्व की दृष्टि करना बहुत कठिन है। कर्म को उदयभाव में उसे रखना और जीव स्वयं राग-द्वेष करे, उसे अपने आस्रवतत्त्व में जानना। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। अरे! ऐसा मनुष्यदेह चला जाता है, स्थिति पूरी होने के काल में। कितनों को तो ५० हुए, ६० हुए। और इस सत्य की शरण यदि मस्तिष्क में नहीं आये, भाई! कहाँ जायेगा? कहाँ उपजेगा? आँधी में तिनका उड़कर... वेटोळिया समझते हो? बबूला। उसमें तिनका होता है न तिनका, (वह) उड़कर कहाँ जाकर पड़ेगा? इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जिसे सम्यक् का भान नहीं, वह मिथ्यात्व के उडाऊँ में जाकर कहाँ जन्मेगा, भाई? आहाहा! ऐसा शरण चैतन्य है अन्दर को। उसे जानने, देखने, अनुभव करने की दरकार नहीं और जगत के पदार्थों को देखने, जानने और रखने... आहाहा! भाई! उसमें तू कहाँ आया इसमें? आहाहा!

कहते हैं, **मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से जब पैदा हों-उत्पन्न हों;...** तब **तपस्वी,...** अर्थात् मुनि को भी **तब ही अर्थात् राग-द्वेष के उदय काल में ही स्वस्थ आत्मा की...** स्व—स्थ। स्व-अपना ज्ञान-आनन्दस्वरूप में स्थ—उसमें स्थिर होकर अपमान को टाले। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण १, मंगलवार, दिनांक २८-१-१९७५, श्लोक-३९, प्रवचन-४९

टीका - मोह से अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से जब पैदा हों-उत्पन्न हों; कौन (दो) ? राग और द्वेष। यहाँ बात ऐसी ली है। ३९ की टीका, टीका। आत्मा पर का तो कुछ कर नहीं सकता, इसलिए यह बात तो करने की होती नहीं। आहाहा! अज्ञानी भी पर का नहीं कर सकता और ज्ञानी भी पर का नहीं कर सकता। आहाहा! यह बात। पहली यहाँ शर्त यह है कि इसके निर्णय में यह पहले आना चाहिए मैं एक आत्मा हूँ तो दूसरे आत्माओं का और दूसरे शरीर की किसी भी क्रिया को मैं कर नहीं सकता। समझ में आया ? समझ में आया ? यह सब काम तुम करते हो न सबके ? ऐई... गिरधरभाई! यह हमारे कार्यकर्ता थे।

मुमुक्षु : संस्था का काम तो करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं कर सकता। कौन करे ? रामजीभाई करते होंगे संस्था का ?

पहले इस सिद्धान्त की यथार्थता कि एक आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। पर को जिलाना, मारना, सुख-दुःख की सामग्री देना—ऐसा कुछ नहीं कर सकता और परपदार्थ के रजकण को और दूसरे आत्मा की अवस्था (स्वयं से) होती है, उसमें आत्मा क्या करे ?

मुमुक्षु : आत्मा तो शक्तिवान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना पुरुषार्थ अपने में करने के लिये है। अपने में। वह यहाँ बताते हैं कि पर का... जिसने यथार्थ की बात समझी हो, वास्तविक वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जिसे जानना हो तो पहला तो उसे यह निर्णय करना कि मैं आत्मा मेरे अस्तित्व में, मेरी विद्यमानता में हूँ। वह दूसरे की अस्ति में जाये तो पर का काम करे। यह तो कभी जाता नहीं। आहाहा! हसमुखभाई! क्या है यह ? यह सब टाईल्स-बाईल्स का करते हैं न ? आहाहा!

पहली तो यह शर्त वीतराग की। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ पहली शर्त में यह

कहते हैं कि यदि तू अनन्त आत्मायें और अनन्त रजकण हैं, ऐसा यदि मानता हो और ऐसा है, तो एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व का कुछ करे, मदद करे, सहाय करे—ऐसा तीन काल में नहीं है। एक बात। वहाँ बात अटकी। अर्थात् इस शरीर का भी कुछ करे आत्मा, (ऐसा नहीं है)। इस आत्मा के अस्तित्व में इस शरीर का अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व तो भिन्न है। भिन्न के अस्तित्व में भिन्न अस्तित्व कुछ प्रवेश किये बिना करे, ऐसा नहीं होता। प्रवेश नहीं कर सकता। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में बाहर लोटता है, परन्तु अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता। आहाहा! बहुत सिद्धान्त कठिन (पड़ें) जगत को।

इसलिए पहली तो शर्त यह कि जिसे सत्यार्थ और वस्तुस्थिति भगवान सर्वज्ञ कहते हैं, ऐसा जिसने जाना हो तो पहली शर्त में यह कि पर का आत्मा कुछ नहीं कर सकता। अब आया अपने में। अब अपने में भी जितने राग और द्वेष के भाव होते हैं, विकारी अवस्था होती है, उसका भी जहाँ तक यह राग और द्वेष के अस्तित्व का स्वीकार है और चैतन्य के आनन्द का स्वीकार नहीं , तब तक वह राग-द्वेष को करता और राग-द्वेष को भोगता है। सेठ!

मुमुक्षु : अज्ञानी क्या करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, राग-द्वेष करता है।

ऐसा कहा न ? कि पर का अस्तित्व पर में रहा; इसलिए पर का कुछ कर नहीं सकता। एक बात। अब रहे आत्मा में राग, द्वेष और पुण्य-पाप के भाव। यह अस्ति है... है, परन्तु इतनी अस्ति स्वीकार करनेवाला और चैतन्य ज्ञानस्वरूप आनन्द का नाथ है, उसका स्वीकार जिसे नहीं, वह राग-द्वेष का कर्ता होता है। यह तो वस्तुस्थिति ऐसी है, वहाँ (दूसरा क्या हो) ? समझ में आया ? दो अस्ति अपने में। पर की अस्ति में इसका प्रवेश नहीं, इसलिए उसका कुछ करना (कि) उसे सुधार दूँ, उस बिगाड़ दूँ या उसका यह कर दूँ, वह तो तीन काल में होता नहीं। आहाहा! अब रही बात इसकी दशा में पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव (होते हैं), वे हैं और एक ओर ज्ञायकस्वरूप ध्रुव चिदानन्दस्वरूप है। दो की अस्ति में जिसे विकार की अस्ति का ही स्वीकार है... आहाहा! और आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध चैतन्यघन के अस्तित्व का जिसे स्वीकार नहीं, वह राग-द्वेष का कर्ता होता है

और वह राग-द्वेष को भोगने संसार में जाता है। समझ में आया? यह तो सादी भाषा है। यह कहीं कोई बड़ा व्याकरण और संस्कृत नहीं है। आहाहा!

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी में यह आया कि तू दूसरे को... अपने सवेरे आया था, भाई! दूसरे को जिला नहीं सकता, मार नहीं सकता। यह सज्झाय में बन्ध अधिकार में आया था। आहाहा! वस्तु की स्थिति है। वस्तु जो आत्मा, उसकी अस्ति में दो अंश—एक त्रिकाली शुद्ध वस्तु और एक वर्तमान विकारी अवस्था का मलिन अवस्था का अस्तित्व। अब दोनों की सत्ता में यह दोनों सत्ता पर का तो कुछ कर नहीं सकती। भले उसे राग-द्वेष हो, शुभभाव दया का भाव आदि हो परन्तु वह कोई भाव पर की दया पाल सके, वह तो रुक गया, पर का तो कर नहीं सकता। आहाहा! पोपटभाई! यह सब ऐसी बातें हैं। अरेरे!

मुमुक्षु : अभिमान उतर जाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान उतर (जाये) और खोटा बड़प्पन (अभिमान) किया है। जहाँ हो वहाँ मैं करूँ... मैं करूँ। नरसिंह मेहता में आता है। नरसिंह मेहता हो गये हैं न अन्यमत में? 'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी, जैसे कुत्ता हाँके। आहाहा! इसी प्रकार दुनिया अपनी सत्ता की अस्ति को भूलकर पर की सत्तावाले तत्त्वों को मैं करूँ, ऐसा उसका अज्ञानभाव है। समझ में आया? इसलिए मैं पर को करूँ, ऐसा कर दूँ, दूसरे को मदद करूँ, वह कुछ है नहीं। वह वस्तु आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! भारी कठिन बात, भाई! यह वापस लड़के-बड़के को पढ़ावे, बड़ा करे, शिक्षा दे सके नहीं? रामजीभाई ने नहीं दी सुमनभाई को?

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सत्य को सुन तो सही! सत्य को सत्यरूप से क्या है, उसे सुन, भाई! तेरे सत् में वह परचीज़ है, वह तेरे सत् में है? और उसके सत् में तू जा सकता है कि जिससे वह तेरे पुत्र और तेरा पिता और तेरी स्त्री (हो)? पारसमलजी! आहाहा! भारी कठिन बात। कहो, सेठ! यह सेठ तो सब बहुतों का करे बैठा के। सामने बैठावे। न्याय से तुलना तो करनी चाहिए। न्याय अर्थात् नि धातु। नि में न्याय। न्याय अर्थात् ले जाना। जैसा सत्य का स्वरूप है, वहाँ ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। समझ में

आया ? जैसा वस्तु का स्वरूप जिस प्रकार से अस्ति विद्यमानपना है, उसे उस प्रकार से ज्ञान को ले जाना और ले जाने का नाम न्याय। आहाहा!

यह तो जरा ऊपर से आया है न इसमें ? इसलिए इसमें मुनि की बात है, समकिती की बात है। सम्यग्दृष्टि को तो पहली यह बात की है कि उस धर्मी को पर का करना,यह बात तो उड़ गयी है। है नहीं अब। अब दो बात—इसका त्रिकाली स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है और उसकी वर्तमान दशा में पुण्य-पाप के विकार हैं। यह इसकी अस्ति में है। परवस्तु तो इसकी अस्ति में नहीं। आहाहा! यह दो की अस्ति में जिसे चैतन्य ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आनन्द का नाथ प्रभु हूँ, ऐसी महासत्ता का स्वीकार नहीं, वह पुण्य-पाप की सत्ता का स्वीकार करके उसे करे और भोगे, वह अज्ञानदशा है। यह तो सब पानी उतर जाये, ऐसा है। बीमार पड़े थे, तब यह कहा था। यह बीमार वे पड़े थे न ? बीमार अन्त में ? वह नहीं ? मोटा। वह हसमुखभाई नहीं। हसमुखभाई बीमार पड़े थे ? हाँ ठीक, हसमुखभाई पड़े थे। उसमें दूसरे नम्बर के आये थे वे।

क्या कहना है इसमें ? आहाहा! नम्बरवार... अब आत्मा... सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं न, उसे न्याय में बैठ सकता है। यह आत्मा की सत्ता तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में जिसका अस्तित्व पूरा प्राप्त होता है। द्रव्य अर्थात् वस्तु; गुण अर्थात् उसकी शक्तियाँ और पर्याय अर्थात् उसकी हालत / दशा। उसमें सत् की समाप्ति तीन में है। उसका अस्तित्व तीन में है। तीन के अतिरिक्त दूसरे की पर्याय में और दूसरे में इसका अस्तित्व नहीं है। समझ में आया ? यह तो थोड़ा सूक्ष्म आया है न, इसलिए थोड़ा स्थूल करके ले जाना है अन्दर अब। आहाहा!

तब अब मेरे अस्तित्व में दो भाग। एक पूर्ण शुद्ध चैतन्य आनन्द और एक वर्तमान क्षणिक दशा में होती विकृत अवस्था। दो अस्ति। अर्थात् क्रीड़ा अब इसे दो अस्ति में रही। पर का कर नहीं सकता, इसलिए यह बात तो (रही नहीं)। अब दोनों की अस्ति में जिसे पूर्णानन्द का नाथ ध्रुवस्वरूप ज्ञायकभाव का अस्तित्व जिसे भासित नहीं हुआ, उसे विकार के भाव में अस्तित्व भासित होता है। वह अज्ञानी है। चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान का सागर, आनन्द का भण्डार, स्वच्छता का समुद्र... आहाहा! ऐसा प्रभु शुद्ध वस्तु, द्रव्य

वस्तु शुद्ध चैतन्यघन महाप्रभु की अस्ति जिसे दृष्टि में आयी नहीं, उसकी अस्ति का जिसे स्वीकार नहीं, उसे पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, उसकी अस्ति में यह उसे भासित होते हैं। शास्त्र भाषा में कहें तो पर्यायबुद्धि है, द्रव्यबुद्धि नहीं। इस प्रकार यह तो... समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें गजब भाई! मुम्बई में ऐसा कुछ मिले ऐसा नहीं है, हों! मुम्बई में बहुत सूक्ष्म पड़े। आहाहा!

अब इन दो अस्ति में जिसे पुण्य और पाप के विकारी भाव, वही अस्तित्व और उसमें मैं हूँ, वह मैं हूँ—ऐसा जिसने माना है, वह विकार के भाव को करे और विकार को भोगे। वह अज्ञानभाव और संसारभाव और भटकता भाव। आहाहा! अब जिसे यह अज्ञान पुण्य और पाप की विकल्प की क्षणिक वृत्तियाँ, उतना मैं नहीं, वह मैं नहीं। मैं शुद्ध चैतन्यघन ज्ञायक ज्ञाता-दृष्टा, जानने-देखनेवाले का पिण्ड प्रभु मैं हूँ, ऐसी जिसे स्वभाव की पूर्णता की शुद्धता की प्रतीति हुई, भरोसा आया, वह भरोसेदार आत्मा विकार की क्षणिक वृत्तियाँ होती हैं परन्तु उसका वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

यह तो सादी भाषा है, बापू! यह तो बहुत सरल। वीतराग परमात्मा ने... दिगम्बर सन्तों ने तो बहुत सरल कर दिया है। आहाहा! लोगों को यह बात सुनने को मिलती नहीं और उसी और उसी में—अज्ञान में ढँककर अरे रे! अनन्त काल इसने निकाला। परन्तु मैं एक अन्दर पर से तो निराला-भिन्न हूँ, परन्तु पुण्य-पाप के विकार की, विकल्प की दशा से भी—वह क्षणिक उपाधि मलिनभाव से मैं भिन्न हूँ। मैं तो निर्मलानन्द चैतन्यमूर्ति हूँ। आहाहा! ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यक् अर्थात् सच्ची श्रद्धा, सच्चा दर्शन (हुआ).... आहाहा!

पर तो नहीं परन्तु पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति परिणमे, वह मैं नहीं। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव होते हैं, उन्हें जानने की ज्ञान की वर्तमान दशा है। आहाहा! यह राग-द्वेष है, ऐसा जानती है ज्ञान की दशा। वह ज्ञान की दशा और राग-द्वेष की सत्ता पर, उसके अस्तित्व पर दृष्टि है, वह तो अज्ञानी है। क्योंकि भगवान पूर्णानन्द का नाथ तो सत्ता की श्रद्धा में वह रहा नहीं। आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है। पारसमलजी! आहाहा! पारसमणि ने स्पर्श किया तो लोहा सोना होता है। ऐसा भगवान मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! अरेरे! रंक की दशा की पामर दशा में प्रभुता को इसने परखा नहीं। समझ में आया?

पुण्य और पाप के, दया के और व्रत, भक्ति के, काम, क्रोध के भाव, वह पामरता, रंकपना है। उस रंकाई में रहा, उसे राजा चैतन्यमूर्ति पहिचान में नहीं आया। आहाहा! आत्मराजा चैतन्यप्रभु की उसे कीमत नहीं आयी। वह राग-द्वेष को करे। वह तो उसका— अज्ञान का काम है। राग-द्वेष करे और उन्हें भोगकर इस संसार में भटकता है। आहाहा! अब जिसे इसे राग-द्वेष की अस्ति का भी स्वीकार छूटकर, भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, एक समय की अवस्था जो राग-द्वेष को जानता है, यह ज्ञान की दशा, इतना भी मैं नहीं। उस ज्ञान की पर्याय को, उस काल में भले परसन्मुख ढली हुई हो, बाद की दशा को पूर्णानन्द मैं हूँ, इतनी एक समय की पर्याय / अवस्था जितना नहीं। मैं आनन्द और ज्ञान सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर प्रभु हूँ। आहाहा! ऐसा जिसे शुद्ध... निर्जरा में आया था न आज, नहीं? शुद्ध को जाने और शुद्ध को पावे। '**सुद्धं लहि अप्पाणं।**' निर्जरा (अधिकार) में आया था।

यह शुद्ध चैतन्य निर्मल है पूर्ण स्वरूप, उसे जो जानता है, उसे शुद्धात्मा प्राप्त होता है। उसे मैं शुद्ध हूँ, ऐसी पवित्रता की पर्याय में प्राप्ति होती है। आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, उसे धर्म कहते हैं। बहुत बातें, बापू! जगत से बहुत निराली बातें हैं, भाई! जगत कहीं फँस गया है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ सत् कहीं रह गया है। यह तो सादी भाषा है न, पारसमलजी! यह कल कहते थे, भाई, हों! वहाँ आये थे दोपहर में। बात तो गजब सरल भाषा में। मार्ग तो यह है, भाई! दुनिया को मिलता नहीं। दुनिया उलझकर पड़ी है कहीं।

मुमुक्षु : भाषा तो सादी है परन्तु.... कठिन।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सादी भाषा में पकड़ में आये ऐसी बात है या नहीं? हमारे पारसमलजी कल कहते थे, बहुत प्रसन्न हुए। सवेरे का व्याख्यान सुनकर। कल दोपहर में आये थे। बहुत सरस बात! सरल भाषा में, ऐसा कहा था। नहीं? आहाहा!

यहाँ तो तीन बातें हुई। एक तो परसत्ता और अपनी सत्ता, दो। अब परसत्ता में तो जीव का कुछ अधिकार नहीं। अब अपनी सत्ता के दो अंश। एक क्षणिक विकृत अवस्था का अंश और एक त्रिकाली शुद्धता का अंश। नय का विषय है न? आहाहा! नय का विषय तो अंश है न? और निश्चयनय का विषय त्रिकाल शुद्ध है, वह उसका विषय है। और व्यवहारनय का विषय वर्तमान राग की मलिनता और अल्पता, वह उसका विषय है। अब

वह विषय तो अनन्त बार माना, जाना, किया, भोगा, परन्तु इसने... श्रुत, परिचित, अनुभूता, आया है न? (समयसार) चौथी गाथा में है।

भगवान! भगवानरूप से तो बुलाते हैं, आत्मा को, हों! ७२ गाथा में। कहा था न कल? आहाहा! भगवान आत्मा। आहाहा! शुभ और अशुभभाव दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, काम, क्रोध के भाव, भगवान! वे तो मलिन हैं, अशुचि हैं, दुःखरूप हैं, आकुलता है। वस्तुस्वरूप आनन्द है, नित्यानन्द है, शान्त है, सुखरूप है। नवरंगभाई! यह तो अब सादी भाषा में समझ में आये ऐसा है। आहाहा!

यह जिसे अपनी अस्ति के दो भाग—विकार के भाव और त्रिकाल निर्विकारी का भाव। उसमें जिसने विभाजन करके महासत्ता का स्वीकार किया है... आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसे त्रिलोकनाथ वीतराग यह वीरशासन के वीर को २५०० वर्ष हुए न? वह यह इसे समझे तो निर्वाण महोत्सव सच्चा किया कहलाये। आहाहा! अखबार में बहुत आता है। धर्मचक्र निकाला, लोग इकट्ठे हुए, २५ हजार इकट्ठे हुए, २५ हजार इकट्ठे हुए और अमुक हुआ। वह तो एक शुभभाव है उस प्रकार का, परन्तु उसे ऐसा मान बैठे कि हम कुछ धर्म करते हैं। वह (धर्म) नहीं, बापू! समझ में आया? आहाहा!

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए, उनके कहे हुए यह सब वचन हैं। आहाहा! समझ में आया? सन्त-दिगम्बर मुनि आड़तिया होकर केवली का माल बेचते हैं। आहाहा! प्रत्यक्ष तो केवली ने देखा है न? नीचे (छद्मस्थ को) असंख्य प्रदेश, अनन्त गुण प्रत्यक्ष नहीं हुए। वेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष हुआ है, आनन्द की अपेक्षा से। आहाहा! परन्तु ऐसे असंख्य प्रदेश और एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण, ऐसे प्रत्यक्ष नजर में केवली को पड़ते हैं, छद्मस्थ को नहीं पड़ते परन्तु उसे आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसे भान द्वारा पूरा आत्मा आनन्द है, ऐसा भान होता है। वह यह केवली के वचनों में पूरा स्वरूप आया, उसका अनुवाद करके जगत को प्रसिद्ध करते हैं। जिसने प्रत्यक्ष देखा है। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! जगत की शैली कहाँ, परमात्मा का मार्ग कहाँ! समझ में आया?

अब कहते हैं, जिसने पुण्य और पाप के कृत्रिम क्षणिक, नवीन होते भाव से जिसने

दृष्टि उठाई है और महाप्रभु ध्रुव सत्ता ज्ञायकभाव, ऐसे अस्तित्व में जिसकी दृष्टि से स्वीकार किया है... आहाहा! उसे धर्मी कहते हैं, उसे ज्ञानी कहते हैं, उसे सुख के पन्थ में लगा हुआ कहते हैं। आहाहा! अब यह कहते हैं। यह आया, देखो! **मोह से अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से जब पैदा हों-उत्पन्न हों;...** राग और द्वेष। ऐसे धर्मी को अभी। समझ में आया? वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, चैतन्य है—ऐसा भान होने पर भी, पर्याय में निर्बलता के कारण मोहकर्म के निमित्त के संग में चढ़ी हुई दशा विकारी होती है। ऐसी गजब बात।

राग और द्वेष। किसको (उत्पन्न हो)? तपस्वी को। देखा! मुनि को। आहाहा! जिसने आत्मा पूर्णानन्द का नाथ वह मैं, ऐसा स्वीकार करके जिसे आनन्द का वेदन है, विकार की दशा को जिसने दृष्टि से उल्लंख दिया है और स्थिरता से भी जिसने उल्लंघा है, वह पहले जिसे मुनि को भी जो शुभराग अशुभ आता है... आहाहा! यहाँ तो शुभ का है। मुनि को तो शुभभाव आता है, अशुभ तो होता नहीं। आहाहा! वह तपस्वी कहलाते हैं। जिन्हें इच्छानिरोधरूप दशा (होती है), क्योंकि विकृत अवस्था, वह मैं नहीं; त्रिकाली मैं। ऐसी पर की इच्छा का तो जिसने निरोध किया है। आहाहा!

'क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुःखमूल।' यह इच्छा करके तुझे क्या करना है? पर के काम तो कर नहीं सकता। अब इच्छा हुई, वह तो दुःखरूप हुई। भान तो है कि वह मैं नहीं। परन्तु निर्बलता के कारण धर्मात्मा को भी... आहाहा! राग होता है। **तब ही अर्थात् राग-द्वेष के उदय काल में ही स्वस्थ आत्मा की अर्थात् बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर (वापस हटकर)...** अर्थात् क्या कहते हैं? कि राग-द्वेष हुआ जरा वृत्ति। छद्मस्थ है। स्वयं केवली नहीं, इसलिए होता है। और बाद के समय में उन्हें भिन्न करे, ऐसा नहीं है। भेदज्ञान तो हुआ है कि राग और द्वेष मैं नहीं। मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा। समझ में आया? ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति तो है। आहाहा! उसे वह राग हो, उस काल में ही उसकी भिन्नता भासित होती है। समझ में आया? भिन्नता की है, इसलिए उस काल में भिन्नता भासित होती है। कठिन बातें!

तब ही अर्थात् राग-द्वेष के उदय काल में ही... यह पूज्यपादस्वामी मुनि हैं न? सन्त हैं न? भावलिंगी मुनि हैं। णमो लोए सव्व आइरियाणं। आचार्य में यह बात है। आहाहा! यह कहते हैं कि हमको भी किसी समय, हम पूर्ण वीतराग नहीं हुए; इसलिए राग

की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसी काल में हम उसे भिन्न जानते हैं। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। चारों ओर की बात है। आहाहा! जरा ज्ञान को विकसित करना पड़े, भाई! यह कहीं ऐसी की ऐसी बैठ जाये, ऐसी बात नहीं है। अनन्त काल में किया नहीं, ऐसी अपूर्व बात है, भाई! अपूर्व। पूर्व में साधुपना पालन किया, मुनिपना लिया, अनन्त बार दीक्षा, अनन्त बार आचार्य, अनन्त बार साधु, अनन्त बार श्रावक (हुआ)... आहाहा! परन्तु मिथ्यादृष्टि है। त्रिकाली चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ, उसे स्पर्श किये बिना सभी क्रियाएँ की। वह संसार खाते रहकर भटका। आहाहा! समझ में आया?

तब कहते हैं कि मुनि को भी यह होता है। **उदयकाल में ही...** यह एक जरा... राग होता है, वीतराग नहीं, अर्थात् मुनि है। राग होता है, उस काल में ही उन्हें भिन्नता भासित होती है। राग हुआ और दूसरे काल में भिन्नता भासित हो, ऐसा नहीं होता। आहाहा! क्यों?—कि राग की क्रिया से पर स्वरूप भिन्न है अपना, पर अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप। समझ में आया? आहा! ऐसे भान में राग से, विकल्प से भेदज्ञान तो हुआ है और राग आवे, तब भी उसका भेदज्ञान ही वर्तता है। आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग सुनने को मिले नहीं, वह कब समझे? और कब जाये मार्ग में? आहाहा!

सवेरे कहा था, यह आत्मा आया कहीं। वहाँ इतने सब... यह शरीर आया, स्त्री आयी, पुत्र आये, दुकान आयी, पैसे आये। यह तो पथिक (मुसाफिर) को बीच में मिलाप दिखाने का मिला। आहाहा! पथिक जाता हो दूसरे गाँव। तो दूसरे गाँव देखे, स्त्री, पुत्र, भैंसे, बैल देखे, उसमें कहीं इसके हो गये? इसी प्रकार भगवान अनादि से पथिक फिरता-फिरता आता है। उसमें यहाँ आया, वहाँ शरीर और स्त्री, पुत्र, यह और यह। उसकी व्यवस्था करने में रुका। जो इसमें नहीं। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा! ऐसा सब किया है, भाई! आहाहा! उल्टा। बापू! इज्जत व्यवस्थित रखना, अपने पिता से चलती हो (वह) दुकान ठीक से चलाना। अरे.. भाई! यह क्या है यह? परपदार्थ के संयोग दिखते हैं, तब उसे संयोग की दशा को तुझे करनी है? समझ में आया?

अब अन्दर में संयोगीभाव होता है, (वह) भिन्न पड़े हुए भाववाले की बात है। समझ में आया? यह तो वाद-विवाद करे न कि मैं यह हूँ, पहुँच सके ऐसा नहीं। यह वस्तु ऐसी है। आहाहा!

उदय काल में ही स्वस्थ आत्मा की... अर्थात् ? ज्ञानी को—आत्मा के अनुभवी को, समकिती को, अरे ! मुनि को जरा राग और विकल्प होता है, उस काल में ही स्वस्थ प्रभु आत्मा, स्व—स्थ। स्व में रहा हुआ भगवान आत्मा, उसे **बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर...** उसे राग परलक्ष्य से जो उत्पन्न हुआ है, उससे स्वस्थ प्रभु, उसमें वापस राग से मुड़कर, आहाहा ! स्वरूप में स्थिर हो तो राग टल जाता है। दूसरी कोई क्रिया इसकी नहीं है। समझ में आया ? है ? **बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर स्वरूप में स्थिर होते हुए आत्मा की...** अर्थात् कि आत्मा स्वयं राग से भिन्न है, ऐसा तो भान है। उसमें वह राग आया जरा निर्बलता के कारण। आहाहा ! निर्बलता तो उसे कहते हैं कि जिसे वस्तु की सबलता का अनुभव हुआ है। अज्ञानी कहता है कि मुझे राग की निर्बलता है, परन्तु तूने किसके साथ मिलान किया ?

भगवान आनन्द का नाथ प्रभु शुद्ध चैतन्यघन, उसकी ऐसी सबलता और अनन्त पुरुषार्थ का जहाँ अन्तर में भान हुआ है, उसे राग की निर्बलता है, ऐसा कहने में आता है। अज्ञानी को तो राग, वही मैं हूँ, वस्तु वह नहीं। वह तो निर्बलता और सबलता सब उसमें ही है उसे तो। समझ में आया ? आहाहा ! अरे ! वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ विराजते हैं, महाविदेह में विराजते हैं। समझ में आया ? सभा में विराजते हैं, इन्द्रों के समक्ष वाणी निकलती है। भगवान के पास इन्द्र जाते हैं। आहाहा ! (उनके) पास यह कुन्दकुन्दाचार्य (गये थे), यह (पूज्यपादस्वामी) भी वहाँ गये थे। आहाहा ! पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि समकिती और चारित्रवन्त अन्तर्दशा को प्राप्त। यह नग्नपना और पंच महाव्रत के परिणाम, वह कहीं मुनिपना नहीं। आहाहा ! पंच महाव्रत के परिणाम के भी अभी तो ठिकाना नहीं है। परन्तु होवे तो वह पंच महाव्रत के परिणाम तो आस्रव है। वह मुनिपना नहीं, वह धर्म नहीं। आहाहा ! उस राग की वृत्ति से जिसने आत्मा को भिन्न किया है। ऐसा जो आनन्द का नाथ जहाँ जगकर उठा है... समझ में आया ? ऐसे शान्ति और आनन्द के भाव को जिसने राग की वृत्ति से भिन्न किया है, वह स्व—स्थ अपने में रहा है। वह राग में रहा नहीं। राग होता अवश्य है।

इसीलिए कहते हैं, देखो ! **स्वस्थ आत्मा की...** अपने में रहा है, ऐसे आत्मा की। यह तो कोई कथा नहीं, बापू ! यह तो वीतराग की वार्ता है। आहाहा ! **स्वस्थ आत्मा की**

अर्थात् बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर (वापस हटकर) स्वरूप में स्थिर होते हुए... अन्दर में स्थित तो है। राग आया। उसमें वापस मुड़कर स्थित इसमें होता है। आहाहा! गजब बातें भाई ऐसी। परमात्मा तीन लोक के नाथ का तो यह कथन है, भाई! उनका यह मार्ग—वीर का यह मार्ग है। अभी (भगवान महावीर के) २५००वें (वर्ष) मनानेवाले हैं। लोग कुछ धमाल करेंगे। परन्तु यह वीर का मार्ग तो प्रभु यह है। आहाहा! जिसका वीर्य स्वरूप को रचे, वह वीर का मार्ग कहलाता है। राग को रचे, वह भी वीर का मार्ग नहीं। आहाहा! पर को तो क्या रचे यह? धर्मचक्र और निकालेंगे न सब? वह तो जड़ की क्रिया है, उसके काल में होती है। उसे आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! यह तो पहले से कहा है। उसमें राग आवे, उस राग की रचना पर जिसकी दृष्टि है, वह तो स्वभाव को भूल जाता है। जो वीर्य का पिण्ड है प्रभु, पुरुषार्थ का पिण्ड है, ज्ञान का पिण्ड है, आनन्द का सागर है, जिसके गुण की अपरिमितता (अर्थात् कि) परिमित जहाँ नहीं, ऐसे गुण की अपरिमितता से भरपूर भगवान है... आहाहा! उसमें जिसकी दृष्टि नहीं, उसे तो राग पर दृष्टि है और राग को रचे, वह वीर का मार्ग नहीं है। आहाहा!

वीर का निर्वाण महोत्सव वह मना सकता है। पारसमलजी! यहाँ तो ऐसी बात है बापू! आहाहा! कि जो अपने आत्मबल को स्वभावसन्मुख झुकाकर राग से भिन्न करके राग को जीते और शुद्ध स्वरूप की निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान की रचना करे, उस वीर्य की रचना करे, उसे वीर कहते हैं। उसे वीर के पथानुगामी कहते हैं, वीर के अनुयायी कहते हैं। गजब बातें भाई!

कहते हैं, यह आत्मा की भावना करना। अर्थात् क्या कहा? कि पहले से राग से भिन्न है, उसमें तो रहा हुआ ही है, परन्तु जहाँ अभी राग आया है, तब वह जो आत्मा स्थित है, उसमें स्थिर करना। आहाहा! उसकी भावना करना। शुद्ध स्वरूप में एकाग्र होना, वह भावना। शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जरा अस्थिरता हुई थी, उसे भिन्न रीति से तो उस काल में जानता है। समझ में आया? परन्तु फिर ऐसे वाणी को स्थिर होना। आहाहा! वह राग को टालने का यह एक उपाय है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया? ऐसा यह क्या?

कितने ही ऐसा कहते हैं, ऐसा नया निकाला। पारसमलजी! यह सोनगढ़वालों ने नया निकाला, ऐसा कहते हैं। अरे! भगवान! नया नहीं बापू! यह तो अनादि का है। तूने

सुना नहीं था, इसलिए तुझे नया लगे, इससे कहीं नया है ? आहाहा ! बिल्ली के बच्चे को सात-सात दिन वह घुमा डालती है न बिल्ली ? फिर ४९ दिन हों, तब आँख खोलता है। ओहो ! यह तो पृथ्वी है। तूने आँख नहीं खोली थी, यह पहले भी थी। इसी प्रकार मार्ग तो यह है। तुझे खबर नहीं थी, इसलिए तुझे नया लगता है। समझ में आया ? पोपटभाई ! आहाहा !

वैसा करने से राग-द्वेष क्षण में -क्षणमात्र में उपशमते हैं... शान्तरस आत्मा का ऐसा जो अनुभव किया है राग से भिन्न करके सम्यग्दृष्टि ने (अनुभव किया है), वह इसमें स्थिर होता है, तब उपशमपना प्रगट होता है। शान्तरस प्रगट हुआ। राग आया वह तो अशान्त है। आहाहा ! लो, चेतनजी ! यह मुनि कहते हैं कि यह राग आया, वह अशान्त है। ज्ञानी को दुःख नहीं होता ? आहाहा ! भाई ! तूने जाना नहीं, बापू ! भाई ! जो आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसे राग से भिन्न जानने पर भी उसकी पूर्ण भिन्नता हुई नहीं और राग का भाव बिल्कुल गया नहीं, वहाँ तक ज्ञानी को राग अवश्य आता है, परन्तु उसका उसे उस समय भेदज्ञान होता है और वह राग उसे दुःखरूप लगता है। क्योंकि आनन्द का नाथ, उससे विरुद्ध की वृत्ति है, वह दुःख है। पंच महाव्रत के परिणाम भी दुःख है, विकल्प-वृत्ति का उत्थान है। आहाहा ! उसे दुःख होता है। यदि दुःख न हो तो पूर्ण आनन्द होना चाहिए। राग हुआ है, वह क्या है ? पूर्ण आनन्द नहीं हुआ। राग का दुःख है। आहाहा ! उसे आनन्द में आकर राग का नाश होता है। उसने राग नाश किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! इस आनन्द के अनुभव में आकर राग का नाश करता है अर्थात् होता है। उसे नाश किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! अरेरे ! बात-बात में अन्तर। 'आनन्द कहे परमानन्दा बातें-बातें फेर, एक लाखे तो न मणे एक त्रांबियाना तेर।' ऐसा आता है न ? उसी प्रकार भगवान तीन लोक के नाथ कहते हैं कि मुझे और तेरे प्रभु ! बात-बात में अन्तर है, भाई ! आहाहा ! समझ में आया ? यह लाखों का पल मिलना मुश्किल है, नाथ ! जिसे अभी निर्णय का, श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं, अभी यह श्रद्धा किसे कहना, इसकी खबर नहीं। आहाहा !

भावार्थ - अस्थिरता के कारण,... अस्थिरता किसे कहा जाता है ? जिसे अस्थिरता से भिन्न वस्तु का भान हुआ है, उसे। आहाहा ! एक नमूना लिया है न ! स्वयं अपनी जाति को देखे। आहाहा ! दिगम्बर सन्त भगवान के पथानुगामी, केवली के मार्ग में चलनेवाले।

कहते हैं कि धर्मात्मा मुनि को भी राग जरा अस्थिरता के कारण आता है। मोहवश जब अन्तर आत्मा पर के वश हो जाता है, उस राग वृत्ति में। आहाहा! भावार्थ है न? **मोहवश जब अन्तरात्मा की...** अन्तरात्मा की बात है, यह सम्यग्दृष्टि की। राग और पुण्य के भाव मेरे हैं, यह माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। क्यों? कि वह स्वरूप में उस राग के विकल्प नहीं हैं। यह परवस्तु तो नहीं, उसे मेरी माने, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, बहिरात्मा। परन्तु पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत के परिणाम वे वस्तु के स्वभाव में नहीं हैं। उस बहिर् वस्तु को अपनी मानना, इसका नाम बहिरात्मा, इसका नाम मिथ्यादृष्टि। आहाहा! वह जैन नहीं। गजब काम, भाई! समझ में आया?

अन्तरात्मा को... ऐसा शब्द आया है न? अर्थात् कि राग और द्वेष के भाव से भिन्न पड़ा प्रभु, पूर्ण स्वरूप का जिसे भान हुआ, उसे अन्तरात्मा कहते हैं। अन्तर आत्मा। अन्तर में जो चीज़ पूर्ण आनन्द और शुद्ध है, उसे प्राप्त की है, उसे अन्तरात्मा कहते हैं। और पूर्ण आनन्द के भाव को जिसने प्राप्त किया नहीं, उसने पुण्य-पाप के भाव को प्राप्त किया है, उसे बहिर् आत्मा कहते हैं। क्योंकि बहिर् है, उसे अपना माना है। अब स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये। आहाहा! ऐसा मार्ग होगा? मार्ग तो ऐसा ही है, भाई! समझने में इसे न आवे, इससे कहीं मार्ग बदल जायेगा? मार्ग तो मार्ग ही है। आहाहा! कहो, जेठाभाई! ऐसा मार्ग है।

तब चित्त को परद्रव्यों से हटाकर,... अन्तरात्मा को भी आत्मा के भानवाले भेदज्ञानी को भी। आहाहा! सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को चारित्रवन्त जिसे आनन्द प्रगट हुआ है, उसे भी जब मोह के वश रागादि की दशा उत्पन्न होती है, तब **चित्त को परद्रव्यों से हटाकर, स्वसन्मुख झुकाकर,...** आहाहा! जहाँ प्रभु को देखा है, वहाँ झुकाता है। आहाहा! यह तो भाई दूसरी बातें हैं।

वहाँ कहा था न एक बार? नहीं? (संवत्) १९६४ की बात है। भरूच। स्थानकवासी थे न हम तो सब। उसमें थे न ढुँढिया। हमारे पिता वे थे, इसलिए दुकान में साधु-बाधु आवे तो हम सम्हाल करें। आसपास लेने जायें। और हम ३० लोग घर में थे। और सब स्थिति दुकान की ऐसी। इसलिए (साधु को) लेने गये थे एक बार भरूच। मैं और फावाभाई थे।

मनहर के पिता। साधु को मिले। फिर नाटक था। चलो नाटक देखने जायें। डाह्याभाई घोळशा वांकानेर में। ६४ की बात है। संवत् १९६४। मीराबाई का नाटक। परन्तु वैरागी, हों! अभी के जैसे सब फिल्म और यह और यह (ऐसा नहीं)। आहाहा!... हाथ डाले, अरे! यह कहीं सज्जनता के लक्षण ऐसे हैं बाहर के?

उस समय तो ऐसे नाटक करे। मीराबाई आवे, साधु का संग करे। राणा कहता है, रानी! घर में चलो, पटरानी बनाऊँगा। आहाहा! मीराबाई कहती है, 'परणी मारा पीयुजीनी साथ, बीजनी मींढोळ नहि रे बांधुं।' यह मींढोळ नहीं बाँधते? विवाह करे तब क्या कहलाते हैं वह? कंकण। उस समय ऐसा वैराग्य। धुन चढ़ जाती थी। यह ६४ के वर्ष की बात है। संवत् १९६४। 'परणी मारा पीयुजीनी साथ,..' ईश्वर का नाम, उसे जो। 'बीजाना मींढोळ नहि रे बांधुं। नहि रे बांधुं रे राणा! नहि रे बांधुं, साधुडानी संगे हुं तो घेली थई। घेली थई रे राणा घेली थई। साधुडानी संगे हुं तो घेली थई।' धर्मात्मा कहता है कि मैं मेरे सन्त के संग और आत्मा के संग दुनिया से तो पागल हो गया हूँ। दुनिया माने... पारसमलजी! आहाहा! देखो तो सही!

यह **शुद्धात्मा को भाना।** आहाहा! **वैसा करने से क्षणमात्र में राग-द्वेषादि शान्त हो जाते हैं। भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और शरीरादि को भिन्न-भिन्न जानकर,...** पहली शुरुआत वापस की। शरीर, वाणी, मन, रागादि से (भिन्न) भगवान आत्मा का निधान खान, आनन्द की खान प्रभु, उस राग के विकल्प से और शरीर से भिन्न जानकर, वह भिन्न है, ऐसा उसे जानकर। आहाहा! समझ में आया? **शुद्धात्मा की भावना करना ही...** उसे धर्म के लिये करने का यह है, बापू! आहाहा! जीवदया मण्डली की, उसका प्रमुख हुआ, पैसा उगाहने गया, पचास हजार लाया वहाँ ऐसा होता है। ओहोहो! कहो, जेठाभाई! यह जेठा कहलाये बड़े। नहीं? ज्येष्ठ। ज्येष्ठ अर्थात् बड़े। यह जेठ कहते हैं न अपने? बापू! यह बड़े नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्दर स्वीकार में रह जाता है, बापू! आहाहा! इसकी महाअस्ति प्रभु की पूर्ण है, उसके सन्मुख की स्वीकार दशा रह जाती है, भाई! आहाहा! यह क्या किया तूने? राग किया हो और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। मिथ्यात्व को

पोषता है। सम्यग्दर्शन के ऊपर वह चोट मारता है। ओहोहो! सुजानमलजी! बहुत अपूर्व बात! आहाहा!

यह पण्डित अभी ऐसा कहते हैं न, यह सब सोनगढ़ का एकान्त है, ऐसा कहते हैं। सब बात ख्याल है, भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! तू क्या कहता है? किसे कहता है? तुझे खबर नहीं। ऐसा कि यह राग की क्रिया को धर्म मानते नहीं। अरे! सुन न, बापू! यह धर्म नहीं है। पंच महाव्रत के परिणाम, बारह व्रत के भाव, वह विकल्प और आस्रव है। वह वृत्ति का उत्थान होता है, वह स्वभाव नहीं है। समझ में आया? आता है, होता है, पूर्ण वीतराग न हो, उसे होता है। परन्तु ज्ञानी उसे दुःखरूप जानता है। और हेय जानता है। उसे उपादेय नहीं जानता, आदरणीय नहीं मानता। आहाहा! जगत को भारी कठिन काम पड़ता है। बापू! यहाँ तो भव के अभाव की बातें हैं। जिसमें भव का अभाव, वह तो स्वभाव में है। राग और मिथ्यात्व और शरीरादि तो स्वभाव में नहीं। इसलिए भव का तो अभाव स्वरूप में है। उसे पहुँचना तो भव का अभाव होगा। समझ में आया? दुनिया प्रसन्न हो, न हो, समाज समतौल रहे, न रहे—इसकी सन्तों ने दरकार नहीं की। सत् को जैसा है, वैसा उन्होंने प्रसिद्ध किया है। समझ में आया? आहाहा! **शुद्धात्मा की भावना करना ही राग-द्वेषादि विकारों के अभाव करने का उपाय है।** आहाहा!

सम्यग्दृष्टि जीव को... देखो अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि, तपस्वी सब। **सम्यग्दृष्टि जीव को भूमिकानुसार राग-द्वेष होते हैं...** राग-द्वेष न हो तो वीतराग हो जाये, केवली हो जाये। आहाहा! **परन्तु उसको उस समय अन्तर में आत्मा का भेदज्ञान है।** फिर भेदज्ञान करेगा राग आया उस समय नहीं और बाद में। ऐसा नहीं है। राग है, तब एकत्वबुद्धि होवे, तब तो भेदज्ञान है ही नहीं। आहाहा! उस समय अन्तर में आत्मा का भेदज्ञान है। **वह बाह्यनिमित्त और विकार को अपने आत्मस्वरूप से भिन्न मानता है; इसलिए उनको आदरता नहीं है। अवशपने-अस्थिरता के कारण जो राग-द्वेष होते हैं, उनको वह अपना स्वरूप नहीं मानता। उसकी दृष्टि तो अपने स्वरूप की ओर ही है। वह अस्थिरताजन्य राग-द्वेष का अभाव करने के लिए चैतन्यस्वभाव की ही एकाग्रता करता है।** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण २, बुधवार, दिनांक २९-१-१९७५, श्लोक-३९-४०, प्रवचन-५०

३९ की अन्तिम लाईन है। यह बात सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य कर कहते हैं। समाधि है न? प्रथम जिसे शुद्ध चैतन्य का अनुभव राग से और निमित्त से भिन्न पड़कर हुआ हो, उसकी यह बात है। पहले से क्या करना? वह यह करना। ज्ञायकभाव जो त्रिकाल शुद्ध है, उसका आश्रय लेना। संयोगी चीज़ राग और पर्याय का संयोग सम्बन्ध छोड़ना। समझ में आया? तब उसे वस्तु शुद्ध चैतन्यघन दृष्टि में, अनुभव में वह प्राप्त होता है। यह तो मूल बात की बात मिलती नहीं और ऊपर से करने लगे सब अब।

सम्यक्चारित्र, वह धर्म है। यह चारित्र तो महाधर्म है, बापू! चारितं खलु धम्मो। यह उसके ऊपर की बातें। दंसण मूलो धम्मो लिखा है न? तो इन्होंने यह लिखा है। मुद्रालेख। चारित्र, वही धर्म है।—श्री कुन्दकुन्दस्वामी। बात सच्ची है। परन्तु वह चारित्र किसे होता है? यह मानो क्रिया व्रत की और यह (चारित्र)। सम्यग्दर्शन मूल धर्म लिया न आत्मधर्म में? दंसण मूलो धम्मो। यह कहे, चारितं खलु धम्मो। सब देखा है न? अरे! भगवान! चारित्र तो बापू... चारित्र तो मुख्य वस्तु है, परन्तु वह किसे प्राप्त होता है?

मुमुक्षु : प्रतिमा ले उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! जिसे पहले आत्मा, जिसमें स्थिर होना है, ऐसा जो चारित्र, उस चीज़ का अनुभव और दृष्टि में आने के बाद की यह बात है। समझ में आया? पहले ऐकड़ा न हो और शून्य रखने लगे। ऐकड़ा के बाद शून्य आवे तो नौ को बढ़ावे। इसी प्रकार चैतन्यसत्ता शुद्ध सत्ता की प्रतीति अनुभव में आवे, तब फिर उसमें स्थिरता की क्रिया को चारित्र कहते हैं। आहाहा!

यहाँ आचार्य तो यह विशेष बात करते हैं। **सम्यग्दृष्टियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं...** ऐसा है न? आत्मा में आनन्द और श्रद्धा का भान हुआ। स्वरूप की प्राप्ति दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुआ। भगवान का भावभासन हुआ। शुद्ध चैतन्य भाव का ज्ञान में भासन हुआ। आहाहा! भावभासन समझते नहीं? यह तो सादी भाषा है। भावभासन समझते हो या नहीं?

भावभासन। भाव अर्थात् वस्तु जो चैतन्य द्रव्य है, उसका ज्ञान में भान हुआ, भान। भासन हुआ। उसका नाम भावभासन कहने में आता है। जो चीज़ है, वह उसके ज्ञान में आयी कि यह चीज़ है। समझ में आया? आहाहा! पहली ही बात में यह पहली बात है। ऐसे जीव को लक्ष्य कर पूज्यपादस्वामी (कहते हैं कि) समाधि का, आत्मा का अधिक आश्रय ले तो समाधि विशेष प्रगट होती है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, वह चैतन्यद्रव्य के—शुद्ध के आश्रय से (होती) है। ऐसा आश्रय होने के बाद भी धर्मी जीव को राग-द्वेष तो होते हैं, कहते हैं। राग-द्वेष हो जाते हैं। कहा न?

जब चारित्र की कमजोरी से... धर्मी को भी, आत्मा का भान है, उसे भी चारित्र की कमजोरी कही न? जिसे मात्र राग पर दृष्टि है और वस्तु की दृष्टि की खबर नहीं, उसे निर्बलता कहाँ से आयी? (उसे तो) सर्वस्व वह ही है। आहाहा! अरे! इसका मार्ग, वीतरागस्वभाव का मार्ग अलौकिक है, भाई! पहले इसकी स्वीकृति में हाँ तो करे। वस्तु चैतन्यस्वरूप अकेला आनन्द का कन्द है। वे कामदार गये या हैं? गये लगते हैं। कामदार नहीं आये? पालीताना गये? ठीक। मूलजीभाई के पुत्र के पुत्र। जैतपुरवाले आये थे। गये? भावनगर। उनकी बहिन अमेरिका रहती हैं। वह अमेरिका से आयी थी। यह पहले-पहले बात सुने। वहाँ तो कुछ होता नहीं। यह क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : पकड़ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ में नहीं आता। और उसका भाई कामदार तो ऐसा कहता था, हम तो अंग्रेजी में ऐसा कुछ... है या नहीं अभी आत्मा या यह अमुक, वह कहाँ है? आहाहा! बात सच्ची। यह नहीं कहा था शिवलालभाई का? तुम्हारे वढवाण में है न शिवलाल पानाचन्द। उसका भाई है, उस गढ़ के किनारे घर था न? क्या कहलाता है भाई वह बड़ी पदवी? आई.सी.एस. आई.सी.एस. में पास हुए। जॉर्ज के साथ। पहला नम्बर उसका था। ऐसा बुद्धिवाला। परन्तु हिन्दुस्तान के लोगों को पहला नम्बर नहीं देते, इसलिए पहला नम्बर उसे दिया और दूसरा नम्बर इसे—शिवलालभाई को दिया।

अब उसमें पास हुए और आये हमारे पास। (संवत्) १९७७ की बात है। कहा था। और गिरधरभाई के पिताश्री आये। दोनों आये। मैंने इतना पूछा, भाई! यह आत्मा है? कहा,

मैंने बहुत पढ़ा है। है या नहीं, यह अभी मैंने निर्णय नहीं किया। वे शिवलालभाई के भाई हैं। वढवाण। गढ़ के किनारे नहीं? धोली पोल में इस ओर में। आहाहा! मगनलाल हरखचन्द के मकान के बाद। हरखचन्द का मकान है न? मगन हरख। गिरधरभाई! मगन हरखचन्द के घर के पिछवाड़े में है। है न, सब देखा है न। आहाहा! वह ऐसा कहते थे, मैंने बहुत पढ़ा है। बुद्धि बहुत थी। पूरी अलमारी की अलमारी (पुस्तकें) पढ़े। याद रहे। ... परन्तु अज्ञानमय धर्म। आत्मा है या नहीं? अरे.. प्रभु! अभी तू है या नहीं? तू है या नहीं? यह है या नहीं, ऐसी शंका कौन करता है? यह शंका करनेवाला स्वयं है। परन्तु इसकी खबर नहीं होती। इस प्रकार का वातावरण ही दूसरा हो गया। यह करना और यह करना और यह करना और यह करना। संसार में बड़ी पदवी धूल की प्राप्त करना। यहाँ आवे तो कुछ पठन-बठन करना। परन्तु वस्तु क्या है? आहाहा!

चैतन्य ध्रुव सच्चिदानन्द प्रभु का अस्तित्व है। ऐसे अस्तित्व की विद्यमानता का स्वीकार दृष्टि में आये बिना वह वस्तु है, ऐसा उसका भरोसा कहाँ से हो? समझ में आया? आहाहा! उसमें कहा है न, भाई! गधे के सींग नहीं होते। तो उसकी श्रद्धा क्या? जो चीज़ नहीं है, उसकी श्रद्धा क्या? यह तो चीज़ है। यह वस्तु ज्ञायकस्वरूप चिद्घन आत्मा अनादि-अनन्त नित्यानन्द ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा है। आहाहा! उसकी अन्तर में स्वसन्मुख होकर, पर से विमुख होकर उसे प्रतीति में, ज्ञान में ज्ञेय में भासन होकर प्रतीति हो, तब फिर चारित्र क्या है, उसकी व्याख्या बाद में होती है। आहाहा! नवरंगभाई! यह तो पहले से कहे, यह चारित्र करो। परन्तु किसे चारित्र कहना, यह कुछ खबर है तुमको? यह वस्त्र बदले, नग्न हो गये, और कुछ क्रिया हो गयी चारित्र की? आहाहा! चारित्र में तो अनन्त पुरुषार्थ है, समकित की अपेक्षा भी अनन्त पुरुषार्थ है। आहाहा!

जो वस्तु है, उसमें अनन्त गुण—शक्तियाँ बसी हुई हैं। वह अनन्त-अनन्त गुण का साहेबा प्रभु आत्मा है। आहाहा! अरे! इसकी खबर नहीं होती, इसके ज्ञान में भास नहीं होता, उसकी प्रतीति की खबर नहीं होती और प्रतीति कैसे हो, इसकी विधि की खबर नहीं होती और उसे व्रत और चारित्र आ जाये। भाई! तू ठगा जायेगा, हों! लोग उसे मानेंगे। लोग तो कह देंगे कि ओहोहो! क्या त्याग किया? क्या व्रत पालता है? इससे कहीं तत्त्व का

स्वरूप यहाँ आ जायेगा? आहाहा! और दुनिया उसे रिपोर्ट... क्या कहलाता है वह? सर्टीफिकेट। दुनिया सर्टीफिकेट दे, उसका अर्थ क्या? आहाहा!

अन्तर स्वरूप एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा! वह है, ऐसा स्वीकार कब हो? वह है, ऐसे स्वभाव सन्मुख हो, तब हो। दूसरे कोई क्रियाकाण्ड से उसकी सन्मुखता हो कि भाई! ऐसे व्रत पालन करो, फिर निश्चय सम्यग्दर्शन होगा। ऐसा कहते हैं न कितने ही? यह... हुआ। उसमें लिखा। ... क्या करे? आहाहा! स्वयं प्रभु अनन्त शक्ति की प्रभुता का प्रभु है यह। २७ में तो कहा न प्रभु? पंचास्तिकाय में। मूल गाथा है। आहाहा! वह स्वयं राग-द्वेष करने को भी प्रभु है और राग-द्वेष टालकर स्वरूप को प्राप्त करने में भी वह स्वयं प्रभु है। अरेरे! यह बात इसे कान में न पड़े, इसकी जाति की सम्हाल कैसे हो? आहाहा! वर बिना की बारात जोड़ दी। यह बारात कहलाती है? मनुष्य का झुण्ड कहलाता है। इसी प्रकार जिसमें भगवान सम्मिलित नहीं, दृष्टि में आया नहीं। आहाहा! जिसकी प्रतीति में प्रभु कितना है, वह आया नहीं। आहाहा! उसके सब भक्ति और पूजा और शृंगार तथा यह व्रत, तप और क्रिया... आहाहा! बालव्रत और बालतप है, भाई! इसके आत्मा के लिये हित के लिये बात है। आहाहा! इससे इसे हीन दिखलाना है, ऐसा नहीं। वह तो स्वरूप ऐसा है भाई! आहाहा!

ओहोहो! चारित्र तो महापूज्य, इन्द्रों को पूज्य है। आहाहा! परन्तु वह चारित्र किसे होता है, भाई? जिसे जिसमें रमना है, चरना है... चारित्र अर्थात् चरना, जिसमें चरना है, वह चीज़ क्या है? पशु चरने जाते हैं या नहीं? तो जहाँ घास हो, वहाँ चरने जाते हैं या पत्थर में चरने जाते होंगे? आहाहा! एक व्यक्ति कहता था तब सणवरा में। नानालालभाई और सब आये थे न? ... के सही न। पूरे गाँव को जीमाया था। सब लेकर आये हुए, परन्तु काठी के यहाँ उतरे, इसलिए वे कहे, हम नहीं जीमेंगे। तुम काठी के यहाँ उतरे, काठी को और हमारे विरोध है। सणवरा है न? ...का गाँव। अभी राजकोट है। सणवरा है वींछिया के पास। वहाँ हम बैठे थे। वहाँ एक व्यक्ति आया। गाँव के दो। अपनी महत्ता बताने को। था तो साधारण। ७० की उम्र का है, परन्तु मानो पुराना बड़ा होगा, ऐसा बताना था, उन सेठियाओं को। सब नारणभाई और आये थे न। दो गाँव। एक सणवरा और दूसरा ... गाँव।

लाखणका। लाखणका। उनका, हों! गुलाबचन्दभाई का नहीं। यह दूसरा लाखणका। वे दोनों के लिये रसोई लेकर आये थे। पूरे दोनों गाँव को जीमाया। क्योंकि पहले-पहले हम गाँव में गये। नानालालभाई, बेचरभाई, सब आये थे। वे कहें, नहीं जीमेंगे। ठीक। उसमें एक कोली साथ में आया। हम जहाँ उतरे थे वहाँ (आया)। कोली। कोली नहीं? कोली जाति है। वह कहे, महाराज! यह भगवान का बुरा होगा। क्यों? कि इस गाँव में चारा नहीं होता। बेचारे पशु क्या चरें? सेठ! क्या कहा? चारा नहीं, घास नहीं। भगवान का बुरा होगा, हों! मेरे पास बोले। यह घास नहीं होती, पशु क्या खाये? यह लोगों को खाने के लिये तो बड़े ढ़ेर पड़े हैं। हे भगवान! तेरा बुरा होगा, हों! ऐसा कहे। बेचारे पशु बाहर जायें, घास न मिले, क्या करे? इसी प्रकार आत्मा में आनन्द का नाथ जगा नहीं, उसके अंकुर फूटे नहीं, इसके बिना चारित्र कहाँ से आये उसे? वह किसमें चरे? किसे अनुभव करे? किसे जीमे वह? इस राग को जीमे बापू! आहाहा!

भगवान का भोजन तो अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का भोजन आत्मा में है। आहाहा! कठिन जगत को। यह आता है न अपने? नहीं? भाई! नित्यानन्द भोजी। कलश में आता है। आहाहा! जिसमें—प्रभु आत्मा में... प्रभु! तुझे खबर नहीं, अतीन्द्रिय आनन्द का वह रसकन्द पड़ा है। आहाहा! अतीन्द्रिय वस्तु और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप वह है। ऐसा दृष्टि में-ज्ञान में ज्ञेयरूप से भासित हुए बिना सच्ची प्रतीति कैसे हो? और वह प्रतीति हुए बिना उसे चारित्र—चरना, जीमना, वह भोजन आनन्द का भोजन करना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! कठिन काम, भाई! शरीर से कुछ स्त्री-पुत्र छोड़ दिये, दो-पाँच-दस अपवास किये, जंगल में रहे, वह चारित्र नहीं, बापू! आहाहा! समझ में आया? वह आनन्दस्वरूप भगवान, यह विकल्प जो पुण्य-पाप के भाव से भिन्न प्रभु है, उस आनन्द का भान हुआ, अब आनन्द का भोजन करना, आनन्द में जमना, आनन्द में जमना और आनन्द में जीमाना। आहाहा! उस आनन्द में जीमना, जम जाना और आनन्द को जीमना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! अरे! चारित्र की व्याख्या कहाँ की कहाँ की लोगों ने (कर दी)।

यह यहाँ आचार्य कहते हैं कि समाधि। जिसे प्रथम भगवान आत्मा अकषाय

शान्तरस की समाधि हुई है। समाधि अर्थात् कि पर्याय में शान्ति आयी है। आहाहा! समझ में आया? समाधि अधिकार है न यह? अरे! शरीर से आठ वर्ष की बालिका हो प्रभु... कहाँ बालक है और कहाँ आठ वर्ष का है? वह तो अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा! उसका सम्यग्दर्शन में भान होने पर, बालिका को शरीरवाली बालिका को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अन्दर आता है। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन की समाधि कही उसे। ऐसे जीव को भी पूर्ण वीतरागता नहीं उसकी दशा में अभी, उसे कहते हैं कि राग के विकल्प आते हैं, होते हैं। देखा, है? **चारित्र की कमजोरी से राग-द्वेषादि विकारी वृत्तियों का उत्थान हो,...** जरा अस्थिरता के कारण वृत्ति उत्पन्न होती है। आहाहा! अरे! इसका मार्ग अलग, नाथ!

जिसने वस्तु को दृष्टि से कब्जे में लिया है। आहाहा! उसके राग की एकता का ताला टूट गया है। समझ में आया? राग और विकल्प जो है, चाहे तो अशुभराग हो या शुभराग हो, वह सब दुःखरूप है। उस दुःखरूप की भावदशा और आनन्दस्वभाव भगवान आत्मा दोनों की एकता जो की है, उसका नाम मिथ्यात्व और उसका नाम निधान को ताला लगाया है। आनन्द को कैसे विकसित करना, यह बात उसके पास नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्म किस प्रकार का यह? जैनधर्म ऐसा होगा? है?

अरे! भगवान! यह वस्तु है, भाई! आहाहा! वस्तु का स्वभाव है। 'वत्थु सहावो धम्मो।' वस्तु जैसे नित्य और अनादि-अनन्त है, वैसे उसका स्वभाव द्रव्य के साथ मिला हुआ... आहाहा! घड़कर तन्मय हुआ। ऐसे अनन्त गुण का स्वभाव, वह का वह स्वभाव का धारक प्रभु है। उसकी जहाँ स्वभाव की ओर की एकता हुई, उसे राग की एकता टूट गयी। राग भिन्न रह गया। परन्तु अभी भिन्न है। एकता टूटी परन्तु राग की अस्थिरता अभी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! उसे यह राग और द्वेष की वृत्तियाँ पुरुषार्थ की कमजोरी के-निर्बलता के कारण होती है, तब आत्मस्वरूप की भावना करना चाहिए। आहाहा! जो देखा है, जाना है, उसकी भावना करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा गजब धर्म।

यह लोगों को ऐसा लगता है कि यह भी ऐसा होगा? उसे कुछ व्रत पाले, अपवास

करे, साधन करे तो धीरे-धीरे होगा। अरे.. भगवान! राग की क्रिया करने से धीरे-धीरे वीतराग का आनन्द आयेगा? तुझे बात कठिन पड़ती है न, भाई! इसलिए तू सच्चे को उड़ाना चाहता है। भाई! ऐसे सत्य नहीं उड़ेगा। सत्य तो सत्य रहेगा। आहाहा! उसकी हाँ करने में पसीना उतरता है। व्यवहार की-राग की क्रिया से वह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकेगा तीन काल में। वह अपने स्वभाव की धारा से, अपने स्वभाव से जाना जा सके, ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसे भान में समाधि तो सम्यग्दर्शन की हुई। अब कहते हैं कि वह कुछ वीतराग हुआ नहीं अभी पर्याय में। वीतरागी स्वरूप आत्मा का है, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतीति में आया है। इसलिए आंशिक वीतरागता पर्याय में आयी, परन्तु अभी वीतरागता पूर्ण चाहिए, वह नहीं है। आहाहा! इसलिए उसे राग और द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। आहाहा!

भरतेश वैभव में एक बात आती है। भरतेश वैभव नहीं? भरत का अधिकार। क्षायिक समकिती सम्यग्दृष्टि जीव है। इन्द्राणी जैसी तो स्त्रियाँ हैं। एक (मुख्य) रानी की तो हजार देव जिसकी सेवा करते हैं। ऐसी छियानवें हजार स्त्रियाँ। आहाहा! कहते हैं कि भान है, तथापि राग की वासना खड़ी होती है और विषय की चेष्टा में जुड़ जाता है, तथापि वह विषय लेने के पश्चात् तुरन्त (ध्यान में निर्विकल्पता होती है)। ऐसा उसमें आता है, भरतेश (वैभव में)। समझ में आया? आहाहा! जहर पिया थोड़ा। आहाहा! अमृत के भान में होने पर भी ज्ञानी को भी ऐसी वासना-राग आता है, वह क्रिया हो गयी जड़ की। आहाहा! तुरन्त नीचे उतरकर ध्यान में जाते हैं। ऐसा लेख उसमें-भरतेश (वैभव) में है। है न अपने यह गुजराती। पहले हिन्दी था। फिर गुजराती है। आहाहा! वे ऐसे नीचे उतरे, आनन्द के समभाव में जाते हैं। आहाहा! आनन्द की अनुभूति की थी, उसी आनन्द में वापस विषय की वासना गयी और उसमें अन्दर उतरने लगे। आहाहा! यह दूसरे क्षण में, हों! यह कहते हैं। आहाहा! भरतेश (वैभव) में आता है। पूरा पढ़ा था पहले गुजराती। तब तो हिन्दी था।

जब उस वृत्ति का उत्थान धर्मी जीव को भी (होता है)। आहाहा! शुद्ध चैतन्य के आनन्द के भानवाला जीव भी साधक है न? इसलिए बाधक वृत्तियाँ अन्दर उत्पन्न होती है। समझ में आया? आहाहा! **तब आत्मस्वरूप की भावना करनी।** आहाहा! जैसा

भगवानस्वरूप से जाना था स्वरूप को, उसमें से जरा यह वासना आयी तो तुरन्त ही उसके अन्दर में जाना है। ओहोहो! उससे वृत्तियाँ शान्त हो गयी है। आहाहा! यह मार्ग भाई! अन्दर में आनन्दस्वरूप में जाने से, प्रभु आत्मा आनन्द का नाथ है, उसमें जाने से वे वृत्तियाँ शान्त हो जायेंगी, वे वृत्तियाँ टल जायेंगी। आहाहा! देखो! यह एक मार्ग, वृत्ति को टालने का उपाय।

और **राग-द्वेषादि के शमन के लिए...** राग-द्वेष के शमन के लिये। यह पुण्य और पाप की वृत्तियाँ आवें, उन्हें शमन करने के लिये **यही एक रामबाण उपाय है।** आहाहा! राम का बाण नहीं फिरता, वैसे यह भाव नहीं फिरता। आहाहा! यह एक ही उपाय है। आर्तध्यान, रौद्रध्यान विकल्प में हो जाये। समझ में आया? रौद्रध्यान तो अभी पाँचवें गुणस्थान तक है और आर्तध्यान छठवें गुणस्थान (तक है)। परन्तु कहते हैं कि वृत्तियों में वह राग की वासना का जहर जो अनुभव किया था... आहाहा! उसे बाद के पल में स्वरूप में स्थिर हुए। वे वृत्तियाँ तो गयी। परन्तु नयी न हो, इसलिए स्वरूप में लीन होना, तब वह राग शान्त हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! गजब ऐसी व्याख्या और ऐसा उपदेश। नवरंगभाई! आहाहा! लोगों को पसन्द नहीं पड़ता। आहाहा! जिसे आत्मा की गरज है, उसे पसन्द पड़ता है। आत्मा को छोड़कर रागादि की क्रिया से, निमित्त से... निमित्त का बहुत डाला है इसमें कर्म का, ऐसा होता है और वैसा होता है। अन्तर निमित्त कर्म है। बाह्य नोकर्म निमित्त है। भाई! भले निमित्त हो, सुन न! यह तो व्यवहार के...

मुमुक्षु : काम तो उपादान में होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम तो उपादान में होगा। बापू! आहाहा! उपादान-निमित्त के झगड़े, व्यवहार-निश्चय के झगड़े और क्रमबद्ध के। इन पाँच के झगड़े। आहाहा!

एक मिनिट में पाँच के झगड़े समा जायें ऐसा है। क्योंकि जिस द्रव्य की पर्याय जिस काल में जिस प्रकार की होनेवाली है, वह होती है। उसका उत्पन्न काल है। आहाहा! परन्तु यह इसे समझ में नहीं आता। कहे, नहीं। ऐसा होवे तो आत्मा को अधिकार नहीं रहता। परन्तु सुन तो सही! वस्तु भगवान आनन्द का नाथ होने पर भी उसकी पर्याय में अज्ञानी को भी जिस समय में जो राग होनेवाला है, वही होता है। ज्ञानी को भी उसी समय

में जो ज्ञान की पर्याय का काल, समकित का काल और राग का काल एक समय में है। आहाहा! उसे टालना हो तब, आत्मा के स्वभाव में वह नहीं, (इसलिए) वहाँ जाकर स्थिर हो। आहाहा! वह कोई बातों से वडा हो, ऐसा है?

यह परसन्मुख के झुकाववाला पुरुषार्थ जो राग का है, वह जिसमें राग नहीं, ऐसा जीव को जाना है, वहाँ जाकर स्थिर हो। राग शान्त हो जाये। आहाहा! उस राग का अभाव करने का यह एक ही उपाय है। समझ में आया? आहाहा! तब अमृतचन्द्राचार्य तो कहते हैं न कि यह कलुषित जो परिणाम होते हैं, यह टीका करते हुए उनका नाश हो जाये। आहाहा! भाई! यह वस्तु यह है (कि) मेरा झुकाव और घोलन तो द्रव्य पर जाता है। उस घोलन में-आश्रय में प्रभु है। वह आश्रय बढ़ता गया, उस स्वभाव में, टीका का विकल्प करते हुए नहीं। आहाहा! गजब अर्थ प्रभु! जगत को कठिन पड़ता है। वे कहते हैं, टीका करते हुए देखो निर्मलता जगती है। भाई! टीका के काल में निर्मलता... है।

मैं मेरे स्वरूप में चैतन्य के अन्दर में आश्रय में पड़ा हूँ, वहाँ आश्रय बढ़ना, ऐसा कहते हैं। ऐसा धर्म भाई! साधारण बेचारे गाँव के लोगों को बुद्धि थोड़ी होती है। अब उसे यह कहे तो... क्या कहते हैं यह? भाई! भगवान की भगवती वार्ता है। आहाहा! भगवान आत्मा की भगवती कथा है यह। यह भागवत कथा है। आता है न? नियमसार में आता है, भाई! भागवत कथा है। तेरा और मेरा... बापू! अब ऐसा अवसर फिर से नहीं मिलेगा, भाई! ऐसा अवसर मुश्किल से निगोद में से निकलकर अरे! तू यहाँ तक मनुष्य हुआ, तुझे जिनवर की वाणी कान में पड़ी, यहाँ तक आया, अब तू आग्रह छोड़ दे, भाई! आहाहा! लाख पण्डिताई हो, वह छोड़ दे पण्डिताई की बातें, बापू! आहाहा! स्वभाव स्वभावसन्मुख ढलना, वही पण्डित की पण्डिताई है। समझ में आया? **यही एक रामबाण उपाय है।** आहाहा!

श्लोक - ४०

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह -

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥ ४०॥

यत्रात्मीये परकीये वा काये वा शरीरेन्द्रियविषयसङ्घाते। मुनेः प्रेम स्नेहः। ततः तायात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य। देहिनं आत्मानम्। कया? बुद्ध्या विवेकज्ञानेन। पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये। काये आत्मस्वरूपे। योजयेत्। कया कृत्वा? बुद्ध्या अन्तर्दृष्टया। ततः किं भवति? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति॥४०॥

अब, राग-द्वेष के विषय को तथा विपक्ष को दर्शाते हुए कहते हैं —

हे मुनि! तन से प्रेम यदि, धारो भेद-विज्ञान।
चिन्मय-तन से प्रेम कर, तजो प्रेम अज्ञान॥ ४०॥

अन्वयार्थ - (यत्र काये) जिस शरीर में (मुनेः) मुनि का-अन्तरात्मा का (प्रेम) प्रेम-स्नेह है, (ततः) उससे (बुद्ध्या) भेदविज्ञान के आधार पर (देहिनम्) आत्मा को (प्रच्याव्य) पृथक् करके, (तदुत्तमे काये) उस उत्तम चिदानन्दमय काय में-आत्मस्वरूप में (योजयेत्) लगावे — ऐसा करने से (प्रेम नश्यति) बाह्य शरीर और इन्द्रिय विषयों में होनेवाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

टीका - जहाँ अपनी व पर की काय में / शरीर में अर्थात् इन्द्रिय विषय के समूह में मुनि का प्रेम-स्नेह होवे, वहाँ से अर्थात् शरीर से देही को अर्थात् आत्मा को व्यावृत्त करके -वापिस मोड़कर; किसके द्वारा? बुद्धि द्वारा-विवेक ज्ञान द्वारा; फिर उत्तम काय में अर्थात् पूर्व कथित काय की अपेक्षा, उत्तमकाय में-चिदानन्दमय काय में अर्थात् आत्मस्वरूप में उसको (प्रेम को) जोड़ना। किसके द्वारा? बुद्धि द्वारा-अन्तर्दृष्टि द्वारा। फिर क्या होता है? प्रेम नष्ट होता है अर्थात् शरीर के प्रति प्रेम नहीं रहता।

भावार्थ - अन्तरात्मा की चारित्रमोहवश बाह्य शरीरादि तथा इन्द्रियों के विषयों

में राग होवे, तो भेदविज्ञान द्वारा उपयोग को वहाँ से हटाकर, शुद्धात्मस्वरूप में जोड़ना चाहिए। वैसा करने से शरीरादि के प्रति होनेवाला प्रेम, नाश को प्राप्त होता है।

जिसका उपयोग चैतन्य के आनन्द में लगता है, उसको जगत के सभी पदार्थ नीरस लगते हैं, शरीरादि बाह्यपदार्थों के प्रति होनेवाला उत्साह उड़ जाता है और वह उस ओर से उदासीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

चैतन्यस्वरूप में उपयोग को जोड़ना ही राग-द्वेष के क्षय का उपाय है। इसके अतिरिक्त बाह्यपदार्थों के प्रति झुकाव रखकर, राग-द्वेष का क्षय करना चाहे तो वे कभी क्षय नहीं हो सकते। पहले तो देहादि से भिन्न और परमार्थ से रागादि से भी भिन्न — ऐसे चिदानन्दस्वरूप का भान किया हो, उसको ही उसमें उपयोग की लीनता होती है परन्तु जो जीव, देहादि की क्रिया को अपनी मानता हो अथवा राग से लाभ मानता हो, उसका उपयोग उस देह से और राग से वापस हटकर, चैतन्य में कैसे झुकेगा? जहाँ लाभ माने, वहाँ से अपने उपयोग को कैसे हटायेगा? नहीं हटायेगा।

इसलिए उपयोग को अपने चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र करने की इच्छावाले को, प्रथम तो अपने स्वरूप को देहादि से और रागादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए। जगत के किसी भी बाह्यविषय में अथवा उस ओर के राग में, कहीं स्वप्न में भी मेरा सुख अथवा शान्ति नहीं हैं; अनन्त काल से बाहर के भाव किये, परन्तु मुझको किञ्चित् भी सुख नहीं मिला। जगत में कहीं मेरा सुख हो, तो वह मेरे निज स्वरूप में ही; अन्यत्र कहीं नहीं; इसलिए अब मैं बाहर का उपयोग छोड़कर, निजस्वरूप में ही उपयोग को जोड़ता हूँ — ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मीजीव बारम्बार अपने उपयोग को अन्तरस्वरूप में जोड़ता है।

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और बाह्य इन्द्रिय विषयों की तुच्छता जानकर, अपने उपयोग को बारम्बार चैतन्यभावना में जोड़ने से, पर के प्रति होनेवाला प्रेम नष्ट होता है और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है॥४०॥

श्लोक - ४० पर प्रवचन

अब, राग-द्वेष के विषय को तथा विपक्ष को दर्शाते हुए कहते हैं— ४० गाथा।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥ ४०॥

मीराबाई एक बार कहते,

संसारीने सगपण काचुं, परणीने रंडावुं पाछुं।
संसारीने सगपण काचुं, परणीने रंडावुं पाछुं।

आहाहा! वह अब फिर से किसलिए कर? कहते हैं। वह तो ईश्वर को माननेवाली थी। ***अपनी मीराबाई तो यह बैठी।*** वह मीराबाई याद आवे तो यह चम्पाबहिन याद आवे। ***जैन के मीराबाई हैं।***

यहाँ कहते हैं... आहाहा! **जहाँ अपनी व पर की काय में / शरीर में अर्थात् इन्द्रिय विषय के समूह में...** इतनी व्याख्या की। आहाहा! यह शरीर या पर शरीर और उसमें और इन्द्रिय विषय के समूह में, पाँच इन्द्रिय की ओर के झुकाव में। आहाहा! **मुनि का प्रेम-स्नेह होवे,...** जरा वृत्ति हो जाती है। आहाहा! **वहाँ से अर्थात् शरीर से देही को अर्थात् आत्मा को व्यावृत्त करके...** आहाहा! शरीर लिया और फिर शरीर के प्रेम का अंश और यह पाँच इन्द्रिय के ओर के झुकाव का जरा प्रेम का अंश आवे, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वहाँ से अर्थात् शरीर से देही को अर्थात् आत्मा को व्यावृत्त करके... आहाहा! **वापिस मोड़कर; किसके द्वारा? बुद्धि द्वारा**- '**बुद्धया**' है न? तीसरे का पहला पद है '**बुद्धया**'। **विवेक ज्ञान द्वारा;...'बुद्धया'** का अर्थ विवेक ज्ञान द्वारा। आहाहा! यह राग जो हो वृत्ति जरा, उसे विवेक द्वारा अर्थात् उससे भिन्न तो जाना है, उस काल में भी भिन्न जानता है, परन्तु अब विशेष अन्दर स्थिर हुआ, उससे पृथक् पड़ जाता है। आहाहा! पंचम काल के सन्त ऐसी बात करें पंचम काल के जीवों के लिये। ऐई... सेठ! यह चौथे काल की बात है? पंचम काल के साधु हैं, वे पंचम काल के जीव को कहते हैं। चौथे काल के जीव कहाँ हैं अभी? आहाहा!

मुमुक्षु : अनादि के हैं सब।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि के हैं। आहाहा!

भाई! तेरा भगवान भी गजब। आहाहा! तो अब जब राग की वृत्ति हो तो भगवान में जाना न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह अब भक्ति करेंगे... ऐसा करेंगे, इसलिए हमारी वृत्ति जायेगी, ऐसा नहीं कहते? वह भी वृत्ति का उत्थान है। आहाहा! समझ में आया?

बुद्धि द्वारा-विवेक ज्ञान द्वारा;... आहाहा! **फिर उत्तम काय में...** आहाहा! **'तदुत्तमे काये'** भाषा देखो! आहाहा! कहते हैं कि इस ओर शरीर और पाँच इन्द्रिय के विषयों का झुकाव, वह परकाय में जरा प्रेम है। उसे स्वकाय का प्रेम स्व आत्मा स्वयं... है? **'तदुत्तमे काये' विवेक ज्ञान द्वारा; फिर उत्तम काय में...** प्रभु आत्मा वह उत्तम काय है। आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द से भरपूर वह शरीर है। उसका ज्ञानशरीर है, उसका आनन्दशरीर है, उसका शान्तशरीर है। यह शरीर ले! आहाहा! काया में जाता है अर्थात् शरीर के लक्ष्य से पाँच इन्द्रिय के विषय में जाने से जरा रागादि की वृत्ति खड़ी होती है, धर्मी को भी। आहाहा! उत्तम काय में जा न अब। समझ में आया? भाषा तो देखो आचार्य की! आहाहा! यह अनन्त गुण का पिण्ड तेरी उत्तम काया... ऐ... प्रवीणभाई! आहाहा! भाषा बदलकर बात की है।

ऐसी पाँच इन्द्रिय की ओर जाने से परसन्मुख की वृत्ति जरा उठती है, वह तो काय के समूह की ओर न जाकर यह उत्तम काय प्रभु विराजता है, वहाँ जा न! आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात। वह कहते हैं कि एक राजा था और ऐसा किया। दीक्षा ली और अमुक किया।

मुमुक्षु : फिर केवलज्ञान हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ रावण की वार्ता पढ़ते थे हमारे। (संवत्) १९७० में। क्या कहलाता है? भावसागर कहलाता है। उसमें पढ़ा तो रावण को... यह रामायण में राम, हों! राम में। और उसमें तो कृष्ण उस कंस को मारने आये। पढ़ते-पढ़ते वह पढ़नेवाला उस समय (अधूरा) रखे तो झट लोग आवे। अब कंस को कल मारेंगे। अरे... भगवान! क्या करता है? लक्ष्मण जगे। उसमें थे न! रावण की शक्ति (लगी थी न)? लगी तो असाध्य

हो गये थे न ? तो उसमें स्त्री आयी ... कौन सी ? विशल्या। उसने पूर्व में बहुत तप किया तो उसे ऐसी शक्ति हुई स्त्री की। राजा की पुत्री थी। उसकी ऐसी शक्ति कि उसका पानी नहाकर छुआवे तो असाध्यता मिट जाये। वह जहाँ अन्दर आयी, राम को खबर पड़ी कि यह महिला पानी छिड़कती है। हें ! भरत को लिखा, तुम्हारे राज में एक राज की कुँवरी विशल्य है, उसे यहाँ भेजो। लक्ष्मण तो असाध्य में थे। राम को भी अन्दर ऐसा हो गया, वैसे तो अन्तर प्रतीति थी, हम राम हैं, यह बलदेव है, यह वासुदेव है। यह किसी के मारने से मरते नहीं। परन्तु अस्थिरता में जरा ऐसा हो गया।

कहा था न, हम वहाँ गाते थे, वहाँ पालेज में। (संवत्) १९६४ के वर्ष में। 'आये थे तब तीन जणे और जाऊँगा एकाएक, वह माताजी खबर पूछेगी तब क्या जवाब दूँगा ? बांधव जाग न हो जी लक्ष्मण एक बार जाग न हो जी।' एक बार बोल तो सही। उन्हें गहराई में था, कि मर न गया हो, परन्तु ऐसे असाध्य हो गये, यदि प्रातःकाल से पूर्व असाध्यता न उतरे तो देह छूट जायेगी, ऐसा भणकार आया। जाओ। बाई (विशल्या) जहाँ मण्डप में प्रवेश करती है, वहाँ सेनाओं को चोट लगी हुई, वह चोट मिटने लगी। ऐई... पोपटभाई !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिक का। उसे ऐसा उसका काल और यह एक (बन गया)।

भगवान को जन्म का काल और दुनिया में नारकी को जरा सुख का होना। वह कहीं भगवान के जन्म से नहीं उसे। एक बार चौदह ब्रह्माण्ड में हिल जाये सब विमान। आहाहा ! क्या है ? तीन लोक के नाथ तीर्थंकर का जन्म महोत्सव है। देव सिंहासन में हो तो नीचे उतर जाये एकदम। ओहो ! कहाँ प्रभु अवतरित हुए ? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उससे होता है, यह तो व्यवहार के कथन हैं। ऐसे कथन बहुत व्यवहार के। इसी प्रकार यह प्रविष्ट हुई और जहाँ पानी छिड़का, (लक्ष्मण जागृत हुए और पूछा), कहाँ गया रावण ? क्योंकि अन्दर में तो यह था। रावण को मारा। ऐसी बातें रखे न कि कल रावण को मारेंगे। जल्दी सुनने जाये। अरे... भगवान ! क्या काम है ? सब विकथायें हैं। आहाहा ! भगवान यह राग

और अज्ञान को मारेगा, यह बात ला न। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात हो तो सुनने में भले आवे लोग, यह धर्मकथा है।

यहाँ कहते हैं कि परकाया पर लक्ष्य था न! आहाहा! उस पर की ओर के झुकाव की वृत्तियों का उत्थान होता है। समकिती को होता है, मुनि को होता है, कहते हैं। आहाहा! तो इस चिदानन्द में, इस उत्तम काय में वृत्ति को लगाना। आहाहा! ज्ञान-विघ्न आता है न? प्रभु! तू तो ज्ञानशरीरी है। यह तो मिट्टी जड़ है। चैतन्य को यह शरीर होगा? भाई! भाषा तो ऐसी प्रयोग की है।

'तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम' आहाहा! उस काल में उत्तम काय में प्रेम को जोड़ दे यहाँ। जो वहाँ प्रेम गया है, उसे यहाँ मोड़ दे। आहाहा! दिगम्बर सन्त काम करके चले गये और दुनिया के पास बात रख गये। आहाहा! यहाँ यह सम्यग्दर्शन के बाद की बात है। परन्तु जिसे अभी सम्यग्दर्शन भी नहीं, उसे क्या करना? कि उसे पहले स्वभाव सन्मुख होकर दर्शन करना। समझ में आया? भगवान ने कही हुई जो वस्तु को स्वीकार करनी है, भगवान ने कही हुई, उसे स्वीकार करना है तो उसके सन्मुख हो तो स्वीकार होता है। आहाहा! उस सन्मुख की क्रिया की ही अभी खबर नहीं होती। आहाहा! उसे यह राग होता है और फिर यहाँ झुकेगो, यह कहाँ बैठे इसे? आहाहा! उत्तम काय देखी ही नहीं। आहाहा! भगवान आनन्दशरीरी प्रभु, चिदानन्दमय लिखा है नीचे। उस अर्थ में लिखा है। **उत्तम चिदानन्द काय में आत्मस्वरूप...** अर्थ में है। अन्वयार्थ में। और बाद में भी है। **पूर्व कथित काय की अपेक्षा, उत्तमकाय में-चिदानन्दमय काय में...** आहाहा! माँस और हड्डियाँ, रक्त और वीर्य, पेशाब और विष्टा का यह पिण्ड है। आहाहा! इसके पक्ष में जाती वृत्ति को... महाप्रभु अमृत का सागर पड़ा है न, कहते हैं। और तुझे खबर है। समकिती लिया है न। आहाहा!

यह उत्तम काय—चिदानन्दमय काय। आहाहा! ज्ञानानन्दमय प्रभु। आहाहा! अतीन्द्रिय... आत्मा... आहाहा! वहाँ जा न! तेरी वृत्तियाँ शान्त हो जायेंगी। वे वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होंगी। समझ में आया? जिसने घर देखा है उसे ... है। आहाहा! उसे भी ... हमारी ओर की वृत्ति-भक्ति का विकल्प तुझे उठता हो तो... है, कहते हैं। समझ में आया? ऐसा

मार्ग है, भाई! यह तो शास्त्र के पठन पढ़ जाये और बातें करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले और यह वस्तु प्राप्त हो, ऐसी यह चीज़ नहीं है। आहाहा!

उत्तम काय... भाषा तो देखो! यह ... काया है। पाँच इन्द्रिय की ओर के ... सब उसके भाव इन्द्रिय... यह ... कहा था न।... पाँच इन्द्रिय के अवयव ... और उसमें लक्ष्य जाये बाह्य इन्द्रिय, उसके लक्ष्य में आनेवाला पदार्थ... झुकाव में जाने पर... झुकाव को वापस खींच। आहाहा! शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप प्रभु है न! आहाहा! यह तो तुझे खबर है, कहते हैं। आहाहा! उसमें विवेक उसे... जोड़ना? निर्जरा में आता है न, नहीं? प्रीतिवन्त। सदा प्रीतिवन्त... मोह।... नहीं?

इसमें सदा रतिवन्त वन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे,
इससे ही बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य है जिससे तुझे।

समयसार, गाथा २०६

निर्जरा अधिकार में।... अरे... ऐसे... बापू! इसमें सदा प्रीतिवन्त, इसमें सदा सन्तुष्ट। आहाहा! इसमें सदा तृप्त।... उत्तम सुख होगा।... माना हुआ सुख... जैसा है। समझ में आया? उसे ...भाई! उसे उस जाति का प्रेम तब न। विकल्प ही नहीं। आहाहा! यह बड़ी उम्र... आत्मा आत्मा करे वह आत्मा ... लड़के हुए ... लड़के, धन्धा... आहाहा! कहते हैं कि भगवान यह बाहर जाती हुई उत्थान वृत्ति है न। वृत्ति? ... पूजा करूँ, यह करूँ। शरीर को शृंगार करने की वृत्ति उठे, आहार देना इत्यादि... हाय... हाय...

अब इसे काय पड़ी है न अन्दर। काय अर्थात् समूह।... धूल का समूह है। आहाहा!... **अर्थात् आत्मस्वरूप में उसको (प्रेम को) जोड़ना। किसके द्वारा?** बुद्धि द्वारा अर्थात् अन्तर्दृष्टि द्वारा। अन्तर भगवान विराजता है, वहाँ दृष्टि द्वारा। आहाहा! **फिर क्या होता है? प्रेम नष्ट होता है अर्थात् शरीर के प्रति प्रेम नहीं रहता।** आहाहा!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण ३, गुरुवार, दिनांक ३०-०१-१९७५, श्लोक-४०, प्रवचन-५१,
नोंध - यह प्रवचन सी.डी. में उपलब्ध नहीं है।

पौष कृष्ण ४, शुक्रवार, दिनांक ३१-१-१९७५, श्लोक-४०-४१, प्रवचन-५२

कहते हैं कि आत्मा जो वस्तु है (वह) स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप है। आनन्द चिदानन्दस्वरूप है। उसे वर्तमान उपयोग से उसके चिदानन्द में झुकाना। जो अनादि से अपने चिद्घन आनन्दस्वभाव को भूलकर परसन्मुख के झुकाव में विकल्प पुण्य-पाप के अनन्त बार किये, परन्तु कहीं सुख नहीं मिला। कहाँ वहाँ सुख कहाँ है? दया, दान, व्रत, भक्ति,पूजा, काम, क्रोध ऐसे भाव अनन्त बार किये। यह परिणाम स्वयं दुःखरूप है। सूक्ष्म बातें हैं।

उसने ऐसा कहा, चारित्र बन्ध का कारण है। और दूसरी जगह कहा व्यवहारचारित्र साधक है। आता अवश्य है न! किस अपेक्षा से? वह तो निमित्तपना बतलाना है। आहाहा! व्यवहार अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव, वह तो राग है। वृत्ति स्वरूप में नहीं, ऐसी वृत्ति खड़ी होती है। वह वृत्ति कहीं स्वरूप को प्राप्त करने का साधन नहीं है। उसे छोड़कर उपयोग को अर्थात् जानने-देखने का जो भाव है, जानने-देखने का जो भाव है, उसे चिदानन्द में झुकाना।

चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र करने की इच्छावाले को, प्रथम तो अपने स्वरूप को देहादि से और रागादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए। जिसे आत्मा के आनन्द का स्वाद लेना हो... आहाहा! अर्थात् कि आत्मा की प्राप्ति करनी हो, उसे आत्मा देह, वाणी, मन से, कर्म से भिन्न और जो दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव होते हैं, उनसे अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए। **जगत के किसी भी बाह्यविषय में अथवा उस ओर के राग में, कहीं स्वप्न में भी मेरा सुख अथवा शान्ति नहीं हैं;...** आहाहा! यह सेवाभावी... सेवाभावी कहता है न जगत? भाई आये थे, वे सेवाभावी थे। पारसमल। परन्तु यहाँ सुनकर जरा (ऐसा हुआ), ओय बापू! हम तो ऐसा मानते थे कि धर्म करनेवाले को कितना कष्ट करना पड़े, कितने अपवास और व्रत (करना पड़े)। यह तो बहुत सरल मार्ग है। सरल अर्थात् अन्दर भगवान है, उसे प्राप्त करना है। आहाहा! वह सेवाभावी (थे)। बहुत सेवा करे। नरम व्यक्ति सही... अरेरे! किसकी सेवा करे? पर की सेवा कर सकता है? विकल्प आवे वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! वापस वे कहते हैं न...? क्या कहा? परम धर्मो।

मुमुक्षु : सेवा धर्म परम ज्ञानं योगिनां अपि गम्यम्

पूज्य गुरुदेवश्री : योगिना अपि गम्यम्। ऐसी विपरीतता डाली। यह बात सच्ची। आत्मा आनन्द की सेवा, परमधर्म है।

वस्तु है न वह ? आत्मा वस्तु है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्ण भरा है। इसलिए उसे चिदानन्दस्वरूप कहा जाता है। चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनों पूर्ण स्वरूप हैं। वही उसका स्वरूप है, परन्तु उसे भूलकर पुण्य और पाप के विकल्पों की वृत्तियाँ अनन्त बार की, परन्तु वहाँ कहीं सुख नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है। आहाहा!

अनन्त काल से बाहर के भाव किये, परन्तु मुझको किञ्चित् भी सुख नहीं मिला। कहाँ से मिले ? कहा न ? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो...' मुनिव्रत। अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत यह तो सब वृत्ति का उत्थान आस्रवभाव है, बन्धभाव है। भगवान आत्मा तो अबन्धस्वरूप है। राग के और कर्म के सम्बन्ध बिना की वह चीज़ है। आहाहा! अबन्धस्वरूप को ऐसे बन्धभाव से प्राप्त हो, ऐसा वह स्वरूप नहीं है। समझ में आया ?

जगत में कहीं मेरा सुख हो, तो वह मेरे निज स्वरूप में ही;... आनन्द चाहिए हो, सुख चाहिए हो, धर्म चाहिए हो, जीव का धर्म। धर्म अर्थात् जीव का स्वभाव। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द है। वह आनन्द चाहिए हो तो वहाँ मिले ऐसा है। **अन्यत्र कहीं नहीं।** आहाहा! देह, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, इज्जत, पैसा या पुण्य-पाप के भाव, उसमें कहीं सुख नहीं है। बराबर है ? यह तुमको सब सुखी कहते हैं न पैसेवालों को ? पागल हो न, वह पागल के गुणगान करे कि यह सुखी है। ... किसका सुख ? आहाहा! वह अपने आये थे न एक बार वढवाण के मोहनभाई के रिश्तेदार। वे कहे हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। बहुत वर्ष की बात है। आहाहा! हमारे रिश्तेदार बहुत सुखी हैं। सुख की व्याख्या क्या ?

मुमुक्षु : पैसे टके से सुखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे टके-जहर से सुखी हैं। आहाहा! जितना पर का आश्रय करे, वहाँ दुःख की वृत्ति उत्पन्न होती है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने वाणी में ऐसा कहा कि हमारी ओर की भक्ति

का भाव भी तुझे दुःखरूप है। आहाहा! आवे, जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक उसमें अशुभ से बचने को ऐसा भाव हो, परन्तु वह है दुःखरूप। आहाहा! वह आत्मा के आनन्द को साधनरूप है, ऐसा नहीं। **इसलिए अब मैं बाहर का उपयोग छोड़कर,...** पर की ओर के झुकाववाली वृत्तियों का उपयोग, उस ओर जाये, उसे छोड़कर **निजस्वरूप में ही उपयोग को जोड़ता हूँ...** यह क्रिया है, बापू! यह अपूर्व मार्ग इसने अनन्त काल में कभी लिया नहीं। समझ में आया?

आत्मज्ञान प्राप्त करने का यह पन्थ है। आत्मज्ञान अर्थात्? जैसा इसका स्वरूप है, वैसा ज्ञान। वह तो स्वरूप सन्मुख ढलने से प्राप्त होता है। पर की ओर ढलने से होगा? आहाहा! अरे! भारी सूक्ष्म बात जगत को। यह बड़ा विवाद पण्डितों को और यह साधु हुए उन सबको। यह सोनगढ़वाले एकान्त करते हैं। कुछ बाधा नहीं बापू, हों! भले कहो। आहाहा! **सम्यक् एकान्त (से) चैतन्य में आनन्द है, ऐसे झुके बिना इसे पर्याय का और राग का यथार्थ अनेकान्त ज्ञान यथार्थ होता ही नहीं।** आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **मैं बाहर का उपयोग...** उपयोग अर्थात् बाहर की ओर जानेवाली वृत्तियों को छोड़कर **निजस्वरूप में ही उपयोग को जोड़ता हूँ...** आहाहा! जहाँ हूँ, वहाँ जाता हूँ, ऐसा। आहाहा! **ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मीजीव बारम्बार अपने उपयोग को...** अर्थात् ज्ञान की दशा को **अन्तरस्वरूप में जोड़ता है।** आहाहा! ऐसा मार्ग है। समझ में आया?

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और बाह्य इन्द्रिय विषयों की तुच्छता जानकर,... आहाहा! भगवान आत्मा के स्वभाव की महत्ता अतिशयता, विशेषता जानकर बाहर की ओर झुकने के भाव की तुच्छता जानकर... आहाहा! **अपने उपयोग को बारम्बार चैतन्यभावना में जोड़ने से,...** वर्तमान दशा को अन्तरदशावान त्रिकाल के साथ जोड़ने से... आहाहा! **पर के प्रति होनेवाला प्रेम नष्ट होता है...** प्रभु पूर्णानन्द के प्रेम में पड़ने से उसे पर के प्रति प्रेम नाश पाता है। यह बात है। **और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है।** और वीतरागी आनन्द। दुनिया के विषय में सुख का जो आनन्द, वह तो जहर और दुःख है। पाँच इन्द्रियों का विषय सब (जहर है)। विषय शब्द से स्त्री का विषय, यह तो उसकी प्रधानता है, परन्तु पाँच इन्द्रियों में सुनना, देखना, मन में चिन्तवन करना, कल्पना

(करना), ऐसी पाँच इन्द्रियाँ और मन का विषय जितना बाहर जाता है, वह सब दु:खरूप है। आहाहा! कठिन बातें। और अन्तर में चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ सहजानन्द की मूर्ति प्रभु है, उसमें वर्तमान दशा को झुकाने से उसे वीतरागी आनन्द आता है। वीतरागी अतीन्द्रिय आनन्द आना, इसका नाम धर्म है। आहाहा! यह तो एकान्त है, ऐसा लोग कहते हैं। यह एक धर्म है, व्रत करना, अपवास करना, भक्ति करना, दया पालना, बड़े गज-हाथी और गजरथ (निकालना)। थे तुम यहाँ उस दिन उद्घाटन में? पाँच हाथी आये थे यहाँ। आये थे। बहुत बड़ी धमाल क्या थी तब वह? वह तो बाहर की क्रिया होने के काल में होती है, उसमें आत्मा कर सके, यह बात नहीं है। आहाहा! हाँ, उसे शुभभाव हो कि ऐसा होवे तो ठीक। इतना। परन्तु वह शुभभाव परसन्मुख के झुकाववाला भाव दु:खरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : इतने सब.... उचित कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : रामजीभाई बड़े इतने बड़े... निमन्त्रणपत्रिका लिखी थी। कितने? २६ हजार लोग इकट्ठे हुए थे। यह अभी विवाद था वह अन्दर क्या कहलाता है? प्रजा में नहीं था कुछ? अहमदाबाद, कलोल और सूरत (में) कुछ था। (नवनिर्माण) अर्थात्। नहीं तो ५०-६० हजार लोग होते। इतनी बसें वापस गयीं। वहाँ तो अशान्ति है काठियावाड़ में सौराष्ट्र में। बेचारे नहीं आ सके। २६ हजार। गाँव में चार हजार और बाहर के २६ हजार। यह तो बाहर की चीज़ है, बापू! यह बाहर का होना हो, वह होता है। उसमें जीव का अधिकार कुछ नहीं है। उसकी ओर के झुकाव का भाव भले शुभ हो, है तो शुभराग और विकार। आहाहा! अरेरे! यह बात भारी कठिन जगत को। समझ में आया?

आत्मा के आनन्दस्वरूप में अन्दर भाव को जोड़ना, तब उसे वीतरागी आनन्द होता है। क्योंकि आनन्दस्वरूप वीतरागस्वरूप में पड़ा है अन्दर। ... ढेबरा अच्छा तलकर थाली में पड़े। पुडला पड़े अच्छा, लो न। चने के आटे का। प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। यह क्या है? पुडला समझते हो? पुडला नहीं समझते? चने के आटे का, गेहूँ का-गेहूँ का बनाते हैं। मीठा नहीं? ऐसा पोचा लगता है। क्या है, बापू! वह तो जड़ है। मालपुआ दूसरी चीज़। गेहूँ के मालपुआ दूसरी चीज़। वहाँ अपने गये थे न? अलीगढ़ न? अलीगढ़ नहीं? वहाँ सेठिया थे। अलीगढ़ गये थे। एक भाई आये थे। करोड़पति है न वह? शोभालाल।

शोभालाल है न ? शोभाचन्दजी। दो-तीन करोड़ रुपये हैं। तीन-चार करोड़ रुपये। वे आये थे। उन्होंने हजार रुपये दिये थे। एक दिन रहे थे। शाम को वापस निकल गये। उन्होंने हजार दिये। गाँव में रहे तब... जितने मेहमान आवे, सबको पुडला जीमाते थे। पुडला क्या, मालपुआ... कोई भी आवे दर्शन करने गाँव में से सबको मालपुआ (खिलावे)। लोग प्रसन्न हो जाये। आहाहा! परन्तु वह मालपुआ है या मालपुआ तो यहाँ है ? आहाहा!

मालपुआ अन्दर चिदानन्द आत्मा अन्दर माल भरा है। अरे रे! अरे! इसकी खबर नहीं होती और जहाँ-तहाँ व्यर्थ प्रयत्न करे सुख के लिये।

श्लोक - ४१

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह -

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः॥ ४१॥

आत्मविभ्रमजं आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं। तस्माज्जातं यत् दुःखं तत्प्रशाम्यति। कस्मात्? आत्मज्ञानात् शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात्। ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरेतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह- नेत्यादि। तत्र आत्मस्वरूपे अयताः अयत्नपराः। न निर्वान्ति न निर्वाणं गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति। कृत्वापि तप्त्वाऽपि। किं तत्? परमं तपः दुर्द्धरानुष्ठानम्॥४१॥

वह (प्रेम) नष्ट होने पर क्या होता है ? वही कहते हैं —

आत्मभ्रान्ति से दुःख हो, आत्म-ज्ञान से शान्त।
इस बिन शान्ति न हो भले, कर ले तप दुर्दान्त॥ ४१॥

अन्वयार्थ **- (आत्मविभ्रजं) शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न होनेवाला (दुःखं) दुख-कष्ट, (आत्मज्ञानात्) शरीरादि से भिन्नरूप आत्मस्वरूप के अनुभव करने से (प्रशाम्यति) शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष, (तत्र) भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने में (अयताः) प्रयत्न नहीं करते, वे (परमं) उत्कृष्ट**

एवं दुर्द्धर (तपः) तप को (कृत्वापि) करके भी, (न निर्वान्ति) निर्वाण को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

टीका - आत्मविभ्रम से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनात्मरूप शरीर आदि में आत्मबुद्धि, वह आत्मविभ्रम, उससे उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह शान्त होता है। किससे ? आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से भेद करके आत्मस्वरूप का वेदन करने से।

दुर्द्धर तप के अनुष्ठान (आचरण) से तो मुक्ति की सिद्धि होने से, उस दुःख का उपशम होगा नहीं — ऐसी आशङ्का करनेवाले को कहते हैं-न इत्यादि.....उसमें अर्थात् आत्मस्वरूप में यत्न नहीं करनेवाले, निर्वाण प्राप्त नहीं करते अर्थात् सुखी नहीं होते, क्या करके भी (सुखी नहीं होते) ? तप करके भी। क्या तप कर भी ? परमतप अर्थात् दुर्द्धर अनुष्ठान। (अर्थात् दुर्द्धर तप तपकर भी वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते)।

भावार्थ - आत्मभ्रान्ति से अर्थात् शरीरादि में आत्मबुद्धि करने से, जो दुःख उत्पन्न होता है, वह भेदज्ञान से नाश को प्राप्त होता है। जो भेदज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते, वे घोर तप करने पर भी, मोक्षमार्ग अथवा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकते।

विशेष स्पष्टीकरण -

शरीरादि और रागादि में आत्मबुद्धि करना, विभ्रम है, आत्मभ्रान्ति है; वह दुःख का कारण है। शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का अनुभव करने से — स्व-पर का भेदज्ञान करने से अर्थात् देहादि से और शुभभाव से भी भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मैं हूँ; अन्य कुछ मेरा नहीं है — ऐसे आत्मज्ञान से यह दुःखरूप भ्रान्ति दूर होती है। जीव ऐसे भेदविज्ञान के प्रयत्न बिना, घोर तप करे तो भी सच्चा धर्म प्राप्त नहीं करता।

मुक्ति-प्राप्ति के लिए आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ 'इच्छा निरोधरूप तप' ही कार्यकारी है। आत्मज्ञान से शून्य तप, वह तप नहीं है; वह तो संसार परिभ्रमण का ही कारण है; उससे कभी भी आत्मा, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता और न कर्मबन्धन से छूट सकता है। उसकी दुःख परम्परा चालू ही रहती है।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने (मोक्षमार्गप्रकाशक में) कहा है कि —

'जिनमत की तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं।

अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो...।[१]

पण्डित श्री दौलतरामजी ने छहढाला (ढाल ४, पद्य ४ में) कहा है कि :—

'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते;
मुनिव्रत धार अनंत बार, ग्रीवक उपजायौ,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ॥'

मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करके, जितने कर्मों का अभाव करता है, उतने कर्मों का नाश, ज्ञानी अपने मन-वचन-काय का निरोध कर, क्षणमात्र में सहज कर देता है। आत्मज्ञान बिना, पाँच महाव्रत पालन कर-मुनि होकर वह नौवें ग्रैवेयक तक देवलोक में अनन्त बार गया, परन्तु जरा भी सुख प्राप्त नहीं किया।

'अज्ञानी जीव की क्रिया, संसार के लिए सफल है और मोक्ष के लिए निष्फल है तथा ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है, वह संसार के लिए निष्फल है और मोक्ष के लिए सफल है॥४१॥'[२]

श्लोक - ४१ पर प्रवचन

वह (प्रेम) नष्ट होने पर क्या होता है ? वही कहते हैं— ४१।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः॥ ४१॥

आहाहा! **टीका - आत्मविभ्रम से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनात्मरूप शरीर आदि में आत्मबुद्धि,...** आहाहा! इसने शरीर को आत्मा माना। यह जड़ की सम्हाल सवेरे से।

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अध्याय, पृष्ठ २९३
२. श्री प्रवचनसार, गाथा-११६ की टीका

आहाहा! चाय और खाखरा सवेरे उठकर खाये। फिर रोटियों के समय और इच्छा प्रमाण सब खाये। और शाम को खिचड़ी, कढ़ी और भजिया।

मुमुक्षु : खिचड़ी-कढ़ी पुराने समय में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह खिचड़ी-कढ़ी पुराने समय में। अब ऐसा कि भजिया और वह... आहाहा! फिर एक व्यक्ति रात्रि में सोया हो तो .... आहाहा!

आत्मविभ्रम से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनात्मरूप शरीर... वाणी, पैसा, इज्जत, कीर्ति **आदि में आत्मबुद्धि, वह आत्मविभ्रम,...** आहाहा! क्या कहलाता है, तुम्हारे मुम्बई में नहीं कहते? अमची मुम्बई, ऐसा कुछ कहते हैं न?

मुमुक्षु : अमची मुम्बई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह अमची मुम्बई। वे दक्षिणी। अमची मुम्बई। मार डाला। मुम्बई कहाँ तेरे बाप का था? बाप की नहीं थी, इसकी थी। आहाहा! मुम्बई के रजकण और आत्मा वह तो परवस्तु है। मार डाला। देश के लिये यह कितने ही मर गये न जवान लड़के। देश की सेवा में। क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : शहीद।

पूज्य गुरुदेवश्री : शहीद हुए। शहीद हुए। अरे रे! .... यह आत्मविभ्रम। तुझे भ्रम चढ़ा भगवान! परवस्तु मैं प्राप्त करूँ और परवस्तु में मैं और यह वह मैं और वह मुझमें और मैं उसमें। आहाहा! मैं शरीर में और शरीर मुझमें; मैं राग में और राग मुझमें। आहाहा! ऐसा जो आत्मा में भ्रम, विभ्रम (हो)... आहाहा! वह दुःख है।

उससे उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह शान्त होता है। यह शान्त होता है। **किससे? आत्मज्ञान से...** आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूपी प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप हूँ। दूसरी चीज़ कोई मुझमें है नहीं। आहाहा! जहाँ जन्मे वहाँ शरीर को देखे कि यह जन्मा वह मैं। क्या हो? सम्हाल करे। यह बाद में फिर संयोग आवे। इसकी माँ को देखे तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये छोटे में। और दूसरे देखे वहाँ... यह सब संयोगी चीज़ तुझमें नहीं, तू उनमें नहीं। आहाहा! ऐसी जो भ्रमणा वह **आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से भेद करके आत्मस्वरूप का वेदन करने से।** वह शान्त होती है। आहाहा!

दुर्द्धर तप के अनुष्ठान (आचरण) से तो मुक्ति की सिद्धि होने से, उस दुःख का उपशम होगा नहीं... क्या कहते हैं ? **होगा नहीं — ऐसी आशङ्का करनेवाले को कहते हैं-न इत्यादि.....उसमें अर्थात् आत्मस्वरूप में यत्न नहीं करनेवाले, निर्वाण प्राप्त नहीं करते...** दुर्द्धर तप करे, परन्तु आत्मा के स्वभाव को पावे नहीं, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। अपवास करके मर जाये, बारह-बारह महीने के अपवास। आहाहा! दुर्द्धर तप-कठोर तप। शरीर जीर्ण हो जाये, रस खाये नहीं, दूध पीवे नहीं, घी खाये नहीं और शरीर जीर्ण (हो जाये)। तो कहते हैं कि ऐसे दुर्द्धर तप से भी कुछ आत्मा प्राप्त होता नहीं। आहाहा! है ?

उसमें अर्थात् आत्मस्वरूप में यत्न नहीं करनेवाले,... तपस्या में ऐसा करे। अभी आया है न बहुत गुणगान वहाँ। जयपुर में किसी महिला ने १६५ अपवास किये। १६५। पानी पीकर किये होंगे। शरीर-बरीर होगा लट्ठ जैसा सरीखा। उसके गुणगान हुए। ओहोहो! इसने तो रिकार्ड तोड़ा। ऐसा कहते हैं न ? क्या कहते हैं तुम्हारे ? रिकार्ड तोड़ा। आहाहा! अपवास किये होंगे, धारोने अपने तो भी क्या ? वह तो राग की क्रिया है। आहाहा! वह तो अप-वास है। भगवान आनन्दकन्द के समीप में न जाकर ऐसी क्रिया के समीप में जाता है, उस अपवास—बुरा वास कहते हैं।

उपवास तो भगवान उसे कहते हैं, आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, 'उप' उपसर्ग है, उसके समीप वास अन्दर बसना, उसका नाम उपवास है। आहाहा! भारी व्याख्या भाई! यह सत्याग्रह करते हैं। देखो न! नहीं करते ? लंघण करके बेचारे मर जाते हैं। समझ में आया ?

क्या करके ? **निर्वाण प्राप्त नहीं करते अर्थात् सुखी नहीं होते,...** अर्थात् ऐसे अपवास करे, व्रत पाले, ब्रह्मचर्य पाले, ऊनोदर (करे), रस का त्याग करे। ३२ ग्रास में से पाँच खाये और २७ न खाये। ३२ ग्रास का आहार होता है न ? बापू! वह कहीं आत्मा की क्रिया नहीं है, भाई! वह तो विकल्प है, राग है। आहाहा! वह तो शरीर का शोषण है। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप को स्पर्श किये बिना यह जो सब क्रियायें (करे), वह सब निरर्थक है। आहाहा! समझ में आया ? यह लाखोपति की बहू होती है न ? वह वर्षीतप

करे। एक दिन खाय और एक दिन अपवास। वर्षीतप स्थानकवासी में, मन्दिरमार्गी में बहुत करते हैं। फिर उसका उत्सव करते हैं। पाँच हजार, दस हजार, पचास हजार, लाख खर्च करते हैं। हो गया, तपस्या की। बापू! वह तो अज्ञान है। आहाहा!

भगवान ज्ञाता-दृष्टा का पिण्ड प्रभु, वह तो ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है। वह ज्ञान में स्थिर हो, तब उसे आत्मा का आनन्द आता है। आहाहा! यह तो बाहर में विकल्प में घिर गया। वर्तमान लोगों को बहुत कठिन लगे बेचारों को। इसलिए ऐसा कहे, सोनगढ़ में एकान्त है... एकान्त है। परन्तु अब वह छोटे दिगम्बर हैं, अपने बाद हुए हैं। धीरे-धीरे अपने में आ जायेंगे। यह तो सब तिरे हुए हैं। आहाहा! क्या करे बेचारे? उसे खबर नहीं। बड़े पण्डित भी ऐसा बोलते हैं कि यह छोटे दिगम्बर हैं। बाद में आये हुए हैं। अपने तो मूल दिगम्बर हैं। ऐई... सेठ! ऐसे लेख आते हैं, हों! अखबार में। कैलाशचन्दजी ने लिखा है।

मुमुक्षु : छोटे दिगम्बर।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोटे। अर्थात् बाद में हुए न? और यह तो सब पुराने दिगम्बर हैं। दिगम्बर थे कब? आहाहा! ऐसी कुछ क्रिया करे और दिगम्बर प्रतिमा को माने, दिगम्बर साधु को माने, वे सब दिगम्बर कहलायें। धूल भी दिगम्बर नहीं।

मुमुक्षु : नाम दिगम्बर है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम दिगम्बर है। आहाहा!

अन्तर की लगनी विकल्प भगवान की पूजा का, दान का, दया का उठे, अरे! भगवान के स्मरण का उठे, वह भी वृत्ति तो संसार और विकार का कारण है। आहाहा! ऐसा व्यवहार अन्दर तुच्छकार हो जाता है न, इसलिए लोगों को कठिन लगता है। परन्तु ऐसा ही है। वस्तुस्वरूप ऐसा है। यह यहाँ कहते हैं, देखो न! ... दुःख का उपशम होगा नहीं।

आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से भेद करके आत्मस्वरूप का वेदन करने से। शान्त होता है। कहते हैं कि वह विकल्प जो उठता है राग का, दया, दान, व्रतादि तप का, उससे भिन्न करके आत्मा में समीप में जाये तो उसे आनन्द मिले। आहाहा! भारी कठिन

बातें। एक ही उपाय है। जहाँ भगवान विराजता है, स्वयं आनन्दस्वरूप, महा चैतन्यदल आनन्द का दल है वह। उसमें एकाग्र होने से पर से भिन्न करके, भिन्न है—ऐसा रखकर अन्तर में लीन हो तो उसे आत्मा के आनन्द का वेदन होता है। आहाहा! बहुत शर्तें। शर्तें बहुत कठिन हैं।

चैतन्यस्वभाव से भरपूर प्रभु के अन्दर में ज्ञान की दशा को अन्तर में झुकाने से जो आनन्द का स्फुरण होता है, उसे राग का शान्तपना हो जाता है। पर के प्रति का जो राग है, वह नाश हो जाता है। आहा! इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। समझ में आया? यह तो समाधितन्त्र है न? इस पुस्तक का नाम क्या? समाधितन्त्र। अर्थात्? आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, उसमें एकाग्र होने से जो समाधि अर्थात् आनन्द आवे, उसका नाम समाधितन्त्र कहा जाता है। आहाहा! वे बाबा बावा ॐ... ॐ... करे, वह नहीं, हों! वे तो हठयोगी। आहाहा!

दुर्द्धर तप के अनुष्ठान (आचरण) से तो मुक्ति की सिद्धि होने से, उस दुःख का उपशम होगा नहीं—ऐसी आशङ्का करनेवाले को कहते हैं-न इत्यादि... उसमें अर्थात् आत्मस्वरूप में यत्न नहीं करनेवाले,... बाहर में क्रियाकाण्ड में यत्न करनेवाले, परन्तु भगवान आनन्द का नाथ, उसमें यत्न नहीं करनेवाले, उसकी रक्षा नहीं करनेवाले... आहाहा! निर्वाण नहीं पाते, वे सुखी नहीं होते। आहाहा! कहो, जेठाभाई! क्या है यह? ऐसा है यह।

जो चैतन्यस्वभाव नित्यानन्द नित्य प्रभु है, और नित्य में नित्य आनन्द और नित्य ज्ञान भरा हुआ है। आहाहा! सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उसके सन्मुख होने पर, उसमें एकाग्र होने पर जो आनन्द का वेदन आवे, वह सुखी है, वह धर्मी है। आहाहा! भजन में आता है न? 'सुखिया जगत में सन्त, एक सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया रे...' आहाहा! सन्त अर्थात् क्या? जिसे भगवान आनन्द का नाथ अन्दर में एकाग्र होकर अनुभव में आया है, वे सुखिया जगत में सन्त। वे एक सुखी हैं।

भाई ने लिखा है इसमें। नहीं? निहालभाई के फोटो के आगे लिखा है सामने

प्रस्तावना में। निहालभाई का। कि इतनी बस्ती... क्या कहलाता है वह ? दिल्ली-दिल्ली न ? कलकत्ता-कलकत्ता। ऐसे दुःखी में एक यह आत्मा सुखी था। ऐसा सामने लिखा है। है न, आता है। आहाहा! निहालभाई! पढ़ी नहीं होगी पुस्तक ? द्रव्यदृष्टि प्रकाश। बापू को तो दिया है। दिया है या नहीं ? ठीक। आहाहा!

यह लड़कों ने लिखा है अन्दर। 'करोड़पतियों की विशाल नगरी कलकत्ता ६०-७० लाख की आबादी उसमें आत्मार्थी को भान होता था, मानो इस अथाह मनुष्य समुदाय में मैं एक अकेला ही सुखी हूँ।' इनके लड़कों ने लिखा है। कलकत्तावाले हैं न ? कपूरभाई और रमणीकभाई। ...दिया है न ? वह पुस्तक दी है। सामने लिखा है। अन्तिम पृष्ठ है। सातवाँ पृष्ठ। आहाहा! 'अरे! मुझसे कुछ भी आशा मत रखो।' सब लड़कों को कह दिया। बहुत लाखोंपति। 'पंगु समझकर...' मुझे पंगु समझकर 'दो समय का भोजन शरीर को टिकाने के लिये दो।' आहाहा! 'करोड़पतियों की विशाल नगरी कलकत्ता ६०-७० लाख की आबादी, उसमें आत्मार्थी को भान होता था, मानो इस अथाह मनुष्य समुदाय में मैं एक अकेला ही सुखी हूँ। अरे! निश्चित ही सुखी थे। आत्मानन्द का रसास्वाद करनेवाले स्वयं को सुखी क्या सर्वसुखी महसूस करता है।' महसूस अर्थात् ?

मुमुक्षु : अनुभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव। महसूस। आहाहा! लो! लड़कों ने यह लिखा है।

आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसिया प्रभु। आहाहा! उसका आनन्द आया, वह एक जीव सुखी है। बाकी सब दुःखी है। आहाहा! महाव्रत के पालनेवाले, दया, दान के करनेवाले, महीने-महीने के अपवास करनेवाले सब विकल्प है, राग है और दुःखी है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! गृहस्थाश्रम में थे। गृहस्थाश्रम में नहीं थे। नवरंगभाई! आत्मा के स्थान में थे। आहाहा!

'पुण्यात्मा को शरीर तो एक व्यर्थ का बोझा सा लगता था।' आहाहा! 'काल का मानो सदैव स्वागत था।' आहाहा! हृदयगति एकदम बन्द हो गयी। हेमरेज हो गया, देह छूट गयी। अन्त में फिर तो बहुत कहा है इन्होंने। 'शरीर को सम्पूर्ण आदरभाव से चन्दन और कपूर की चिता पर सुलाया...' लड़कों ने फिर शरीर को चन्दन और सुखड़ की

लकड़ियों से जलाया। यह द्रव्यदृष्टि प्रकाश है। नितिनभाई को मिला होगा यह तो। है न? आहाहा!

परम तप अर्थात् दुर्द्धर अनुष्ठान, दुर्द्धर तप तपकर भी वे आत्मा के आनन्द को पाते नहीं। आहाहा! क्योंकि वह तो बहिर्मुख लक्ष्य की क्रियायें हैं। आहाहा! अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना उसे आनन्द प्राप्त नहीं होता। आहाहा! बात बहुत (सूक्ष्म)। दिशा, पर के ऊपर जो दिशा है, उसकी दशा दुःखी है। स्वसन्मुख की दिशा की ओर ढली हुई दशा, वह सुखी है। आहाहा! कठिन बात, भाई! क्या कहा यह?

भगवान आत्मा पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। वस्तु है न? वस्तु है, उसमें अपूर्णता और विपरीतता कैसे होगी? वह तो उसकी दशा में विपरीतता है। स्वरूप तो अविपरीत, पूर्णानन्द और अखण्डानन्द विकाररहित उसका स्वरूप तो त्रिकाल आनन्द का नाथ है वह। आहाहा! अरे! उसकी ओर ढले बिना उसे स्व का आनन्द मिलता नहीं और उसे आत्मज्ञान होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सोनगढ़ को रहावन? यहाँ तो पाड़े बैठते थे। यहाँ खेत थे। ज्वार और वह बोते थे। आहाहा!

कहते हैं, तू एक वस्तु—पदार्थ—तत्त्व है या नहीं? वह तत्त्व है तो तत्त्व के स्वभाव से वह तत्त्व है या नहीं? या वह तत्त्व पर स्वभाव से है? यह वस्तु है, वह तो स्वभाववान है। तो उसका स्वभाव है या नहीं? जैसे शाश्वत् चीज़ है, वैसे शाश्वत् उसका स्वभाव—स्व-भाव ऐसा है या नहीं? आहाहा! तो कायम भाव तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति ऐसा उसका त्रिकाली स्वभाव पड़ा है। उसके सामने देखे बिना परसन्मुख की दृष्टि में जो कोई विकल्प करे, वह सब दुःखदशा है। आहाहा! कहो, यह पैसेवाले को दुःखी कहते हैं यह। छह-छह लड़के, उनका पिता, शरीर ऐसे सब... नहीं? कहते हैं, बाहर में जितना विकल्प झुके, दुःख है। सेठ!

मुमुक्षु : यहाँ तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ नहीं, वस्तु ऐसी है। आहाहा! वहाँ इन्हें सागर में सुखी कहते हैं सब। अभी दो जगह जानेवाले हैं सामने। कुण्डलपुर और भोपाल। दोनों में इनका नाम है। भोपाल में आयी है। देखा? ऐसी? लम्बी निमन्त्रणपत्रिका बड़ी। भोपाल-भोपाल हम

जानेवाले हैं न वहाँ। बड़ी निमन्त्रणपत्रिका। सबके नाम हैं। इनका भी नाम है। हमारे पण्डितजी का नाम है। हिम्मतभाई जेठालाल आनेवाले हैं। ऐसा लिखा है, हों! आमन्त्रण तो दे। आवे न आवे। आहाहा! अरे! भगवान! तुझे आमन्त्रण आत्मा का है तो तू वहाँ जा। तू तेरे (आत्मा के) पास से हटकर पर में घूमता है, वह तू दुःख में जाता है, भाई! तुझे दुःख की दशा है। आहाहा!

प्रथम ही आत्मा के स्वभाव समीप जा तो परसन्मुख के विकल्प वहाँ समा जायेंगे। आहाहा! अरे! ऐसा मनुष्यदेह मिला, उसमें इसे करने का मनुष्यदेह में तो यह है। बाकी तो दूसरे देहों में तो बहुत सब किया है। पशु के भव, हाथी के भव, सिंह के भव, कुत्ते के भव... आहाहा! कीड़े, कौवे, कुत्ते के भव। उसमें रहा वहाँ तो जो किया था वह का वह मनुष्यभव में आकर करे तो इसमें नवीन क्या हुआ? यह गोम्मटसार में है। मनुष्य किसे कहते हैं? आहाहा! न्यायते इति मनुष्यः। जो स्वरूप को जाने, उसे मनुष्य कहते हैं। आहाहा! 'मनुष्या स्वरूपेण मृगा चरंति' आता है न? 'येषिं न विद्या, तपो न ज्ञानं।'

मुमुक्षु : येशां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः॥
ते मर्त्यलोके भूविभार भूताः
मनुष्यरूपेणं मृगाश्चरन्तिः॥

पूज्य गुरुदेवश्री : मनुष्य स्वरूप में मृग जैसे हैं। आहाहा!

अरे! जिसने जिसके मनुष्यभव में... यह मनुष्यभव तो ज्ञायकभाव को पाने के लिये काल है। कहीं अन्यत्र यह साधन नहीं है। अरे! कहाँ कीड़ा, कौवा, कुत्ता, ऐसे अनन्त भव किये। अनादि का तत्त्व है, वह कहाँ नया है कुछ? रहा कहाँ? यह परिभ्रमण की चार गति में रहा है। देवगति में गया तो भी यह दुःखी है। पर की आशा और आकुलता में यह दुःखी है। नारकी और निगोद में तो प्रत्यक्ष दुःख है। वह संयोग का दुःख नहीं। स्वभाव में से हटकर राग में क्रीड़ा करता है, वह इसे दुःख है। ऐसी बात! वे अधिक लोग और पण्डित इकट्ठे हुए हों और वहाँ ऐसी बात उड़ा दे। यह तो लो व्यवहार को मानते नहीं। नहीं कहा था वहाँ? कैलाशचन्दजी और जगनमोहनलालजी दोनों ने कहा था। सब खबर है। अपने

क्या वहाँ भले कहे। यहाँ हमको कहाँ छूता है ? तब सभा में। आहाहा! व्यवहार चाहिए... व्यवहार का लोप होता है। अरे! सुन तो सही।

व्यवहार अर्थात् पर की ओर की क्रिया का राग। वह सब लोप किये बिना स्वरूप -सन्मुख नहीं जा सकेगा। आहाहा! जिसे जिसके विकल्प का माहात्म्य रहा, उसे निर्विकल्प चैतन्य का माहात्म्य नहीं आता। आहाहा! समझ में आया ? व्यवहारचारित्र दुःखरूप है, घातक है, बन्ध का... ऐसा सब लिखा है, हों! इस शब्दकोश में। परन्तु वापस यह लिखे। निचली दशावाले को यह व्यवहारचारित्र साधक है। परन्तु साधक अर्थात् क्या ? आहाहा! आता है न ? व्यवहार संग्रह में बहुत आता है। व्यवहाररत्नत्रय साधक है, निश्चय साध्य है। जयसेनाचार्य में भी आता है। व्यवहार समकित निश्चय को प्राप्त करता है। यह तो निमित्त के कथन हैं। आहाहा! अरे! भगवान! राग का विकल्प वह आत्मा को निर्विकल्प होने का कारण होगा ? आहाहा! वह तो अपने स्वभाव से ज्ञात होता है। उसका स्वभाव तो जानना और देखना, उस जानने-देखने के स्वभाव से ज्ञात होता है। जो जाननेवाला पर को जानता है, वह जाननेवाला स्व को जानता है, आहाहा! इसका नाम धर्म और इसका नाम आनन्द का स्थान है।

फिर कुछ मकान, स्त्री, पुत्र नहीं और आनन्द ? एक व्यक्ति पूछता था, सिद्ध में आनन्द क्या होगा ? वहाँ तो स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, व्यापार नहीं, पैसा नहीं, धन्धा नहीं। आहाहा! अरे.. भगवान! आत्मा परमात्मा होता है, उसे अतीन्द्रिय आत्मा को आनन्द है। यहाँ भी है क्या ? यहाँ पर सन्मुख के झुकाव में विकल्प करता है, वह दुःख है। उस दुःख की गुलांट खाकर अन्दर जाये तो सुख है। आहाहा! भारी परन्तु ऐसा यह।

(अर्थात् दुर्द्धर तप तपकर भी वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते)। आहाहा!

भावार्थ में आया न ? **आत्मभ्रान्ति से अर्थात् शरीरादि में आत्मबुद्धि करने से,...** अर्थात् कि मैं शरीर का, वाणी का, देश का, परिवार का करूँ। तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वरूप मुझमें है, इससे मैं उसका करूँ। आहाहा! यह तो जगत में से नमालो हो, तब मुश्किल से मिले ऐसा है। आहाहा! **जो दुःख उत्पन्न होता है, वह भेदज्ञान से नाश को प्राप्त होता है।** आत्मा आनन्दस्वरूप होने पर भी अनादि से उसकी दशा में पर की

ममता का भाव है, इसलिए वह दु:खी है। संयोग अनुकूल हो या प्रतिकूल, वह कहीं सुख-दु:ख का कारण नहीं है। उसकी दशा में स्वभाव की स्थिति को छोड़कर विभाव में, विकार में, राग की वृत्ति उठाकर वहाँ रहता है, यही दु:ख है। यह अतीन्द्रिय आनन्द का अनादर है और राग का आदर है, वही दु:खी है। आहाहा! अरे! ऐसा यह कैसा तत्त्व?

भेदज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते,... आहाहा! अन्दर आनन्द के स्वभाव को प्राप्त करते नहीं, राग और पर से भिन्न जानकर स्वरूप की जागृति करते नहीं, **वे घोर तप करने पर भी, मोक्षमार्ग अथवा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकते।** है सेठ? आहाहा!

विशेष—शरीरादि और रागादि में आत्मबुद्धि करना, विभ्रम है,... स्वयं नित्य वस्तु है अर्थात् शरीर को कायम रखने का प्रयास करता है। उसे नित्य करना चाहता है। ऐसे (आत्मा) नित्य है, उसकी खबर नहीं है। आहाहा! टिकती त्रिकाली चीज़ भगवान शाश्वत् वस्तु है। उसे शाश्वत् की न करके, यह (पर) चीज़ को मैं कायम टिकाऊँ। शरीर को, वाणी को, परिवार को। बुद्धि गुलांट खा गयी है। इज्जत कायम शाश्वत् रहे। पुत्र-पुत्री ठीक से हों, विवाह करे, इन सबका समरूप-व्यवस्थित (रखूँ)। आहाहा! तब मैं जन्मा सफल कहलाये। आहाहा! अरे! भगवान! हार बैठा है, भाई! आहाहा! तुझमें जो नहीं, उसकी व्यवस्था में रुकता हुआ तू दु:खी है।

शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का अनुभव करने से—स्व-पर का भेदज्ञान करने से अर्थात् देहादि से और शुभभाव से भी भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मैं हूँ;... आहाहा! शरीर, वाणी से तो भिन्न हूँ। अन्दर चैतन्य जलहल ज्योति चैतन्यसूर्य, वह मैं। शरीर, वाणी जड़ है, अन्धकार है, अन्धे हैं, उनसे भिन्न मैं जागती ज्योति हूँ। परन्तु राग और दया-दान और भक्ति के परिणाम भी राग और अन्धकार है वह। क्योंकि राग नहीं जानता स्वयं को और राग नहीं जानता भगवान को। आहाहा! इस राग से मैं भिन्न हूँ। शुभभाव से भी भिन्न। आहाहा! ज्ञानदर्शनस्वरूप ही मैं हूँ। जानने-देखनेवाला, ऐसी जो शक्ति, वह मैं हूँ। राग है, वह अन्धकार है, दु:खरूप है, अचेतन है। क्योंकि राग में अपना चैतन्यस्वभाव

का अंश नहीं आता। ओहोहो! दया, दान, सेवा, परोपकार, भक्ति, पूजा, व्रत, तप का विकल्प जो उठता है, वह तो राग है। राग में चैतन्यज्योति कहाँ आयी है उसमें? आहाहा! चैतन्य का अंश यदि उसमें आवे तब तो वह जाने। यह तो अंश बिना अन्धेरा है। आहाहा! समझ में आया?

शुभभाव से और शरीर से भी भिन्न ज्ञानदर्शनस्वरूप ही मैं हूँ। दूसरा कुछ मेरा नहीं। **ऐसे आत्मज्ञान से यह दुःखरूप भ्रान्ति दूर होती है।** आहाहा! **ऐसे भेदविज्ञान के प्रयत्न बिना,...** अर्थात् कि पर से भिन्न करने के प्रयत्न बिना **घोर तप करे तो भी जीव सच्चा धर्म प्राप्त नहीं करता।** वह शुभभाव हो, व्यवहार धर्म, उसे पुण्य कहा जाता है। वह धर्म नहीं। आहाहा! **जीव सच्चा धर्म प्राप्त नहीं करता।** पेरेग्राफ विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण ५, शनिवार, दिनांक ०१-२-१९७५, श्लोक-४१, प्रवचन-५३

विशेष का दूसरा भाग। आत्मा को मुक्ति अर्थात् परम आनन्द की प्राप्ति। जैसा परमानन्दस्वभाव है उसका, वैसा ही उसकी पर्याय में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, उसका नाम मुक्ति। वह **मुक्ति-प्राप्ति के लिए आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ 'इच्छा निरोधरूप तप' ही कार्यकारी है।** आत्मा शुद्ध चैतन्य का अनुभव, आनन्द के स्वाद में आत्मा का ज्ञान होने पर, उस आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ इच्छानिरोध तप ही कार्यकारी है। जिसे आत्मज्ञान, आनन्द क्या है, उस चीज़ की खबर नहीं, वह अपवास आदि करे, वह सब दुःख की, आकुलता की दशा है। आहाहा!

मुक्ति-प्राप्ति के लिए... अनन्त आनन्द की दशा की प्राप्ति के लिये अथवा दुःख की दशा के नाश के लिये। मुक्ति है न? आत्मज्ञान, जो आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसा ज्ञाता-दृष्टापना वेदन में आवे, वह आत्मज्ञान। उस पूर्वक इच्छा का निरोध (अर्थात्) अतीन्द्रिय आनन्द में बसते हुए उसे इच्छा उत्पन्न ही न हो, ऐसा तप, उसे कार्यकारी है। भारी कठिन बात। जगत को एकान्त लगता है सबको। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहारतप कुछ काम न करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारतप काम का है, वह आकुलता के लिये।

आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान और उसका आनन्द आवे नहीं, तब तक वह तप क्या करे? इच्छानिरोध तप है। तब इच्छानिरोध तप कब होगा? आत्मा के आनन्द के भान में, अतीन्द्रिय आनन्द में रहने के लिये इच्छा (भी) न हो, उसे सच्चा तप कहते हैं। लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहार तो नाश कर डाला। निश्चय... निश्चय (कहते हैं)। परन्तु बापू! आहाहा! स्व... स्व... स्वरूप, आत्मस्वरूप, स्व अर्थात् आत्मस्वरूप, वह तो ज्ञान और आनन्द का कन्द है। ऐसी दशा आत्मा के ज्ञान की अन्तर में वह शुद्ध आनन्द उसका दशा में भान हुए बिना इच्छा का निरोध किस प्रकार कर सके? समझ में आया? कठिन बात है, भाई! मुक्ति—आत्मा परमानन्द की प्राप्ति करे, उसका उपाय परमानन्द में रहना और इच्छा का न होना, उसका नाम तपस्या कहा जाता है। समझ में आया?

आत्मज्ञान से शून्य... जिसे आत्मा आनन्द और ज्ञान और शुद्ध चैतन्य धातु, जिसने चैतन्यपना, आनन्दपना धार रखा है। आहाहा! ऐसे आत्मा का ज्ञान, उसका भान और उसके स्वसन्मुख की दशा प्रगट हुए बिना यह सब तपस्यायें आठ-आठ अपवास, महीने-महीने के अपवास (करे), वह सब दुःखदायक है, आकुलता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा भी सीधा मार्ग ऐसा होगा? कहीं उसका रास्ता अन्यत्र संक्षिप्त होगा या नहीं? यही संक्षिप्त है, भाई! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव जिसका, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान जिसका शाश्वत् स्वरूप... आहाहा! उसे दृष्टि में और वेदन में लिये बिना उसे इच्छा का निरोध किस प्रकार होगा? आनन्द में जाये, तब इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती। अब इस आनन्द की तो खबर नहीं। कहो, सेठ! क्या कहा?

मुमुक्षु : बाहर से मिलता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर से मिलता है न, राग-दुःख। आहाहा!

आत्मज्ञान से शून्य... भगवान आत्मा अकेला ज्ञान और आनन्दस्वरूप, उसका ज्ञान। शास्त्रज्ञान आदि की बात अभी नहीं है। जिसके ज्ञान में आत्मा जिसे ज्ञान में अन्दर आया। आहाहा! ज्ञान की पर्याय में आत्मा विराजमान आया। आहाहा! ऐसा जिसे आत्मज्ञान नहीं, वह चाहे जितनी तपस्यायें, अपवास, इन्द्रियदमन (करे), ब्रह्मचर्य पाले, वह सब आकुलता है, कहते हैं। कहो, पाटनीजी! ऐसा स्वरूप है, भाई! आहाहा! कितने ही कहते थे कि भाई यह कलकत्तावाले आकर सुन जायें ऐसी बात। सब भड़कते हैं। कलकत्ता हो या मुम्बई हो, मार्ग तो यह है, बापू! आहाहा!

जो निज वस्तु है अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय प्रभुता के भाव से भरपूर तत्त्व-स्वभाव... आहाहा! उसके सन्मुख में जो इसका ज्ञान होता है, ऐसी सन्मुखता के ज्ञान बिना लाख शास्त्र पढ़े, करोड़ पढ़े... आहाहा! ऐसी बात है, बापू! और दुनिया को समझावे, वह सब विकल्प की क्रियायें हैं। समझ में आया? क्योंकि जो वस्तु है, वह तो पर्याय में भासन में तो आयी नहीं। आहाहा! वह आत्मज्ञान से शून्य तप, वह तप नहीं है। वह तो संसार परिभ्रमण का ही कारण है। सेठ! यह बाहर... बाहर। आहाहा! वह तो सब क्रियायें विकल्पवाली हैं। अपवास और वह सब आकुलता है वह

तो। आनन्दस्वभाव भगवान की दृष्टि हुई नहीं, उसकी सत्ता का स्वीकार ज्ञान में आया नहीं तब उसमें स्थिर होना कहाँ से हो उसे? और उस स्वरूप में स्थिर होना और इच्छा का उत्पन्न न होना, इसका नाम चारित्र और तप है। आहाहा! भाई! जगत से निराली वस्तु।

वह तो संसार परिभ्रमण का ही कारण है;... आहाहा! भले वह राग की मन्दता हो, परन्तु अभिप्राय की मिथ्यात्व की तो तीव्रता है। अर्थात्? शुद्ध आनन्दघन को तो प्रतीति में लिया नहीं, इससे उसकी प्रतीति तो राग में और विकार में वर्तती है। उसी अस्तित्व में मैं हूँ, वह वर्तता है। यह तो मिथ्यात्व के पोषक सहित शुभभाव की आकुलता है। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसे मनुष्यपने में यह चीज़ न समझे और बाहर से रुक जायेगा (तो) अरे! इसे अवसर कब मिलेगा? भाई! आहाहा!

कहते हैं कि आत्मज्ञान शून्य (वह) संसार का कारण है। आहाहा! **उससे कभी भी आत्मा, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता...** जो चीज़ ही दृष्टि में आयी नहीं, उस चीज़ का ही ज्ञान हुआ नहीं। आहाहा! वह वस्तुस्वभाव का ही ज्ञान में माहात्म्य आकर उसका अनुभव नहीं, वह जीव क्या करेगा? आहाहा! **और न कर्मबन्धन से छूट सकता है।** आहाहा! **उसकी दुःख परम्परा चालू ही रहती है।** आहाहा! आत्मदर्शन, आत्मज्ञान अर्थात् वस्तु का स्वरूप है, ऐसा उसका माहात्म्य दृष्टि में आया नहीं, उस चीज़ को जानता नहीं, उसके सब तप आदि तो परिभ्रमण का, बन्धन का कारण है।

(संवत्) २००९ के वर्ष में यहाँ स्पेशल (ट्रेन) आयी थी न। तोलारामजी आये थे न? अपने २००९ में महोत्सव होने से पहले। चैत्र महीने पहले दो महीने पहले। तोलारामजी आये थे। वच्छराजजी से बड़े। गजराजजी से छोटे। गजराजजी आये थे। गजराजजी थे। और तोलारामजी तीनों इकट्ठे हुए। वह स्पेशल ट्रेन, साथ में एक जवान व्यक्ति था। वह यहाँ का जरा पढ़ा हुआ, सुना हुआ, इसलिए उससे रास्ते में कुछ बात हुई होगी कि तत्त्वार्थसूत्र में तपस्या निर्जरा कही है न? तोलाराम (कहे) पूछना महाराज को। लड़का सवेरे में आकर। सेठ! पूछो महाराज को। यह 'तपसा निर्जरा' अर्थात् क्या? २००९ की बात है। २२ वर्ष हुए। कितने हुए? २२।

भाई! यह तपसा निर्जरा तो अन्तर के स्वरूप में आनन्द में लीन हुआ, उसे बारह

प्रकार के तप की व्याख्या करके उसे निमित्तपना बतलाया है। यह अपवास करे और ऊनोदरी करे और रसपरित्याग करे, एकासन करे, जमीन पर सोवे, इसलिए तप होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! 'तप्यंति इति तप।' अपने आया था न इसमें कहीं? नियमसार में आया था न? नियमसार में। नियमसार में आया था न? हाँ, यह। नियमसार में आया था।

मुमुक्षु : ५६ पृष्ठ पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ५६ पृष्ठ पर। यहाँ भी आया।

स्वरूप में स्थिर होना और चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपना... है? बीच में। आहाहा! है न? ५६ वें पृष्ठ पर। **स्वरूप में स्थिर होना...** तो स्वरूप क्या? स्व-रूप क्या? आनन्द और ज्ञान जिसका स्वरूप रूप है। ऐसे भगवान के भान में स्थिर होना। आहाहा! **और चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपना...** और भगवान राग बिना की दशा से शोभित होना, **आत्मा की शुद्ध पर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन...** आत्मा की निर्मल शुद्ध वीतरागी पर्याय में पुरुषार्थ का उग्र प्रतपन, वह तप है। नीचे है न?

सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप... दो। **परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है...** यह तो सब निश्चय... निश्चय... निश्चय... अर्थात् लोगों को बेचारों को लगे, बापू! निश्चय, वह सत्य है, हों! व्यवहार के उपचार बीच में विकल्प हो, पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ तक विकल्प होते हैं, परन्तु वह पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! अर्थात् कि अबन्धस्वभावी को वह बन्ध का कारण है। आहाहा! भगवान अबन्धस्वरूप स्थित है बड़ा। निषेध से (नास्ति से) अबन्ध कहते हैं और अस्ति से मुक्त कहते हैं। मुक्तस्वरूप परमानन्दमूर्ति है। उसे कर्म और राग के साथ सम्बन्ध कहाँ है? आहाहा! वस्तु जो है आनन्दघन, चिद्घन, शान्ति का घन, स्वच्छता का घन... आहाहा! उसमें उदयभाव विकल्प कहाँ है? समझ में आया?

ऐसे वस्तु के भान में स्थिर होना, प्रतपना। सोने को गेरु लगाने से जैसे सोना ओपता है, शोभता है। वैसे भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवन्त तो है। उग्र पुरुषार्थ से जब स्थिर होता है, तब उसे तपस्या कही जाती है। कहो, समझ में आया? यह महिलायें वर्षीतप नहीं करतीं? जादवजीभाई! वर्षीतप किया था या नहीं वर्षीतप? घर से किया है

कभी वर्षीतप ? नहीं। ख्याल नहीं। महिलायें ही करे, पति कहाँ निवृत्त है दुकान में धन्धे के कारण। यह और बलुभाई जैसे कोई निकले। बलुभाई ने किया था न! यह बलुभाई नहीं ? यह नारणभाई के लाभुभाई के साले। यह लाभुभाई नहीं ? लाभुभाई। उनके साले ने किया न, वर्षीतप किया है। अभी बड़ा दवाखाना... दवाखाना नहीं, दवा बनाने का नहीं ? फैक्टरी बड़ी पचास लाख रुपये की। जंगल में है। वहाँ हम गये थे। भाई भी थे, नानालालभाई थे, रामजीभाई थे। रामजीभाई थे। वहाँ आहार किया था। बड़ी दवा ऊँची आवे। यह गोलियाँ आती हैं न बहुत प्रकार की। वे सब ... बनाते थे। पानी का बड़ा क्या कहलाता है, वह काँच का ? बोतल। बड़ी बोतल। परन्तु छूने न दे किसी को, हों! ऐसी दवायें होती है। उसने वर्षीतप किया था। वर्षीतप के पारणे हम वहाँ राजकोट थे।

जिसने आत्मा आनन्द है, ऐसा जाना नहीं, देखा नहीं, वह स्थिर कहाँ हो ? एक नीचे बैठने पर भी ध्यान रखे कि भाई, मुझे यहाँ बैठना है। कंकर है, काँटे है, बिच्छू है, या सर्प है ? ध्यान रखते हैं न ? इसी प्रकार यह जिसमें बैठना है, वह चीज़ कौन है ? जिसमें स्थिर होना है, जिसमें जाना है, जिसमें आत्मा की लीनता करनी है, वह है कौन परन्तु वह ? सेठ! आहाहा! उस चीज़ के आनन्द के भान के बिना उसकी जो क्रिया है, वह सब आकुलताजन्य है। कहो, समझ में आया ? वर्षीतप तो अपने बहुत स्थानकवासी में रिवाज बहुत है। नहीं ? प्रेमचन्दभाई! किया था ? दोनों ने किया था ? कुटुम्ब ने भी किया था ? तुम्हारी बहिन। यह तो रिवाज है। सम्प्रदाय में है न। वजुभाई ने किया था कुछ ? घर में किया था या नहीं ? वर्षीतप नहीं किया ? महिलायें करे नहीं तो। बहुत बार ऐसा आता है। होवे बेचारे क्या करे ? वर्षीतप न ? आत्मतप नहीं न ? आहाहा!

जो चीज़ ही दृष्टि में (आयी नहीं), उस चीज़ की दौलत देखी नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा की चीज़ में दौलत क्या है ? पूँजी क्या है ? लक्ष्मी क्या है ? आहाहा! उसके ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी है, वह लक्ष्मी भासित (हुए बिना), दृष्टि में भासित हुए बिना उसका ज्ञान बिना, ऐसा। किसमें वह खड़ा रहकर तपस्या करेगा ? वह तो राग करेगा। आहाहा! यहाँ आया न ?

इसलिए **उसकी दुःख-परम्परा चालू ही रहती है।** आहाहा! आनन्द का नाथ जहाँ

नजर में नहीं आया, अतीन्द्रिय आनन्द का अस्तित्व, वह आत्मा। उसमें राग का अस्तित्व और वह कुछ आत्मा नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा। अरे! उसकी कीमत नहीं इसे। यह बाहर में सुख खोजता है। परन्तु जहाँ सुख है, वहाँ यह मानता नहीं और नहीं है, वहाँ यह सुख मानता है। अब यह वह क्या करना? सुख का धाम स्वयं है, सच्चिदानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का धाम भगवान आत्मा है। आहाहा! अरे! कैसे जँचे? एक बीड़ी अच्छी मिले और सिगरेट (मिले), वहाँ प्रसन्न हो जाता है। आहाहा! एक सुन्दर घर, रंगरोगन करके हो, देखने पर आँखें स्थिर हो, उसे यह भगवान कैसे दिखाई दे? आहाहा! एक पाँच-पचास हजार पैदा हों, दरेडो पड़ता हो प्रतिदिन का, उसे देखने में रुके। आहाहा! उसे आत्मा में आनन्द है, उसे कब देखे वह? आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि वह आत्मा जो आनन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान। यह आनन्द है, उसका ज्ञान। वह ज्ञान हुए बिना जितनी तपस्यायें और व्रतादि करे, वे सब विकल्प की आकुलता और दुःख की परम्परा चालू है। उसकी दुःख की परम्परा टूटी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सुजानमलजी!

मुमुक्षु : हमारे पुत्र और बहू ने किये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : की है?

मुमुक्षु : अभी चालू है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी चालू है?

मुमुक्षु : भूमिका साफ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं भूमिका। आहाहा! जिस भूमिका में बीज रोपना है, वह भूमि कैसी है? सम्यक्त्वरूपी बीज। चैतन्यमूर्ति भगवान आनन्दस्वरूप में इसे सम्यग्दर्शन का बीज तो वहाँ रोपा जाता है। अब उस चीज़ की तो खबर नहीं। आहाहा! यह सब वर्षीतप करे, छह-छह महीने के अपवास करे, रस छोड़े, शरीर कृश हो जाये, परन्तु उसमें आत्मा कृश नहीं होगा। उसकी पर्याय में दुःख की हीनता नहीं होगी। आहाहा!

पण्डित श्री टोडरमलजी ने कहा है कि — मोक्षमार्ग (प्रकाशक) का आधार देते हैं। **जिनमत की तो यह परिपाटी है...** वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के मत में ऐसी परिपाटी है कि **पहले सम्यक्त्व होता है,...** पहले आत्मदर्शन होता है। आहाहा! शुद्ध चैतन्य आनन्दधाम अनाकुल शान्तरस का धाम भगवान आत्मा का पहले समकित होता है। सम्यक् अर्थात् जैसी चीज़ है, वैसी उसके ज्ञान में आकर प्रतीति हुई हो। समझ में आया?

सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। सम्यग्दर्शन के बाद व्रत होते हैं। वह भी स्थिरता विशेष हो, तब उसे व्रत का विकल्प उठता है। आहाहा! समझ में आया? अव्रत, परित्यज का आगे आयेगा, नहीं? अव्रत को छोड़कर व्रत में आना, स्थिरता करके व्रत को छोड़ना। इसमें आयेगा। आहाहा! अनजाना मार्ग अनादि का, उसने मार्ग को देखा नहीं। कहाँ चले? देखे बिना कहाँ चले? आहाहा! अन्धे आँखोंरहित, वे दौड़े तो कहाँ जाये? कहीं खड्डे में गिरेंगे। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा की आँखें जहाँ खिली नहीं। जहाँ जाना है, उस मार्ग का स्थान कैसा है वह? 'दीठ मग्गे' ऐसा पाठ है शास्त्र में। मार्ग देखा नहीं। यह देखे हुए मार्ग में कहाँ जाये, देखा नहीं वहाँ? आहाहा!

पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है... यह कहीं व्रत और तप को करे तो समकित होता है, ऐसा (नहीं है), यह क्रिया तो राग की क्रिया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश कैसा? जहाँ-तहाँ ऐसा सुने कि अपवास करना, रस परित्याग करना, आसन लगाना ऐसे। एक पैर ऊँचा करके खड़े रहना। यहाँ हमारे करते थे लीलाधरजी करते थे, लीलाधरजी करते थे। तुम्हारे चूडा में रहते थे। यहाँ हमारे आते थे। यहाँ आते थे। दरवाजे में खड़े रहे एक पैर से ऊँचे। समवसरण दिखाई दे, ऐसा कहे। वह तो कल्पना की हो। भान कहाँ था कुछ। समवसरण की कल्पना की हो न कि ऐसा और भगवान ऐसे... अरेरे! समवसरण में विराजता भगवान देखा है तूने? समवसरण में भी अनन्त बार गया और अनन्त बार सुना। वह समवसरण अनन्त बार देखा है। उसमें भगवान विराजमान सर्वज्ञ परमेश्वर, ऐसे ही विराजमान देहदेवल में आत्मा है। अरे! कैसे लगे? उसकी महत्ता कैसे जँचे? आहाहा!

श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है;... भाई ने लिखा है न टोडरमलजी ने। स्वरूप आत्मा का जो है, उसका सम्यग्दर्शन, सच्चा अन्तर सम्यक् सत्य जैसा है, वैसा दर्शन—श्रद्धान, पश्चात् व्रत होते हैं। और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये तो द्रव्यानुयोग का अभ्यास हो। द्रव्यानुयोग अर्थात् जिसमें आत्मतत्त्व का कथन होता है, उसका अभ्यास हो। उसका अभ्यास करने से होता है। **इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार...** द्रव्य को कहनेवाले, आत्मद्रव्य को कहनेवाले अध्यात्म शास्त्र। आहाहा! उसके **अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो...।** यह वह कैसा अन्याय? कि सम्यक्त्व का भान नहीं होता और व्रत, तप करने लगे। आहाहा! जाना था पूर्व में और चलने लगे पश्चिम में। क्योंकि वह दिशा पर है। राग की क्रिया की दिशा तो पर के ऊपर है। आहाहा! **व्रती हो...** लो, फिर व्रती होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव... मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात्? जिसे राग की रुचि है, पर्याय के अंश की बुद्धि है, पर निमित्त पर जिसका भाव रुका हुआ है, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। चाहे तो वह साधु हुआ हो बाह्य से हजारों रानियाँ आदि छोड़कर, परन्तु अन्दर में राग का विकल्प उठता है, उस पर जिसकी दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि सच्ची दृष्टिवन्त ऐसा आत्मा, उसकी दृष्टि तो हुई नहीं। आहाहा! ऐसे **आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करके, जितने कर्मों का अभाव करता है, उतने कर्मों का नाश, ज्ञानी अपने मन-वचन-काय का निरोध कर, क्षणमात्र में सहज कर देता है।** आहाहा! समझ में आया? नीचे है न? 'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे,...' करोड़ भव।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे,
ज्ञानी के छिनमांहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते। (छहढाला, चौथी ढाल)

इसका अर्थ भी उल्टा करते हैं। ऐसा कहा है न? कोटि जन्म तपे, उसमें जो ज्ञान बिना कर्म खिरते तो हैं। वह तो विपाक जो कर्म का उदय आवे, वह तो खिर तो जाता है। वह कहाँ झरते हैं कर्म? आहाहा! 'ज्ञानी के छिनमांहि...' अज्ञानी करोड़ जन्मों में तप तपे, उसे जो पाप कर्म के रजकण टलते हैं... आहाहा! वे ज्ञानी आत्मा के आनन्द में लवलीन,

आनन्द की लहर में भले गृहस्थाश्रम में हों, परन्तु क्षणमात्र में अतीन्द्रिय आनन्द में जैसे लीन रहते हैं, वे कर्म टलते हैं। आहाहा! सहज टलते हैं।

आनन्द का स्वरूप भगवान आत्मा का, वह कर्म और राग बिना का है। उसके भान में रहने से सहज कर्म का उदय खिर जाता है। उसके सामने देखा नहीं; देखा है सामने भगवान सामने अन्दर। आहाहा! अरे! वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकर, गणधरों की सभा में उपदेश करते होंगे, वह कैसा होगा? बापू! आहाहा! जिनकी सभा में सैकड़ों सिंह, सैकड़ों बाघ और सैकड़ों नाग... आहाहा! काले नाग जिसे देखने से त्रास हों, ऐसे सैकड़ों नाग भगवान के समवसरण में में सुनने बैठे होते हैं। आहाहा! ऐसी बात कैसे बैठे? भगवान विराजते हैं अभी। महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान जीवन्त स्वामी (विराजते हैं)। जीवन्तस्वामी कहा है न?

लिखा है, वहाँ गये थे न? कौन सा गाँव? बयाना। बयाना में जीवन्तस्वामी नाम लिखा है। भगवान की प्रतिमा। पहले तो ऐसा नहीं था। यह भगवान की प्रतिमा है या किसकी यह? परन्तु यहाँ सीमन्धर भगवान स्थापित किये, यह बात उनके कान में गयी बयाना में। हम जा आये थे। भाई के साथ थे। प्रभुभाई! उन्होंने साढ़े तीन हजार रुपये दिये, अभिषेक लिया था। इसमें उन्होंने देखा तो प्रतिमा आड़ी रखे न नीचे, इसलिए वह नाम यह कौन है भगवान का। यह प्रतिमा जरा आगे करके देखा, वहाँ मूल प्रतिमा पर नाम जीवन्तस्वामी (लिखा हुआ) था। जीवन्तस्वामी, जीवतेस्वामी। क्योंकि महावीर भगवान आदि चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे हैं। वे कहीं जीवित शरीर अब नहीं है उन्हें। आहाहा! भगवान परमात्मा... आहाहा! सर्वज्ञदेव सीमन्धर प्रभु जीवन्त विराजते हैं, इसलिए उसमें जीवन्तस्वामी लिखा था। तब कुछ दिया था, नहीं? पाँच-छह हजार रुपये। उसे करने संघ आया था। आहाहा! उस सभा में इन्द्रों की उपस्थिति, गणधरों की उपस्थिति, बाघ और नाग की उपस्थिति, सिंह की उपस्थिति। आहाहा! लोगों को बैठना कठिन। आहाहा! उसमें भगवान का यह फरमान था। यह बात यहाँ आचार्य स्वयं कर रहे हैं, उसे यहाँ टोडरमलजी ने उसमें से लेकर बात की है। आहाहा!

भाई! तूने तेरे आत्मा को देखा नहीं, जाना नहीं, उसके आनन्द का स्वाद तूने लिया

नहीं। अब तू कहाँ जायेगा? आहाहा! तेरी गति तो राग और द्वेष और विकार पर रहेगी। समझ में आया? पोपटभाई! ऐसी बातें हैं। ज्ञानी अपने... आहाहा! **जितने कर्मों का अभाव करता है, उतने कर्मों का नाश, ज्ञानी अपने मन-वचन-काय का निरोध कर, क्षणमात्र में सहज कर देता है।** आहाहा! मन, वचन और काया से भिन्न जाना था, इस मार्ग से गया अन्दर। आहाहा! अन्दर स्थिर होने पर करोड़ों जन्मों में अज्ञानी जो कर्म खिपाता ही नहीं, नहीं ही खिपाता उसमें नहीं ही खिपाता, ऐसा। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि 'विन कर्म झरै जे...' है न? हाँ किया है न।

ज्ञानी के छिनमांहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।

अरे! आत्मा के भान बिना, अनुभव बिना, सम्यग्दर्शन बिना जैन का साधु दिगम्बर नग्न मुनि वनवास में अनन्त बार रहा। यह वस्त्रवाले की तो बात क्या करना? वह तो द्रव्यलिंगी भी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं कि... 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,' मक्खी जैसे यहाँ से उड़कर... क्या कहलाता है वह? मोभ। मोभ नहीं यह पासड़ा। यहाँ से उड़कर पासड़े में जाये तो कहीं ऊँची हो गयी कहलाये? इसी प्रकार जिसे क्रियाकाण्ड ऐसे दया, दान, व्रत, तप किये, ऐसे पुण्य के कारण नौवें ग्रैवेयक है पासड़ा बड़ा। उसे तीन पासड़ा कहते हैं नौ ग्रैवेयक को। विमान के पासड़ा। वहाँ उत्पन्न हुआ। अनन्त बार जीव उत्पन्न हुआ। साधु होकर हजारों रानियाँ छोड़कर दुकान छोड़ी, व्यापार धन्धा छोड़कर आत्मा के धन्धे में गये बिना राग के धन्धे में अनन्त बार काम किया इसने, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : उससे कुछ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे लाभ मिले जहर का।

मुमुक्षु : सबको लागू नहीं पड़ता। जिसने न किया हो, उसे लागू पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : न किया हो, उसे लागू पड़ता है अर्थात्? सबने अनन्त बार किया है। यह तो यहाँ चलता है न! क्या कहा यह? अनन्त बार पूर्व में किया। अभी हमने कहाँ किया है, ऐसा कि वर्षीतप और ऐसा, ऐसा कहते हैं। हमने तो पैसे की ममता की है, यह

अभी तक। क्यों सेठ! यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व में यह सब जीव...

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ...

ऐसे व्रत पालन किये, महाव्रत पालन किये, व्यवहार समिति, गुप्ति पालन की। आहाहा! शरीर से आजीवन का ब्रह्मचर्य पालन किया, परन्तु ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्द, उसका ब्रह्मचर्य इसने पालन नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? देखा! है? **आत्मज्ञान बिना, पाँच महाव्रत पालन कर-मुनि होकर वह नौवें ग्रैवेयक तक देवलोक में अनन्त बार गया,...** सेठ! तुम्हारा आत्मा भी अनन्त बार गया, ऐसा कहते हैं। यहाँ भले वर्षीतप न किया हो। आहाहा! **परन्तु जरा भी सुख प्राप्त नहीं किया।** अरे! यह पंच महाव्रत के दया, दान के विकल्प, वे सब राग हैं, वह तो आकुलता-दुःख है। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ (है), उसमें विकल्प का अभाव है। आहाहा! अरेरे! उसे जो करने का, वह किया नहीं और नहीं करने का लगाया इसने। आहाहा! **जरा भी सुख प्राप्त नहीं किया।** ऐसा है। है? देखो! 'निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ...' आहाहा! आत्म -आनन्द का समुद्र प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द का सरोवर सागर आत्मा है। अरे! कैसे जँचे इसे? एक बीड़ी में तम्बाकू जरा वैसी आवे, छींकणी-छींकणी। मस्तिष्क तर हो जाये। आहाहा! कहाँ अटका है अज्ञानी? सवेरे की चाय ठीक से पीवे उठकर डेढ़ प्याला, डेढ़-पाव सेर (फिर कहे), अब स्फूर्ति आयी।

मुमुक्षु : चाय पीने से स्फूर्ति आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी स्फूर्ति नहीं आती। सुनने आया हो तो कहे, भाई! चाय पीये बिना आया हूँ, बराबर चैन नहीं पड़ता। ठीक! यह डेढ़ पाव-सेर का प्याला तुझे चैन करे? मूर्खाई के यह कोई गाँव अलग होंगे? समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो बात यह है, बापू! जिसे धर्म नहीं हुआ, वे सब अज्ञानी ऐसे अज्ञान में अटककर तपस्यायें और व्रत भी पालन किये, उसमें कुछ आत्मा की शान्ति हुई नहीं। आहाहा! यह तो ऐसा! वाडा में तो रहने दे नहीं, हों! परन्तु यहाँ तो वाड़ा नहीं होता, सम्प्रदाय नहीं होता। यह तो गाँव का पादर है। आहाहा! मार्ग तो प्रभु ऐसा है, हों! भले तुझे

दूसरे प्रकार से कोई माने और मनावे, यह भव चला जायेगा, भाई! इस भव में करने का जो है, वह रह जायेगा। आहाहा! यह चींटी और कौवे को मनुष्यभव मिला नहीं और तुझे मिला उसमें क्या अन्तर पड़ा? समझ में आया? आहाहा!

श्रीमद् ने कहा नहीं अन्त में? रे आत्म तारो आत्म तारो... १६ वर्ष में।

तारो अरे तारो निज आत्मा शीघ्र अनुभव कीजिये
सर्वात्म में समदृष्टि दो, यह वच हृदय लख लीजिये।

१६ वर्ष में कहते हैं १६ वर्ष में। आहाहा! 'तारो अरे तारो निज आत्मा शीघ्र अनुभव कीजिये' भवसिन्धु के समुद्र में डुबकी मारता आत्मा, उसे अब तारने का अवसर आया, प्रभु! तार तू, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सेठ! श्रीमद् १६ वर्ष की उम्र में (कहते हैं)। बहु पुण्य पुंज... आता है न? उसमें अन्तिम पद है। आहाहा!

बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला।
तो अभी अरे भवचक्र का फेरा न एक कभी टला॥

आहाहा! यह तो भव के अभाव की ही बात खड़ी करते हैं।

सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है
तू क्यों भयंकर भावमरण, प्रवाह में चकचूर है

'यह शुभ और अशुभ राग मेरा कर्तव्य है', इसमें क्षण-क्षण में प्रभु! तेरी मृत्यु होती है। आहाहा! चैतन्य की जीवनज्योति का अनादर होता है। त्रिकाली जीवन के जीनेवाला चैतन्य के आनन्द से प्रभु, ऐसे जीव के जीवन का अनादर होकर शुभ-अशुभभाव में क्षण-क्षण में भयंकर मरण होता है, कहते हैं। आहाहा! यह अपवास के करनेवाले भी क्षण-क्षण में जीव की मृत्यु करते हैं। आहाहा! उसे उसके विकल्प की क्रिया में बहुमान जाने से भगवान आनन्द का नाथ अन्दर स्थित है, उसका उसे बहुमान नहीं आता। आहाहा! वह है, उसे नकार करके यह राग है, वह मैं हूँ, (इस मान्यता में) तेरी मृत्यु है, प्रभु! आहाहा! देह के छूटने के काल में देह छूटेगी, वह तो देह का छूटना है, परन्तु राग की क्रिया में रस पड़ा है, प्रभु! तेरी मृत्यु होती है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! आहाहा!

ऐसा आता है न? कहीं श्रीमद् में आता है। 'भगे मरण को देखकर' नहीं आता?

शुरुआत में कहीं आता है। अपने को कुछ याद रहे सब ? 'भगे मरण को देखकर नहीं काल छोड़े किसी को।' आहाहा! काला नाग ऐसे जहाँ देखे, और डसता हो तो हाय। हाय... अब मैं नहीं जीऊँगा। अभी लड़के को काला नाग डसा न ? डसा न। छह वर्ष का लड़का। डसा और डसने के साथ जहर चढ़ गया। मौके से डॉक्टर भी नहीं। मोटर में डालकर ले जाते थे, वहाँ रास्ते में समाप्त हो गया। अभी दूसरे कोली को डसा था। तुम्हारे पगी का भाई। मथुर का भाई। आया था यहाँ बेचारा। यहाँ महाराज यहाँ डसा था परन्तु मैं रह गया। सर्प डसा था यहाँ। और डसने के साथ फिर आहार किया और आहार करने के साथ उल्टी हो गयी और यहाँ ले गये दवाखाने, कुछ दिया। आयुष्य हो तो बचे। उसमें कोई किसी के उपाय से रहे ? आहाहा! आये थे बेचारे दर्शन करने। मैं ठीक होकर आया। मुझे सर्प डसा था। उसने बताया। अरे! काला नाग मिथ्यात्व का डसा, उसका जहर खबर नहीं, बापू! आहाहा!

शुद्ध आनन्द का नाथ जीव को यह जीवत्व चैतन्य के भावप्राण से आनन्द और श्रद्धा-ज्ञान के भावप्राण से जीनेवाला प्रभु, ऐसे जीव को तूने पहिचाना नहीं और उसके बिना तूने यह सब तपस्या आदि की, मुनि हुआ, यह सब एक बिना के शून्य निकले। आहाहा! रण में तेरा शोर कोई नहीं सुनेगा, भाई! इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान बिना की यह तेरी क्रियायें कोई नहीं सुनेगा, भाई! आहाहा! समझ में आया ? कुछ समझ में आया, ऐसा आता है न ? अरे! सब समझे, तब तो निहाल हो जाये न! आहाहा!

किस पहलू में जाना और किस पहलू से हटना, इसकी खबर नहीं। चैतन्य के पहलू से हटकर पुण्य-पाप के परिणाम की क्रिया के पक्ष में अनादि से चढ़ गया है। यह दुःख की परम्परा के दुःख को यह वेद रहा है। आहाहा! यह पैसेवाला करोड़पति या अरबपति, वह बेचारे सब दुःखी हैं। पागल दुनिया उसे सुखी कहे। समझ में आया ? लो, पोपटभाई! यह तुमको सबको सुखी कहे। यह करोड़पति हैं, ये सेठिया करोड़पति यह रहे और यह रहे। कौन चला गया ? दूसरे थे न बहुत। आहाहा! भाई! तुझे सुखी कौन कहे ? सुख तो आत्मा के आनन्द में है। उसकी तो तुझे वानगी (नमूना) की भी खबर नहीं। आहाहा! वानगी (नमूना) की मिले तो इसे खबर पड़े कि यह तो पूरा आत्मा यह तो

आनन्दस्वरूप है ! ओहोहो ! समझ में आया ? इसके भान बिना अनन्त बार मुनिपना लिया परन्तु उसके फल संसार में भटकने का आया। आहाहा !

अज्ञानी जीव की क्रिया, संसार के लिए सफल है... यह अपने आ गया है। आत्मा के ज्ञान और अनुभव बिना समकित बिना जो कोई अज्ञानी की क्रिया है... आहाहा ! वह **संसार के लिए सफल है...** जो अबुधा महाभागा सम्यग्दर्शनरहित है। आहाहा ! वीरा जो अबुधा महाभागा वीरा असमंत दंसिणो। यह गाथा है। हे बुधा ! अबुधा महाभागा। जिसे आत्मा की खबर नहीं, ऐसे अबुध जीव महाभाग्यवान पुण्य के कारण होते हैं। लोगों में लाखों में पूज्य, परन्तु वीरा महीने-महीने के अपवास करे, रस का त्याग करे परन्तु असंमत दंसिणो। परन्तु सम्यक् चीज़ का जिसे दर्शन नहीं—समकित नहीं। जो अबुधा महाभागा वीरा असंमत दंसिणो अशुद्धं तेंसि... उसकी सब क्रिया का फल सफल है। अर्थात् कि जो चार गति में मिले, वही फल उसे मिलेगा। आहाहा ! कहो, समझ में आया ? सफल कहा न ? सफल है, बापू ! फलता है जो तुझे भव, वह भव फला ही करेगा। आहाहा !

और मोक्ष के लिए निष्फल है तथा ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है,... आहाहा ! धर्मी समकिती की आत्मज्ञान की जो क्रिया है, राग के विकल्प बिना की शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता की जो क्रिया है, **वह संसार के लिए निष्फल है...** अब उसे संसार का फल नहीं मिलेगा। अब उसे भटकने का फल नहीं मिलेगा। आहाहा ! **और मोक्ष के लिए सफल है।** मोक्ष के लिये धर्मी की क्रिया सफल है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा का ध्यान और लीनता, यह मोक्ष के लिये सफल है। उसे अल्प काल में मुक्ति होगी। आहाहा ! ऐसी बात है। है इसमें ? पोपटभाई ! आहाहा !

अच्छी कन्या को अच्छे पैसेवाले का नारियल आता हो तो वह नारियल पहला माने। लड़का कुछ ठीक हो पढ़ा हुआ। कहाँ गये कान्तिभाई ? यह रहे। परन्तु यह तो लाखोंपति थे। और पढ़ी हुई बड़ी कन्या आती थी। परन्तु साधारण घर की आती थी, इसलिए उसका पिता कहे कि हमारे घर प्रमाण नहीं है। नहीं ली। दो वर्ष में फिर दूसरी कन्या अच्छे घर की आयी। तब भाई कहे कि अभी मेरा विचार नहीं। ऐसे करते रह गये ब्रह्मचारी। यह तो भगवान के घर का निमन्त्रण आया है। इस सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर,

प्रभु! तेरा निमन्त्रण यहाँ है। आहाहा! १५०० वेतन था प्लेन में। मासिक १५००। (नौकरी) छोड़ दी। दो वर्ष तो... की। महीने का १५०० वेतन। प्लेन में थे। प्लेन में थे, तब सम्हाल करने आते थे। चढ़ाने और सब करने। जब मुम्बई से बैठे न, वह टोपी डाले और यह भी टोपा सामने। टोपा होता है न! अरे रे! यह क्या चीज़ है? बापू! आहाहा! जहाँ तीन लोक का नाथ आनन्द का सागर पड़ा है, उसकी कीमत करने से जगत की सब कीमत उड़ जायेगी तुझे। आहाहा! समझ में आया?

वह (तपश्चर्या) करनेवाला अन्तरात्मा और बहिरात्मा क्या करता है? सो कहते हैं— अब। यह बहिरात्मा और अन्तरात्मा क्या करता है, यह ४२ गाथा में कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ४२

तच्च कुर्वाणो बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह -

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥ ४२॥

देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा। अभिवाञ्छति अभिलषति। किं तत्? शुभं शरीरं। दिव्यांश्च उत्तमान् स्वर्गसम्बन्धिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याहतत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्। तत्त्वज्ञानी विवेकी अन्तरात्मा। ततः शरीरादेः। च्युतिं व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति॥४२॥

वह (तपश्चर्या) करनेवाला अन्तरात्मा और बहिरात्मा क्या करता है? सो कहते हैं —

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर-तन सुर-भोग।
ज्ञानी चाहे छूटना, विषय-भोग संयोग॥ ४२॥

अन्वयार्थ - (देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीर में जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न हो गयी है — ऐसा बहिरात्मा, तप करके (शुभं शरीरं च) सुन्दर शरीर और (दिव्यान् विषयान्) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्ग के विषय भोगों को (अभिवाञ्छति) चाहता है और (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानी अन्तरात्मा (ततः) शरीर और तत्सम्बन्धी विषयों से (च्युतिम्) छूटना चाहता है।

टीका - जिसको देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न हुई है, वह बहिरात्मा वाँछा करता है- अभिलाषा करता है। किसकी (वाँछा करता है)? शुभ (सुन्दर) शरीर और दिव्य अर्थात् उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी विषयों की (दिव्य विषय भोगों की) अभिलाषा करता है।

अन्तरात्मा क्या करता है? वह कहते हैं —

तत्त्वज्ञानी, उनसे च्युति (छूटना) चाहता है। तत्त्वज्ञानी अर्थात् विवेकी अन्तरात्मा; उनसे अर्थात् शरीरादि से मुक्तिरूप (छुटकारारूप) च्युति की अर्थात् व्यावृत्ति की वाँछा करता है।

भावार्थ - शरीरादि में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, तपादि द्वारा सुन्दर शरीर और स्वर्गीय विषय-भोगों की वाँछा करता है और भेदज्ञानी अन्तरात्मा तो बाह्यशरीर विषयादि की वाँछा ही से च्युत होकर अर्थात् उनसे व्यावृत्त होकर, आत्मस्वरूप में स्थिरता चाहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जो अज्ञानी, इन्द्रियों के विषयों की और स्वर्ग के सुख की इच्छा से तपादि का आचरण करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसके अभिप्राय में शुभराग के फलस्वरूप विषयों की ही आकाँक्षा है; उसके व्रत-तपादि, भोग के हेतु से ही हैं।

श्री समयसार, गाथा-२७५ में कहा है कि —

जो धर्म को श्रृद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
सो भोग हेतु धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को॥

'वह भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की नहीं।'

....वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप ज्ञानमात्र, भूतार्थधर्म की श्रद्धा नहीं करता; भोगों के निमित्तरूप शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता... (टीका का अंश)।

ज्ञानी तो शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है। वह स्वप्न में भी विषय-सुखों की भावना नहीं करता। उसको भूमिकानुसार व्रत, तपादि का शुभराग आता है परन्तु उसको उसकी चाहना नहीं है; अभिप्राय में उसका निषेध वर्तता है। जिसको राग की ही भावना नहीं होती, उसको राग के फलरूप विषयों की इच्छा भी कैसे होगी ? नहीं ही होती।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक (पृष्ठ २४६) में कहा है कि :—

'जैसे - किसी को बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है;

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता है। तथा जैसे-कोई, कमाई का कारण जानकर, व्यापारादि का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी, मोक्ष का कारण जानकर, प्रशस्तराग का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है। इस प्रकार प्रशस्तराग के उपाय में और हर्ष में समानता होने पर भी, सम्यग्दृष्टि के तो दण्डसमान और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान श्रद्धान पाया जाता है; इसलिए अभिप्राय में विशेष हुआ ॥४२॥'

पौष कृष्ण ६, रविवार, दिनांक ०२-२-१९७५, श्लोक-४२, प्रवचन-५४

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥ ४२॥

टीका - जिसको देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न हुई है,... अरे! अन्दर भाव इन्द्रिय जो है खण्ड-खण्ड, वह मैं—यह भी देहात्मबुद्धि है। यह महाव्रत को पालता है न? यह है तो कहाँ अभी इसे महाव्रत तो? मिथ्यादृष्टि है और महाव्रत नहीं। महाव्रत भी कहाँ है? व्यवहार का ठिकाना। परन्तु जिसे महाव्रत हो चुस्त, नौवें ग्रैवेयक गया, उसे महाव्रत तो निरतिचार होते हैं, परन्तु वे सब इन्द्रिय के विषय को ही अपना स्वरूप मानते हैं। आहाहा! अर्थात् कि खण्ड-खण्ड इन्द्रिय में जो राग होता है और पर का लक्ष्य जाता है, वह इसे ही आत्मा मानता है। समझ में आया? व्रत के विकल्प जो हैं, वे भी इन्द्रिय का विषय है। ऐसा कि इस शरीर से ब्रह्मचर्य पाले। यह नाटक-बाटक देखने न जाये। इतना तो इन्द्रियनिग्रह किया कहलाये न?

अरे... भाई! इन्द्रियनिग्रह तो उसे कहते हैं कि जिसे अन्दर खण्ड-खण्ड जो भावेन्द्रिय, उसका जो विषय परवस्तु और उसके लक्ष्य में जाने से उसे राग होता है, इन तीनों को इन्द्रिय कहा जाता है। (समयसार) ३१ गाथा। चैतन्य भगवान तो अणीन्द्रियस्वरूप है। भाव इन्द्रिय जो एक-एक विषय को जानने की योग्यतावाला क्षयोपशम, वह आत्मा

नहीं। वह तो पर्यायबुद्धि है। आहाहा! वस्तुबुद्धि नहीं आयी उसमें। बहुत तत्त्व ऐसा है। अरे! अनन्त काल से भटका है।

यहाँ कहते हैं, देह में आत्मबुद्धि का अर्थ ही यह है। पाँच इन्द्रियाँ और उनका जो विषय, (उन) सबको इन्द्रिय कहा जाता है। आहाहा! यह सुनने का शब्द, वह भी इन्द्रिय का विषय है। उस इन्द्रिय के वश न होकर जो खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, जड़ इन्द्रिय और उसके विषय, उस ओर की बुद्धि, रुचि छोड़कर, अणीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा का स्वभाव, उसे जो दृष्टि में लेकर और उस खण्ड इन्द्रिय के विषय से उसे अधिक अर्थात् भिन्न जाने, तब उसने देह की इन्द्रियों को जीता, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कि यह स्त्री, पुत्र छोड़े, गर्म पानी पीवे, लोंच करावे... नंगे पैर चले। स्त्री का पुरुष सेवन न करे और पुरुष का स्त्री सेवन न करे। तो उसमें कुछ है या नहीं? उसमें कुछ नहीं, बापू! उसमें आत्मा नहीं। समझ में आया?

यह इन्द्रियाँ जड़, इस शरीर के अवयव; भाव इन्द्रियाँ जो खण्ड, वह अखण्ड ज्ञान का अंश पृथक् और उसके विषय बाह्य शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—सबको इन्द्रिय कहा है। इसलिए वास्तव में तो इस शरीर के अवयव जैसे इन्द्रिय हैं, वैसे ये सब अवयव ही शरीर के हैं। आहाहा! गजब बात है, भाई! ...भाई! ऐसा है। लोगों को ऐसा कि बाह्यत्याग करे, नंगे पैर चले, गर्म पानी पीवे। अरे! यह तो मिथ्यादृष्टि अभव्य ने भी ऐसा अनन्त बार किया है। ऐसी तो अभी क्रिया भी नहीं है। नग्न मुनियों की भी ऐसी क्रिया नहीं तो यह वस्त्रवालों को तो होगी किसकी? आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि देह में जिसकी आत्मबुद्धि है, (वह बहिरात्मा है)। आत्मा ज्ञायकस्वरूप अकेला पूर्ण स्वभाव का भण्डार, उस पर दृष्टि पड़ने से उसे आत्मबुद्धि होती है। इसके बिना राग में, विकल्प में खण्ड इन्द्रिय में और उसके विषय में बुद्धि हो, वह सब देहबुद्धि है। आहाहा! **वह बहिरात्मा वाँछा करता है**- आहाहा! धर्म चीज़ ऐसी अपूर्व है! लोगों को इसे सुनना, समझना कठिन हो गया है। क्योंकि ऐसी दूसरी उपदेश की शैली बहुत, उसमें सुनने जाये, उसमें मिले सब उल्टा। स्वरूपचन्दभाई! स्वरूप का (कुछ) नहीं मिले। आहाहा!

जिसे अणीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा, उसकी महासत्ता का जहाँ श्रद्धा में स्वीकार नहीं, उसे आत्मा में आत्मबुद्धि नहीं। उसे यह शरीर और उसके अवयवों में उसकी बुद्धि है, यह मैं हूँ। उसकी बहिरात्मा वांछा करता है। जिसे अपना मानता है, उसके अनुकूल रहने की वांछा करता है। आहाहा!

अभिलाषा करता है। किसकी (वाँछा करता है)? शुभ (सुन्दर) शरीर... जो अपना माने, उसे अच्छा कैसे मिले? ऐसी उसे अभिलाषा होती है। आहाहा! शरीर सुन्दर, **दिव्य अर्थात् उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी विषयों की (दिव्य विषय भोगों की) अभिलाषा करता है।** क्योंकि उसे तो आत्मा के आनन्द की तो खबर नहीं और अतीन्द्रिय आनन्द, वह आत्मा, ऐसी तो बुद्धि है नहीं। आहाहा! ऐसी बुद्धि के कारण जिसे अपना नहीं, (उसे अपना मानता है)। पुत्र अपना माना, वह कैसे सुन्दर रहे? कैसे सुविधा रहे, ऐसा माने न? जिसे अपना माना, उसे सुविधा रहे—ऐसा मानता है। आहाहा! स्त्री अपनी मानी तो उसे अनुकूलता कैसे रहे? सुन्दरता, सुविधा कैसे रहे, ऐसी ही अज्ञानी की अभिलाषा होती है। कठिन काम, भाई!

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे तो भूल गया, च्युत हो गया, भूला। आहाहा! और जो शरीर पर है, उसकी सुन्दरता को चाहता है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! वाणी भी ठीक से निकले और होवे तो ठीक। आहाहा! वह भी पर की अभिलाषा मिथ्यात्व है। आहाहा! उसे उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी... यहाँ तो शरीर ठीक मिले, रहे, परन्तु भविष्य में भी जो मेरी चीज़ है, वह तो अच्छी ही रहे न? आहाहा! मैं स्वर्ग में देव होऊँ, अच्छी सुविधावाला। आहाहा! जैसे सर्प का जहर चढ़ा (हो) और असाध्य हो जाता है। असाध्य हो जाता है। इसी प्रकार जिसे परपदार्थ की अभिलाषा है, वह स्वरूप में असाध्य है। उसे मिथ्यात्व का जहर चढ़ा है। आहाहा! समझ में आया?

उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी विषयों की... बाह्य की सुविधावाला शरीर मिले, इन्द्रियाँ... क्या कहलाती हैं? इन्द्राणियाँ, उन्हें चाहे। आत्मा की भावना नहीं, आत्मा जाना नहीं। आहाहा! इसलिए गहरे-गहरे उसकी अभिलाषा (रहती है कि) भविष्य में उत्तम शरीर अर्थात् स्वर्ग आदि मिले, ऐसी ही उसकी भावना होती है। आहाहा! क्योंकि उससे जो भेद

करना चाहिए, वह तो किया नहीं। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म है और अनन्त काल में नहीं की हुई, ऐसी बात है।

कहते हैं, **अभिलाषा करता है।** मिथ्यादृष्टि जो शरीर, इन्द्रियाँ और उसके विषय, उन्हें मेरा मानता है, उसे सब अनुकूलता रहे, ऐसी उसकी अभिलाषा होती है। बहिरात्मा है। बाहर की अनुकूलता चाहे वह तो बहिरात्मा है। आहाहा! **अन्तरात्मा क्या करता है?** दो ही बात है।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

इतना संक्षिप्त बहुत। भगवान आत्मा अन्तरात्मा, उसका जो अन्तर स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है, उसका जिसे अनुभव हुआ, अर्थात् कि वह है, ऐसा जिसने ज्ञान में स्वीकार किया, श्रद्धा में, उसमें राग और यह है नहीं। आहाहा!

अन्तरात्मा क्या करता है? वह कहते हैं—तत्त्वज्ञानी, उनसे च्युति (छूटना) चाहता है। आहाहा! शरीर और शरीर की वांछा, सबसे हट जाऊँ—ऐसी ज्ञानी की भावना होती है। ऐसे तो शास्त्र का जानपना इसने अनन्त बार किया। आहाहा! परन्तु अन्तर वस्तु भगवान पूर्ण शान्तरस के स्वभाव से भरपूर प्रभु के स्वीकार बिना सभी क्रियाकाण्ड तपस्यायें, सब निरर्थक गयी। स्वभाव के लिये निरर्थक गयी। भव फलने के लिये सार्थक हुई। समझ में आया?

तत्त्वज्ञानी अर्थात्... उनसे च्युति (छूटना) चाहता है। तत्त्वज्ञानी अर्थात् विवेकी अन्तरात्मा;... अर्थात् कि शरीर और राग और इन्द्रिय के विषय, जिससे भिन्न है, ऐसा जो तत्त्वज्ञान... उसे यह तत्त्वज्ञान हुआ। यह वस्तु स्वयं है, वह राग और भावेन्द्रिय और उनके विषय से भगवान अन्तरात्मा अत्यन्त भिन्न है। ऐसी जिसे सम्यग्दृष्टि हुई, उसे अन्तरात्मा कहते हैं। आहाहा! जो अपना था, उसे (अपना) माना। बहिरात्मा ने जो अपने में नहीं, उसे (अपना) माना। आहाहा!

उनसे, तत्त्वज्ञानी अर्थात् विवेकी अन्तरात्मा;... अर्थात्? कि राग, शरीर और विषय से भिन्न मेरी चीज़ है। आहाहा! वीतराग की वाणी और वीतराग का शरीर, उससे

भी मैं तो भिन्न हूँ। समझ में आया ? ऐसा महंगा धर्म ? सस्ता कर डाला है लोगों ने, लो ! सामायिक करना, प्रोषध करना, प्रतिक्रमण करना। भाई ! तुझे खबर नहीं। प्रभु स्वयं कितना है ? कहाँ है ? जिसे आत्मा कहते हैं, वह कहाँ है ? किसमें है ? जिसके अस्तित्व के भान बिना बाहर की ऐसी क्रियायें अनन्त बार की, उसे अनुकूलता बाहर की, वह रखना चाहता है। आहाहा !

धर्मी... आहाहा ! अन्तरात्मा **विवेकी अन्तरात्मा...** ऐसा है। महाव्रत के परिणाम तो इन्द्रिय है। समझ में आया ? वह आत्मा नहीं। आहाहा ! **शरीरादि से मुक्तिरूप (छुटकारारूप) च्युति की अर्थात् व्यावृत्ति की वाँछा करता है।** समझावे तब ऐसा समझावे। बाकी तो स्वभाव सन्मुख चैतन्य के आनन्द के स्वभाव का जहाँ भान हुआ, उसे आनन्द में रहने की भावना होती है, बाहर से तो च्युत होने की भावना होती है। आहाहा ! समझ में आया ? जरा -सा लक्ष्य जाता है, वहाँ बाहर आता है। उसकी भावना है उसे ?

(अज्ञानी) बाहर को देखने का प्रयत्न करता है। अन्तर (में) देखने का वहाँ रह जाता है। आहाहा ! भाषा बाहर में है न ? यहाँ से सामने से आवे इसलिए... जाये वहाँ। ऐई... मूलचन्दभाई ! आहाहा ! उसे हो ऐसा हो कि अपने तो यह सुनते हैं, वह की वह बात आती है। इसलिए उसे नवीनता अन्दर में भासित नहीं होती। इसलिए उसे वह की वह दशा की बात, उसे लगा करती है। आहाहा ! समझ में आया ?

भावार्थ - शरीरादि... सब बाह्य पदार्थ। उनमें **आत्मबुद्धि...** अर्थात् उनमें मैं हूँ और उनसे मुझे लाभ होगा, ऐसी आत्मबुद्धि। आहाहा ! शरीरादि, इन्द्रियाँ आदि, बाह्य पदार्थ आदि। आहाहा ! उसमें जिसकी आत्मबुद्धि है अर्थात् कि उससे मुझे लाभ होगा। आहाहा ! ऐसी जिसे बाह्य में आत्मबुद्धि है, ऐसे **बहिरात्मा, तपादि द्वारा सुन्दर शरीर...** तप आदि करके भोग को चाहता है। समयसार में आया है न ? अभव्य भोग को चाहता है। इसका अर्थ कि आत्मा आनन्द है, ऐसी सत्ता का भान आत्मज्ञान तो नहीं; इसलिए वह क्रियाकाण्ड के शुभभाव में भोग को चाहता है। अर्थात् ? ऐसा चाहता है कि इससे भोग मिले तब तो पाप है। परन्तु राग के भोग को वह चाहता है। आहाहा ! राग के अनुभव की ही उसे भावना है। समझ में आया ?

यह **तपादि द्वारा सुन्दर शरीर और स्वर्गीय विषय-भोगों की वाँछा करता है और भेदज्ञानी अन्तरात्मा तो बाह्यशरीर विषयादि की वाँछा ही से च्युत होकर...** आहाहा! **अर्थात् उनसे व्यावृत्त होकर, आत्मस्वरूप में स्थिरता चाहता है।** आहाहा! जिससे भेद किया है, वह पर की अनुकूलता चाहे कैसे? क्योंकि वह चीज़ ही पर है। उससे मुझे लाभ होगा, यह बुद्धि तो गयी है। समझ में आया? आहाहा!

वे भोग के निमित्तरूप धर्म... देखो आया। यह गाथा में कहा, देखो! उसकी गाथा है। २७५ है।

जो धर्म को श्रृद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
सो भोग हेतु धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को॥

आहाहा! भोग के लिये यदि इच्छा करे, वह तो पाप होता है। यहाँ तो पुण्य की व्याख्या करनी है। परन्तु वह शुभभाव को ही अनुभव करना चाहता है। उसके फल में सुख को ही अनुभव करना चाहता है। आहाहा! जिसे उस शुभराग का प्रेम अनुभव में है, वह भोग के ही प्रेम को चाहता है, ऐसा कहना चाहते हैं। आहाहा! वह राग बिना का ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं करना चाहता। क्योंकि वह वस्तु की अस्ति का स्वीकार ही जहाँ दृष्टि में नहीं, इससे उसका अनुभव करना नहीं चाहता। आहाहा! गये तुम्हारे? पालीताणा गये हैं। जमनादासभाई गये? वे प्रश्न करे। हाँ, परन्तु उनका प्रश्न था। वह रात्रि में पूछा कि यह ब्रह्मचर्य आदि पाले, वह इन्द्रियनिग्रह तो होता है या नहीं? ऐसा पूछते थे। ऐसा लगे न।

मुमुक्षु : सर्वत्र यही चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही चलता है। क्या हो? अरे! इन्द्रियनिग्रह किसे कहना? भाई! जिसे जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और राग तथा उसका विषय... आहाहा! सबमें से जिसे प्रेम उड़ जाये। पर के विषय से मुझे लाभ नहीं होता, ऐसी बुद्धि हो, वह इन्द्रियनिग्रह करके आत्मा में गया है। समझ में आया? आहाहा! वीतरागमार्ग तलवार की धार जैसा सूक्ष्म है। सुख का है। मात्र ऐसा मुड़ने से दुःख है, ऐसे जाने पर सुख है। बस! इतनी बात है। बाहर की कोई भी क्रिया और विषय देखने से या जानने से मुझे लाभ होता है... आहाहा! उसने

इन्द्रियाँ जीती नहीं। आहाहा! समझ में आया?

एक लड़का मरे, दूसरा लड़का ऐसे दुःख की तैयारी में शोर मचाये। वह क्या था? प्लेग। क्या कहलाता है? ७४ में। इन्फ्लूऐंजा। इन्फ्लूऐंजा में तो ऐसे धड़ाधड़ मरते थे। एक गाँव से निकले, छोटा गाँव। पचास घर होंगे। और दो मुर्दे श्मशान में पड़े हुए। (संवत्) १९७४ की बात है। छोटा गाँव परन्तु दो मरे हुए वहाँ पड़े हुए। ऐसे निकले रास्ते में जाते हुए समढीयाला। गाँव छोटा परन्तु दो मुर्दे अर्थी ऐसे पड़ी थी। आहाहा! एक के बाद एक। किसी समय तो स्त्री और पति दोनों एक रात्रि में मरे। चन्दुभाई! तुम्हारे घर में हुआ है। कानजीभाई। वीरचन्दभाई की माँ और वीरचन्दभाई के पिता एक रात्रि में मरे। एक रात्रि में। दोनों की अर्थी सवेरे एकसाथ निकाली। वीरचन्द कानजी। थोड़े घण्टे पहले। दोनों में से एक। सवेरे दोनों की अर्थी साथ में। जगत में तो शोर मचाये न। उसमें क्या है, बापू! वह तो भिन्न चीज़ है। भिन्न में वह विचित्रता हो, उसमें आत्मा को क्या? आहाहा! जिसने उससे भिन्न आत्मा को जाना... आहाहा! उसे भिन्न चीज़ की क्षणिकता की विचित्रता में उसे आत्मबुद्धि नहीं होती। आहाहा! मुझे हानि हुई है, ऐसा नहीं मानता और सुविधा के ढ़ेर हों तो मुझे लाभ होता है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! उसने आत्मज्ञान पर से भिन्न किया, वह उसका सच्चा तत्त्व है, कहते हैं। समझ में आया? जिससे उसने भिन्न किया है—राग से, शरीर से, उसके संयोगी चीज़ से सब, उसका भिन्न किया, तो भिन्न चीज़ में विविधता होती है, वह ज्ञानी को उससे शोक और अनुकूलता और विविधता में हर्ष नहीं होता। आहाहा! कहेंगे थोड़ा। विशेष न?

विशेष :- **जो अज्ञानी, इन्द्रियों के विषयों की और स्वर्ग के सुख की इच्छा से व्रत, तपादि का आचरण करता है,...** लोग कहे, उसकी इच्छा हमारे कहाँ है? परन्तु भाई! जिसे आत्मा राग बिना की चीज़ है, ऐसा भान नहीं वह, जिसे स्वयं करता है, वह मेरा है—ऐसा मानकर करता है। आहाहा! **व्रत, तपादि का आचरण करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसके अभिप्राय में शुभराग के फलस्वरूप विषयों की ही आकाँक्षा है;...** आहाहा! ऐसा का ऐसा ठगाया है अनादि से। अवसर आया, तब पहिचाना नहीं। अवसर आया तब कहीं न कहीं पर में अनुकूलता और प्रतिकूलता में ठीक-अठीक

माना। समझ में आया ? आहाहा !

उसकी रुचि करता है, **उसके व्रत-तपादि, भोग के हेतु से ही हैं।** यह गाथा २७५ है। राग का ही अनुभव है इसलिए, राग का ही अनुभव के लिये उसकी सब क्रिया है, ऐसा कहते हैं। भोग के हेतु में वह स्वर्ग को चाहता है, ऐसा नहीं परन्तु वह राग की भावना में पड़ा है... में तो उस राग के फलरूप की ही उसकी वांछा है। स्वरूप दिखा नहीं, इसलिए उसकी वांछा तो उसे है नहीं। आहाहा ! ऐसा वीतरागमार्ग लोगों ने कुछ न कुछ चीज़ में मिला दिया, भेलसेल किया। अभी अरबस्तान में नहीं हुआ ? सेठ ! क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : साधन ....

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन, अन्तर में नहीं पड़ा साधन ? पर से भिन्न करना, वह साधन नहीं ? पर से एक मानना, वह साधन है ? आहाहा !

अरबस्तान में अभी अखबार में आया था। ऐसा कोई तेल था, उस तेल में मिलावट की थी व्यापारियों ने। होंगे तो वे भाई अरबस्तान के न ? क्या कहलाता है वह ? सीदी जैसे होंगे, सब व्यापारी भी ऐसे, उस प्रकार के होंगे न ? आरब। उसमें पूरे गाँव में वह तेल ऐसा देते थे, उसकी खुजली... खुजली... खुजली... पूरे गाँव में और फोड़े हो गया। यह हुआ क्या ? सरकार ने विचार किया कि यह है क्या ? जाँच करो, कौन व्यापारी मिलावट करते हैं ? किस चीज़ में ? उसमें बारह व्यक्ति पकड़ में आये। तेल में दूसरा सस्ता तेल डाले। दूसरे प्रकार का डालते थे, अपने को खबर नहीं। बारह को फाँसी। अखबार में आया था। बारह को फाँसी चढ़ाया। अरे ! तुम तुम्हारे एक स्वार्थ के लाभ के लिये पूरे गाँव को नुकसान होता है, उसकी तुमने दरकार नहीं की। तुम्हारी अस्ति नहीं हो। आहाहा ! तेरहवाँ एक था वह पकड़ में नहीं आया था। वे कहे परन्तु इन बारह व्यक्तियों को लटकाया। अरे ! मैं भी ऐसा ही हूँ। मैंने भी ऐसा ही किया है। इसलिए मैं अब आत्मघात करता हूँ। ऐसा आया था। आहाहा ! यह तो ऐसे भाव किये थे, तब अपघात किया। आहाहा ! एक थोड़े पैसे की सुविधा के लिये दूसरे को नुकसान में कहाँ उतारता हूँ, इसकी उसे खबर नहीं। उसे नुकसान नहीं होगा, होता है वह तो उसके कारण से। परन्तु इसके भाव में (तो ऐसा था)।

इसी प्रकार अभी धर्म के बहाने काला बाजार किया है। यह पंच महाव्रत के

परिणाम तो है कहाँ अभी ? दया, दान के परिणाम वे सब धर्म हैं, यह काला बाजार में माना है। मिथ्यात्व में यह माना है। वहाँ तो और सरकार ने पकड़कर फाँसी पर चढ़ाया। (यहाँ) मिथ्यात्व को सेवन करता है, वह तो फाँसी पर ही चढ़ा हुआ है। आहाहा! आनन्द के नाथ को राग के हरडा में डालकर इसने फाँसी चढ़ायी है। आहाहा! यह मिथ्यात्व का राग, हों! अस्थिरता का तो ज्ञानी को आता है। यह तो कहेंगे। आहाहा! कोई भी बाह्य पदार्थ। गजब बात, भाई! यहाँ तो भगवान और भगवान की वाणी भी बाह्य पदार्थ है। आहाहा! उससे लाभ माने, वह आत्मा को पर से भिन्न नहीं मानता। यह निश्चय है, ऐसा करके लोग उड़ाते हैं। परन्तु यही सत्य है। बाह्य की कोई भी बाह्य चीज़, उसकी अनुकूलता हो तो मुझे लाभ होता है, इसका अर्थ ही अनुकूलता अर्थात् परचीज़ से मुझे कुछ लाभ होता है। आहाहा! मेरा भगवान आनन्द का नाथ पूर्ण पड़ा हुआ है, उसमें मैं एकाग्र होऊँ तो मुझे लाभ होता है, यह दृष्टि सम्यक् उसकी रही नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बात, भाई। समझ में आया ?

परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की नहीं। क्योंकि राग का भाव व्रत, तप का भाव वह राग है। उस राग के अनुभव में पड़ा हुआ उसकी ही भावना उसे होती है। जो उसके वेदन में आवे, उसकी उसे भावना होती है। आहाहा! **वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप ज्ञानमात्र, भूतार्थधर्म की...** आहाहा! देखो! शुभभाव में धर्म मानना, वह अभूतार्थ धर्म है, झूठा धर्म है। और भूतार्थ धर्म। लो, यहाँ तो धर्म में भूतार्थ डाला वापस। जैसा भूतार्थ परमात्मा स्वयं त्रिकाल सत्यार्थ प्रभु, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, उस सम्यग्दर्शन को यहाँ भूतार्थ धर्म कहा है। आहाहा! समझ में आया ? है ?

शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है;... ज्ञाता-दृष्टा ऐसा स्वभाव, उससे विरुद्ध ऐसे जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, उसे ही वह धर्म मानता है। वह अभूतार्थ है, उसे भूतार्थरूप से मानता है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! वह **अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है;...** वह धर्म सच्चा नहीं। व्रत, तप, भक्ति और पूजा का शुभभाव, वह धर्म सच्चा नहीं। आहाहा! भारी कठिन, भाई! उसे वह अज्ञानी श्रद्धा करता है कि यह सच्चा धर्म है।

इसलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के

ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है... आहाहा! ऐसे भाव से स्वर्ग में स्वर्ग की सुविधा के सुख को अर्थात् कि दुःख को ही पाता है। समझ में आया? यह तो सवेरे आया नहीं था? शुभराग का फल—कर्मफल दुःख है। इन्द्र हुआ। समकिती तो इन्द्र होता है, सामान्य इन्द्र नहीं होता, परन्तु अहमिन्द्र होता है, किन्तु उसे आत्मा के अनाकुल आनन्द की तो दृष्टि नहीं, इसलिए अभूतार्थ शुभभाव को धर्म मानता था अभूतार्थ, और इससे वह दुःख को वेदनेवाला है। आहाहा! व्रत और तप का भाव विकल्प है, वह तो शुभराग दुःखरूप है। आहाहा! जगत को ऐसी बात भारी कठिन पड़े। भाई! कुछ शुभभाव करेगा तो आगे जायेगा। भाई! ठगाई हो जाती है, बापू! यह यहाँ कहते हैं।

अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है;... यह राग की क्रिया जो अन्दर कषाय की मन्दता (हो), उसकी श्रद्धा करता है। क्योंकि उससे रहित चीज़ भिन्न है, उसका तो भान नहीं। आहाहा! यह सब बाहर के बहुत कितने ही पण्डित, त्यागी बोले (कि) यह सब उड़ जाता है। यह व्यवहार की क्रिया करते हैं, उसमें से कुछ लाभ नहीं? लाभ है संसार का भटकने का। ऐई! निर्विकल्प चैतन्यमूर्ति प्रभु का तो आदर किया नहीं। उसे तो पर्दा डाला है आड़े राग का और पर्दा डालकर राग की क्रिया मुझे कल्याण करेगी (इस मान्यता में तो) महामिथ्यात्व का सेवन है। आहाहा! रुचि, उसकी रुचि है। व्रत, तप का शुभभाव, उसकी इसे रुचि, उसकी इसे श्रद्धा, उसकी इसे प्रतीति और उसका इसे स्पर्शना (है)। स्पर्शना अर्थात् वेदन। आहाहा!

ऊपर के ग्रैवेयक तक के... शरीर सुन्दर और भोग की सामग्री को पायेगा। आहाहा! **किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता...** यह भगवान के वचन हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास सुनने गये थे, वे यहाँ आकर यह बात करते हैं। उसकी कुछ कीमत नहीं? बेचारे ब्रह्मचर्य पाले शरीर से, गर्म पानी पीवे, आजीवन बालब्रह्मचारी रहे, उसका कुछ लाभ नहीं उसे? लाभ शुभराग का है, भाई! और शुभराग का फल दुःखरूप है। आहाहा! अरे! ऐसी बात सुनी जाये नहीं लोगों को। यह तो प्रभु का परमसत्य है। समझ में आया? भोगने को पाता है।

ज्ञानी तो... धर्मी तो **शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है।** उसे राग होता है,

तथापि भावना शुद्धात्मा की है। उसकी (—राग की) भावना नहीं। **वह स्वप्न में भी विषय-सुखों की भावना नहीं करता।** आहाहा! स्व विषय में सुख है, ऐसा जिसने अनुभव किया है, वैसा समकिती अर्थात् धर्मी भले गृहस्थाश्रम में हो। कहो हरिभाई! सुनाई देता है यह? तुम किसी दिन आते हो। कहाँ यहाँ आते हो? मोहनभाई और यह सब रहते यहाँ। मोरबी-मोरबी। महिलाओं को तो प्रेम है। सुनती हैं। बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई! इसे निर्णय करना पड़ेगा, हों! अरेरे! चौरासी के अवतार में भवसिन्धु में गोते खाता है। जगत ने इसे पुण्य की क्रिया में ललचाकर भवसिन्धु में गहरा उतारा है। समझ में आया? आहाहा! मोहनभाई के भाई की बात है। छोटे भाई हैं। वे तो गुजर गये यहाँ। मोहनभाई! दो हैं। आहाहा! वहाँ मोरबी में देखे थे, पहले आये थे तब।

अरेरे! भगवान आत्मा, वह राग की क्रिया से भिन्न है, ऐसे भान बिना के प्राणी, राग के वेदन को ही ठीक मानते हैं। इसलिए उसके फल को—स्वर्ग के सुख को (कि जो) दुःख है, उसे ठीक मानते हैं। वह अच्छा लगता है बाहर का। परन्तु यह करते-करते कुछ होगा न? कुछ करते नहीं, इसकी अपेक्षा कुछ करते हैं। अरे.. भगवान! क्या करता है, भाई? भगवान ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति प्रभु को भूलकर उस राग की क्रिया करे, वह सब उल्टी क्रिया है। आहाहा! कुछ करते अवश्य हैं। दुःख करते हैं। आहाहा! वाड़ा में तो निकाल डाले ऐसा कहे तो। बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! इसे हाँ तो कर... हाँ तो कर... आहाहा! प्रभु आत्मा यह महाव्रत और दया, दान और तप के भाव, यह वर्षीतप के भाव, महिलायें वर्षीतप बहुत करती हैं। अभी छोटी-छोटी जवान कन्यायें बालब्रह्मचारी होकर दीक्षा बहुत लेती हैं। वे दख्या में पड़ते हैं सब। आहाहा! मिथ्यात्व की दीक्षा। ऐई! पोपटभाई! सेठिया के घर से शोभायात्रा निकाले, २० वर्ष की कन्या जवान हो, वह विवाह करे नहीं और दीक्षा ले, गर्म पानी (पीवे इससे) होता होगा या नहीं उसे लाभ? आहाहा! यह शुभभाव, संसार में प्रवेश करे उस शुभभाव को भला कैसे देखे? आहाहा!

ज्ञानी तो शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी, वह तो आत्मा परमानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता की उसे भावना होती है। है? **वह स्वप्न में भी विषय-सुखों की भावना नहीं करता। उसको भूमिकानुसार व्रत, तपादि का शुभराग**

आता है... सही। धर्मी को आत्मा की शान्ति की भूमिका में भी पूर्ण वीतरागता न हो, उसे शुभभाव आता अवश्य है। आहाहा! **परन्तु उसको उसकी चाहना नहीं है;...** आहाहा! उस राग की वांछा (नहीं)। यह तो वीतराग धर्म है, वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का मार्ग है। उसमें राग से लाभ हो, यह मार्ग उनका नहीं है। यह तो अन्य का मार्ग है, उसे जैनमार्ग (रूप से) इसने स्वीकार किया है। समझ में आया?

अभिप्राय में उसका निषेध वर्तता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को पंचम गुणस्थान, छठवें गुणस्थान आदि (में) व्रत का विकल्प—शुभराग आता अवश्य है, पूजा, भक्ति, यात्रा का ऐसा भाव आता अवश्य है, परन्तु अभिप्राय में उसे हेय जानता है। श्रद्धा में उसका आदर नहीं मानता। आहाहा! जेठाभाई! **जिसको राग की ही भावना नहीं होती, उसको राग के फलरूप विषयों की इच्छा भी कैसे होगी? नहीं ही होती।** आहाहा! **जैसे - किसी को बहुत दण्ड होता था,...** मोक्षमार्ग (प्रकाशक) का डाला है। मोक्षमार्गप्रकाशक, टोडरमलजी का यह डाला है। **जैसे - किसी को बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है;...** तीव्र राग छोड़ने के लिये मन्द राग होता है परन्तु श्रद्धा में तो उसे दु:खरूप जानता है। आहाहा!

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता है। आहाहा! भगवान की पूजा आदि भाव तो होते हैं, समकिती को भी होते हैं। यात्रा का भाव होता है। परन्तु उस भाव को वह अन्दर में हेय मानता है, छोड़नेयोग्य मानता है। उसे आदरणीय मानता नहीं। ऐसा कैसा धर्म? श्वेताम्बर में तो ऐसा कहते हैं, हमारे कहते थे न भाई? कैसे? जयपुर, गुजर नहीं गये? महानन्द। महानन्द गाते थे। यह चेतनजी को खबर है। अभी पंचम काल में तो आगम और मूर्ति का दोनों का आधार है। ऐई... चेतनजी! ऐसा कहते थे न? आहाहा! अरे... भाई! आगम परवस्तु, मूर्ति परवस्तु, उसका आधार माने, वह तो मिथ्यात्व का भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान का विरह है, इसलिए क्या करें?

पूज्य गुरुदेवश्री : विरह है इसलिए नहीं, उसे शुभभाव आता अवश्य है, परन्तु उस शुभ को हेय माने। आहाहा! मुझसे स्वरूप में रहा नहीं जा सकता, इसलिए यह भाव मुझे आता है, परन्तु उसे जहर जाने, ज्ञानी उसे जहर जाने, अज्ञानी उसे अमृत जाने। आहाहा! इतना अन्तर है। ऐसा है। कड़वा वचन इसे सत् को काट दिया है। ऐसी यह कड़वी दवा है। राग, वह जहर है, दुःख है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह राग भी जहर है, अधर्म है। आहाहा! आता है, होता अवश्य है परन्तु है वह दुःखरूप। आत्मा अमृत का सागर अनाकुल शान्त का, उससे विरुद्ध वृत्ति उठी शुभ, वह तो अमृत से विरुद्ध जहर है, आहाहा! समझ में आया?

कहा था न एक बार। बहुत बार (संवत्) १९८५ के पौष महीने में बोटाद में व्याख्यान चलता। कितने वर्ष हुए? ४६। (संवत्) १९८५ का पौष महीना था। वहाँ तो सभा बहुत आती थी न? कानजीमुनि का नाम पड़े तो लोग चींटियों की तरह उमड़ते थे। तब, हों! आज कानजीस्वामी वांचन करनेवाले हैं। वहाँ तो लोग समाये नहीं। बोटाद में तीन सौ घर तब थे। अभी तो बढ़ गये हैं। उपाश्रय में समाये नहीं, बाहर पूरी गली भर जाये। खिड़की हो न वहाँ वाँचन का हो न तो खिड़की खुली रखे। उसमें कहा गया कि भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्ध नहीं पड़ता और बन्ध पड़े, वह भाव धर्म नहीं। ऐई! तब तो उसमें थे न? ४६ वर्ष पहले की बात है। कपूरभाई! रायचन्द गाँधी और सब सेठिया भी थे। जिनकी ५०-५० हजार की आमदनी थी। सब बैठे हों। किसी को शंका नहीं पड़ती। महाराज कहते हैं। परन्तु साथ में एक जगजीवन बैठे थे, वे कहे, वोसरे... वोसरे... ठीक बापू! वोसरे... वोसरे समझते हो? यह नहीं चाहिए, बस यह।

दो बातें की थीं, भाई! जिस भाव से बन्ध पड़े न तीर्थंकर का... आहाहा! वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्ध नहीं पड़ता और जिस भाव से बन्ध पड़े, वह धर्म नहीं। और पंच महाव्रत के परिणाम वे आस्रव हैं; धर्म नहीं। ऐसा कहा था तब। ४६ वर्ष पहले। खलबलाहट (हो गयी)। साधु बैठे थे न।

मुमुक्षु : आज भी ऐसा ही कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। ...पूरी सभा खचाखच भर जाये। रायचन्द गाँधी जैसे बड़े सब थे। मार्ग यह है। इससे विरुद्ध माने, वह वीतराग को नहीं मानता। आहाहा! वीतराग की आज्ञा को नहीं मानता। जगजीवनजी। तुम तो पहिचानते हो या नहीं? राज। यह राज कहते उसे। राजा। वह ध्रांगध्रा के राजा थे न?... रास्ते में निकले हों और उसमें जब दस्त हो तो वहाँ खड़ा रहना पड़े उसे। वह ध्रांगध्रा का राज था न? ध्रांगध्रा का। उसे यह व्याधि थी ध्रांगध्रा के राजा को। सवारी निकले। ऐसे घूमने निकले हों गाँव में डेढ़ घण्टे-दो घण्टे हों परन्तु यदि बीच में उसे दस्त की बाधा हो तो उसे घोड़ागाड़ी में... सब बन्द करके वहाँ करना पड़े। ऐसे हमारे यह जगजीवनजी को बाधा हो, तब रोक न सके। उसे राज कहते। यह सब जानते हैं। नहीं अपने... पुराने रहे न! तुमको खबर है न? वह राज बैठा था व्याख्यान में। यह बात निकली। खड़ा हो गया। वोसरे... वोसरे... यह मुझे नहीं चाहिए। ठीक, बापू!

पश्चात् पूरा होने के बाद कहा, परन्तु तुमने क्या कहा यह खबर है? लोग जानते हैं तुमने क्या कहा यह? तुम्हारे मूलचन्दजी को अच्छा लगाने के लिये कहा। मैंने उनका अनादर किया था सभा में। परन्तु बैठे रहना था न, न जँचे तो। वीर्यहीन था। कुछ नहीं था। तुमको न जँचे तो बैठे रहना था। परन्तु एकदम उठकर ऐसे मानो कुछ किया। यह तो लोगों को खबर भी नहीं, क्या कहा यह। ऐसा कहा, वोसरे... वोसरे... यह। यह धर्म यह प्रकार नहीं। आहाहा! ... बैठते। आहाहा! भाई! शुभभाव को तो यहाँ बन्ध का कारण कहते हैं। अभूतार्थ धर्म है, आत्मधर्म नहीं। आहाहा! वोसरे-वोसरे नहीं समझते? ऐसी भाषा है काठियावाड़ की। साधु पेशाब करने जाते हैं न? तो वोसरे-वोसरे करे। अब हमारे इसका... नहीं। आहाहा!

अरे... प्रभु! यहाँ तो आचार्य कहते हैं, वह शुभभाव तो अभूतार्थ है। तो अभूतार्थ का असत्यार्थ होता है या नहीं? वह कहे कि नहीं होता। यह शुभभाव असत्यार्थ धर्म है, झूठा धर्म है। आहाहा! आवे सही, पूर्ण न हो, उसे शुभभाव पाप से बचने को धर्मी को आता है। है तो अभूतार्थ है। उसे भूतार्थ माने तो उसकी दृष्टि मिथ्यात्व है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण ८, सोमवार, दिनांक ०३-२-१९७५, श्लोक-४२-४३, प्रवचन-५५

पहला ऊपर का पेरेग्राफ लेते हैं। **ज्ञानी तो...** है ऊपर का पेरेग्राफ? ज्ञानी अर्थात्? आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्दरूप, उसका जिसे भान हुआ है, अनुभव हुआ है और आत्मा की शान्ति जिसे पैदा हुई है, उसे यहाँ समकिती अथवा ज्ञानी कहने में आता है। वह **ज्ञानी तो शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है।** चैतन्य शुद्ध पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, ऐसी दृष्टि और अनुभव हुआ, इसलिए उसमें रहने की एकाग्रता करता है। यह समाधि। वे बाबा और ब्राह्मण लगावे समाधि, वह समाधि नहीं है। वह तो बड़ी असमाधि है।

मुमुक्षु : जमीन में गड्डा खोदकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : गड्डा खोदकर बैठे। वह तुमको एक मिला नहीं था? वह सब असमाधि।

आत्मा गहरे-गहरे अन्दर पर्याय से, अन्दर शोधने पर शुद्ध आनन्द का पता लगे, उसे यहाँ समाधि कहते हैं। सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन कहो या समाधि कहो। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा है, ऐसा देखा है, जाना है और कहा है, वह आत्मा अन्दर में पुण्य और पाप के रागरहित चीज़ है और स्वभाव से भरा हुआ अभिन्न तत्त्व है। आहाहा! उसका जिसे अन्तर भान है कि मैं तो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द हूँ। ऐसी जिसे दृष्टि हुई है, वह **शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है।** वह तो शुद्धस्वरूप का निधान जो नजर में, प्रतीति में, ज्ञान में आया है, उसकी वह भावना करता है। यही ऐसी बात है, भाई!

वह स्वप्न में भी विषय-सुखों की भावना नहीं करता। धर्मी जीव... है न, ६८ पृष्ठ है न? ६८ पृष्ठ। विषय सुख ही कहाँ है? वह तो दुःख है। पाँच इन्द्रियों के झुकाव में दुःख है। **उसको व्रत-तपादि का शुभराग...** धर्मी को भी व्रत, तप, भक्ति—ऐसा शुभभाव आता है। समझ में आया? अभी तो बात में बहुत फेरफार है, भाई! व्रत, तप यह सब शुभराग है। उपवास करना, पाँच उपवास करना, दस उपवास करना, बारह व्रत या पंच महाव्रत (पालना), वह सब शुभराग है।

वह **शुभराग भूमिकानुसार आता है...** सम्यग्दर्शन में उसकी भूमिका अनुसार श्रावक सच्चा जो पाँचवें गुणस्थानवाला हो, सर्वार्थसिद्धि के देव को जो शान्ति है, उसकी अपेक्षा जिसे पंचम गुणस्थान, जिसे सच्चा श्रावक कहते हैं, (उसे शान्ति बढ़ गयी होती है)। वाड़ा के श्रावक, वे कहीं श्रावक नहीं हैं। आहाहा! अन्तर आनन्द का स्वभाव जो आत्मा का है... वह सर्वार्थसिद्धि के देव एकावतारी हैं। कितने ही क्षायिक समकिती हैं, उन्हें जो आत्मा का सुख है, उसकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानवाला श्रावक हो, उसे अन्तर के आनन्द के सुख की लहर अधिक होती है। जेठाभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह व्रत कब पाले?

पूज्य गुरुदेवश्री : पाले कहाँ? वह आवे ऐसा विकल्प, उसे राग जानता है। आहाहा!

व्रत—निश्चयव्रत तो यह है कि शुद्ध आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु की दृष्टि और अनुभव हुआ, अब उसमें लिपट जाना, आनन्द में लपेट में लिपट जाना, इसका नाम सच्चा व्रत है। आहाहा! पोपटभाई! कहो, जेठाभाई! वहाँ तुम्हारे नैरोबी में है ऐसा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात है। इन्हें प्रेम है। नैरोबी में महाजन है। अपने नहीं थे अभी, अभी आये थे? उसमें आये थे नहीं? गढडे (में) आये थे। करोड़पति है, नरम है। वह तो पैसे का हिसाब क्या अभी? सेठ! करोड़ और दो करोड़ और धूल करोड़ कुछ है नहीं। आहाहा!

अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की लक्ष्मी जिसके अन्तर स्वरूप में पड़ी है, उस लक्ष्मी का जिसने निधान मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की चाबी द्वारा जिसने निधान को खोल दिया है। आहाहा! समझ में आया? उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, अभी तो चौथे गुणस्थानवाला (है)। उसे जब आत्मा में अधिक शान्ति और उग्रता से अन्दर का आश्रय करे, तब शान्ति का अधिक स्वाद आता है। शान्तरस अकषाय स्वभावभाव। उसे अब व्रतादि के विकल्प आवे, परन्तु वह शुभराग है। है?

वह **भूमिकानुसार व्रत, तपादि का शुभराग आता है परन्तु उसको उसकी चाहना नहीं है;...** आहाहा! उस राग का आदर नहीं। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है!

जन्म-मरणरहित की स्थिति की बात है यह तो। इसे धर्म कहते हैं। आहाहा! आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव जिसका रूप है। उसका अतीन्द्रिय ज्ञान जिसका स्वभाव भरपूर है। आहाहा! कोठी में जैसे दाने पड़े हों, ऐसा नहीं। परन्तु जैसे शक्कर में मिठास पड़ी हो, वैसे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। आहाहा! उसकी जब... सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान अभी तो, हों! श्रावक तो कहीं रहे, बापू! और मुनि तो दशा कहीं अभी सुनने को मिलती नहीं, बापू! आहाहा!

कहते हैं कि यह पंचम गुणस्थान या छठवें गुणस्थान में **भूमिकानुसार व्रत, तपादि का शुभराग आता है परन्तु उसको उसकी चाहना नहीं है;...** समझ में आया? कहाँ गये? नवरंगभाई नहीं आये? ठीक! ऐसी बात है, भगवान! यह अनादि का भूला है। आत्मा के अनुभव के सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ व्रत और तप का भाव करे, वह सब राग दुःखरूपभाव है। उसे अज्ञानी धर्म मानता है। इसका नाम मिथ्या अर्थात् झूठी दृष्टि है। आहाहा! मिथ्यादर्शन शल्य।

भगवान आत्मा अनाकुल वीतरागस्वरूप विराजमान जिनस्वरूप प्रभु आत्मा के सन्मुख होकर जो शान्ति अन्तर में है, जो आनन्द अन्तर में है, उसमें एकाग्र होने पर आनन्द और शान्ति की वेदनदशा में अनुभव आवे। आहाहा! अब उसे पाँचवें गुणस्थान में भी यह शान्ति का वेदन बढ़ जाये और मुनि को तो... ओहो! यह बात क्या कहनी, बापू! मुनि तो पंच परमेष्ठी में सम्मिलित हैं। णमो लोए सव्व साहूणं। जिनकी बाह्य नग्नदशा होती है, अन्तर में जिन्हें पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं परन्तु वह राग है, ऐसा जानते हैं। आहाहा! उससे भिन्न स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द में केली करता हुआ यह आत्मा, उसमें स्थिर नहीं रह सके तो पंच महाव्रत के, दया, दान के, भक्ति के (भाव) आवे। परन्तु उनका वह धर्मी आदर नहीं करता। आहाहा! उन्हें हेयरूप जानता है। यह कहते हैं।

उसकी चाहना नहीं है; अभिप्राय में उसका निषेध वर्तता है। आहा! अरे! इसे कहाँ खबर है वीतरागी तत्त्व क्या है? आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर इन्द्रों की उपस्थिति में, गणधरों की मौजूदगी में, भगवान की वाणी ॐध्वनि निकलती है।

ओहो! ऐसा अवसर भी मिला था अनन्त बार। सेठ! भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया है। आहाहा! परन्तु केवली के समक्ष रह गया कोरा। यह सज्झाय है। सज्झायमाला है न चार? अपने यहाँ है। हमने तो दुकान पर मँगायी थी। (संवत्) १९६४, ६५, ६६ की बात है। सज्झायमाला। एक-एक में ढाई सौ-तीन सौ सज्झाय है। दस-दस लाईन की, पन्द्रह लाईन की। ऐसी सज्झाय है ढाई सौ-तीन सौ, ऐसी चार सज्झाय। सज्झायमाला ग्रन्थ श्वेताम्बर में है।

हमने दुकान में तो, स्थानकवासी थे न पहले तो। स्वरूपचन्दभाई! इसलिए सब मँगायी थी दुकान में। छोटी उम्र में—१८, १९, २० वर्ष की (उम्र में)। उसमें यह आया था। दो बात वहाँ आने पर विचार में आ गयी थी पहले। एक यह कि 'द्रव्यसंयम से ग्रैवेयक पायो, फिर पीछे पटकयो।' यह आया था पहली सज्झायमाला में। द्रव्यसंयम अर्थात् आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना यह व्रत और तप की क्रियायें, महीने-महीने के अपवास और दो-दो महीने के संथारा, ऐसा अनन्त बार किया है। 'द्रव्यसंयम से ग्रैवेयक पायो।' नौवें ग्रैवेयक गया। 'फिर पीछे पटकयो।' दृष्टि मिथ्यात्व थी। वह तो राग की मन्दता से कुछ पुण्य बाँधा तो मिथ्यात्वसहित। आहाहा! ऐसी क्रिया द्वारा ऊँचा गया। ऐसी क्रिया तो अभी होती नहीं। वहाँ से पड़ा है, वह मनुष्य में आवे, वहाँ से ढोर में और फिर नरक और निगोद में चला जाये। आहाहा! एक यह बात उसमें आयी तब।

केवली आगण रह गयो कोरो, ऐसा शब्द अन्दर है। स्वरूपचन्दभाई! केवली के निकट भी गया अनन्त बार। परन्तु उन्होंने क्या कहा, उनके अभिप्राय को छूने नहीं दिया। यह सज्झायमाला में आता है। यह तो ६५-६६ की बात है। दीक्षा लेने से पहले। ७० में दीक्षा (ली थी)। उसके पहले पाँच-छह वर्ष। घर की दुकान थी न पिताजी की। और तब ६५ के वर्ष से आजीवन रात्रिभोजन का त्याग था, ६५ के वर्ष से। (रात्रि में) आहार-पानी का त्याग और स्वाध्याय करते थे। दुकान में बैठते। उसमें यह आया। केवणी आगण (रह गयो कोरो)। यह क्या? सर्वज्ञ भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया। उसमें आता है न भाई अपने परमात्मप्रकाश में। 'भवे भवे पूजियो...' उसमें आता है और उसमें मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। अरे! भगवान की वाणी सुनी, समवसरण में गया परन्तु रह

गया कोरा। क्या वीतराग कहना चाहते हैं, ऐसा अभिप्राय इसने पकड़ा नहीं। आहाहा! यह क्रियाकाण्ड के राग में रुक गया और या भगवान की भक्ति में रुक गया। वह भी राग है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : अनादि से राग में ही रुका है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग में रुका है। आहाहा!

वीतरागस्वरूप जिनस्वरूप प्रभु अन्दर विराजता है। उसका वीतरागस्वरूप ही आत्मा का है। स्वभावरूप, शक्तिरूप, सत्त्वरूप। आहाहा! ऐसे वीतराग भगवान आत्मा, उसे यह पुण्य और पाप के राग के अतिरिक्त पृथक्-निराला इसने जाना नहीं, माना नहीं, अनुभव नहीं किया। आहाहा! चार गति में भटका है। सर्वज्ञ के समवसरण में गया। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो ऐसा कहते हैं। वहाँ ऐसा है उसमें, सम्यग्ज्ञानदीपिका। मणिरतन के दीपक, हीरा के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल (लेकर) भगवान की पूजा की। साक्षात् तीन लोक के नाथ की (पूजा की)। कहो, सेठ!

मुमुक्षु : काललब्धि का....

पूज्य गुरुदेवश्री : ले। काललब्धि का ज्ञान कब होता है? यह हमारा पहला प्रश्न है पहले से।

मुमुक्षु : आत्मा को जाने तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह प्रश्न हमारे दामोदर सेठ के साथ बहुत चलता था। सेठ थे न? (उन दिनों में) दस लाख रुपये। तब, हों! ६० वर्ष पहले! अब तो सब पैसेवाले बहुत हो गये करोड़पति। तब कहाँ पैसा था? एक यहाँ थे अहमदाबाद। कस्तूरभाई। उन्हें दस लाख, चालीस हजार की आमदनी थी। ६०-७० वर्ष पहले। उनके साथ बात होती थी तो कहे, काल में होता है... काल में होता है। परन्तु काल में होता है, इसका ज्ञान कौन करता है? जिस समय ज्ञान होता है, आनन्द होता है काललब्धि का, उसकी धारणा करनी है या उसका ज्ञान करना है? यह बात है। भाई! उसका ज्ञान करे, जब द्रव्य का (कि) वस्तु चैतन्यमूर्ति प्रभु आनन्द का धाम वीतरागस्वरूप से विराजमान प्रभु स्वभाव से वीतराग आत्मा है। आहाहा! उसमें एकाग्र होने पर उसे काललब्धि का ज्ञान होता है। अर्थात् कि

इस काल में यह हुआ, उसका ज्ञान होता है, इस काल में भाव हुआ, उसका ज्ञान होता है, इस काल में स्वभाव की सन्मुख में पुरुषार्थ किया, उस स्वभाव और पुरुषार्थ का भी ज्ञान होता है। और निमित्त का कर्म का इतना अभाव और निमित्त होता है, इसका ज्ञान एकसाथ पाँचों का होता है। मार्ग दूसरा है, भाई! समझ में आया?

अभिप्राय में उसका निषेध वर्तता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी श्रावक या मुनि या समकिती को ऐसा राग आता है। पूर्ण वीतराग न हो, इसलिए उसे दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का राग आता है। परन्तु उस राग का उसे निषेध वर्तता है। अरे! यह मैं नहीं। मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ में वीतरागता भरी है। आहाहा! अरे.. कैसे जँचे? **राग की भावना ही नहीं होती,...** आहाहा! यह शुभराग है, व्रत, तप, भक्ति, पूजा का उसे—धर्मी को उसकी भावना नहीं होती, तथापि कमजोरी के कारण आये बिना रहता नहीं। आहाहा! **उसको राग के फलरूप विषयों की इच्छा भी कैसे होगी?** वह राग शुभराग है, व्रत और तप का, उसका फल तो विषय-स्वर्ग के सुख या यह धूल के सेठिया कहलाये, उसका सुख उसे दिखता है। सेठ! धूल के सेठ। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : लकड़ी घुमावे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी तो यह रही। पहले थी वह कैसी? सूखड़ की। फिर यह और भाई डॉक्टर चन्दुभाई लाये। यह तो हाथ में पसीना हो और शास्त्र को न लगे, इसलिए (रखते हैं)। परन्तु लोग ऐसा कहते हैं कि लकड़ी घूमे वहाँ पैसा हो जाये। यह आत्मा की लकड़ी की बात है, बापू! यहाँ तो। आहाहा! चैतन्यनाथ अन्दर विराजता है और परमात्मस्वरूप 'अप्पा (सो) परम अप्पा।' परन्तु कैसे जँचे? यह वस्तु सन्मुख हुआ नहीं, पर से विमुख होना इसे सुहाता नहीं। स्वसन्मुख से विमुख सुहाया है और पर के सन्मुख में राग की क्रिया इसे सुहायी है। आहाहा!

उसको राग के फलरूप विषयों की इच्छा भी कैसे होगी? धर्मी को राग आता अवश्य है, परन्तु राग बिना की वस्तु अनुभव की है, इसलिए उसे राग का आदर नहीं होता। आहाहा! बहुत कठिन काम। अभी तो सामायिक करो, प्रोषध करो, दीक्षा ले लो। मुंडाओ, वहाँ तुम्हारा कल्याण होगा। धूल भी नहीं होगा। हैरान होकर मर जायेगा।

आहाहा! अभी तो सम्यग्दर्शन क्या है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा! और कैसे सम्यग्दर्शन होता है, इसकी रीति की भी खबर नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? इसे व्रत, तप और दीक्षा सब (क्रियाकाण्ड) एक बिना के शून्य हैं, बापू! कठिन तो लगे ऐसा है, सम्प्रदाय की शैली में। मार्ग ऐसा वीतराग का है, भाई!

जैसे - किसी को बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है,... पाँच लाख जाते हों तो पाँच हजार देकर भी हर्ष मानता है कि भाई! पाँच लाख जाते, इसकी अपेक्षा पाँच हजार में निपट गया। **दण्ड देने का उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है;...** श्रद्धान में तो दण्ड... आहाहा! ऐसा न हो तो अपने दण्ड दे नहीं, परन्तु अब क्या हुआ? इसलिए दण्ड देना पड़ता है। आहाहा!

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के... सम्यग्दृष्टि; चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ, का जिसे अन्तर अनुभव होकर प्रतीति हुई है। देखकर, जानकर प्रतीति हुई है कि यह आत्मा है, पूर्ण शुद्ध चैतन्य। आहाहा! बाकी तो यह धूल के अरबोंपति अनन्त बार हुआ, राजा हुआ, रंक हुआ, देव हुआ, नौवें ग्रैवेयक में देव हुआ। आहाहा! अनन्त बार हुआ, परन्तु आत्मा के सुखस्वरूप की इसने कभी पहिचान नहीं की। समझ में आया? मुझमें सुख है। मृग की नाभि में कस्तूरी, उस मृग को उसकी कीमत नहीं। आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी, उसे कस्तूरी की कीमत... जरा सूखे पत्ते खड़खड़े, वहाँ त्रास पाता है, उसे वह कैसे खबर पड़े कि यह कस्तूरी मेरे पास है? आहाहा! इसी प्रकार अनादि अज्ञानी जरा एक अनुकूलता लगे, वहाँ प्रसन्न हो जाये। प्रतिकूलता देखे, वहाँ खेदखिन्न हो जाये, अरे! इसे अन्दर आनन्द का नाथ भगवान स्वयं है, यह कैसे जँचे? समझ में आया? और यह आत्मज्ञान और आत्मदर्शन बिना सब व्यर्थ है। रण में शोर मचाने जैसा है। शोर कोई सुने नहीं, उसका रुदन बन्द हो नहीं। ऐसी बात है, बापू! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में तो कषाय को हेय ही मानता है। आहाहा! **तथा जैसे-कोई, कमाई का कारण जानकर,**

व्यापारादि का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी,... जैन का साधु बाहर वेश पहना... द्रव्यलिंगी। जिसे सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान नहीं, वह सब क्रिया करनेवाले पंच महाव्रत और यह सब द्रव्यलिंगी कहलाते हैं वे। आहाहा! द्रव्यलिंगी साधु **मोक्ष का कारण जानकर, प्रशस्तराग का उपाय रखता है,...** यह शुभराग की क्रिया, व्रत और तप, यह शुभराग की क्रिया का उपाय रखे मिथ्यादृष्टि। आहाहा! **उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है। इस प्रकार प्रशस्तराग के उपाय में और हर्ष में समानता होने पर भी,...** सम्यग्दृष्टि को राग की मन्दता में तीव्रता नहीं, इतना हर्ष माने और मिथ्यादृष्टि को यह ममता है उसे हर्ष माने। **सम्यग्दृष्टि के तो दण्डसमान...** है। धर्मी को तो वह शुभराग दण्ड हुआ, दण्ड किया। आहाहा! समझ में आया?

और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान श्रद्धान पाया जाता है;... मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को वह क्रिया पंच महाव्रत की और दया, दान, व्रत की क्रिया, जैसे व्यापार में लाभ माने; वैसे यह उसमें लाभ मानता है। आहाहा! ऐसा क्या स्वरूप होगा? ऐसा सब अनजाना रह गया होगा? यह सब हजारों त्यागी बातें करते हैं, यह सब करते हैं। ऐई... पोपटभाई! तुम्हारे रह गया न सब ऐसा हिम्मतभाई के साथ। यह हिम्मतभाई के साथ करते थे। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि के तो दण्डसमान... सम्यग्दृष्टि को शुभराग आवे परन्तु वह उसे दण्ड समान जानता है। **और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान श्रद्धान पाया जाता है;...** अपने धर्म का व्यापार करते हैं। व्रत पालते हैं, अपवास करते हैं, सब धर्म-व्यापार माने। परन्तु वह तो वृत्ति का उत्थान है, राग है। समझ में आया? **इसलिए दोनों के अभिप्राय में विशेष (भेद) हुआ।** दोनों के अभिप्राय में भेद पड़ा। आचरण तो मन्द कषाय का समकिती भी करे या होता है। मिथ्यादृष्टि करे और होता है, तथापि अभिप्राय में अन्तर है। आहाहा!

वीतराग की आज्ञा ऐसी है कि आत्मा का स्वभाव वीतराग, उसका आश्रय ले तो वीतरागता प्रगट हो, वह वीतराग धर्म है। जितना पर के आश्रय से व्रत, तप का राग होता है, वह धर्म नहीं है। आहाहा!

श्लोक - ४३

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वं दर्शयन्नाह -

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥

परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा। स्वस्मादात्मस्वस्वरूपात्। च्युतो भ्रष्टः सन्। बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं। असंशय यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः। स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मितः बुद्धोऽन्तरात्मा। परस्माच्छरीरादेः च्युत्वा पृथग्भूत्वा। मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति॥४३॥

तत्त्वज्ञानी (अन्तरात्मा) और इतर (बहिरात्मा) में (अनुक्रम से) कर्म का अबन्धपना और बन्धपना दर्शाते हुए कहते हैं —

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता पर-सङ्ग आप।
पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप॥ ४३॥

अन्वयार्थ - (परत्राहम्मतिः) शरीरादि परपदार्थों में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है - ऐसा बहिरात्मा, (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूप से (च्युतः) भ्रष्ट हुआ, (असंशयम्) निःसन्देह (बध्नाति) अपने को कर्मबन्धन से बद्ध करता है और (स्वस्मिन्नहम्मतिः) अपने आत्मा के स्वरूप में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला (बुधः) अन्तरात्मा, (परस्मात्) शरीरादि पर के सम्बन्ध से (च्युत्वा) च्युत होकर, (मुच्यते) कर्मबन्धन से छूट जाता है।

टीका - पर में अर्थात् शरीरादि में अहंबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, स्व से अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत (भ्रष्ट) होकर बाँधता है-आत्मा को कर्मबन्धन से बाँधता है; निःसंशयपने अर्थात् नियम से बाँधता है — ऐसा अर्थ है। अपने में अर्थात् आत्मस्वरूप में अहंबुद्धिवाला बुध / अन्तरात्मा; पर से अर्थात् शरीरादि से च्युत होकर / पृथक् होकर, मुक्त होता है अर्थात् सर्व कर्मबन्धन से रहित होता है।

भावार्थ :- बहिरात्मा, अपना शुद्धात्मस्वरूप भूलकर, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है, इससे उसको ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है और अन्तरात्मा,

शरीरादि परपदार्थों के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ आत्मबुद्धिपूर्वक सम्बन्ध जोड़ता है, इससे वह कर्मबन्धन से छूट जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानतावश जीव, शरीरादि परपदार्थों में अहंबुद्धि, ममकारबुद्धि, कर्ता-भोक्ताबुद्धि आदि का राग-द्वेष करता है और राग-द्वेष के निमित्त से उसको कर्म का बन्ध होता है। बाह्यपदार्थ, बन्ध का कारण हैं ही नहीं; उनमें मिथ्याभ्रान्तिजनित ममत्वभाव ही संसार-बन्ध का कारण है। अज्ञानी को अपने चैतन्यस्वरूप की असावधानी है; इसलिए उसको परपदार्थों में आत्मभ्रान्ति चालू रहती है और उसके फलरूप कर्मबन्ध भी हुआ ही करता है।

ज्ञानी को राग-द्वेषादि और आत्मस्वभाव का भेदविज्ञान है; इसलिए उसको उपयोग में राग के साथ एकता नहीं होने से, वह अबन्ध है।

श्री समयसार, गाथा-२९३ में कहा है कि —

'रे जानकर बन्धनस्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवे, कर्म मोक्ष करे अहा॥'

'बन्ध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर, बन्ध के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।'

ज्ञानी, अपने स्वरूप में स्थित है अर्थात् स्वसमय है और परपदार्थों के प्रति होनेवाले रागादिभावों से विरक्त है; इससे उसको कर्मबन्धन नहीं है। अज्ञानी, आत्मस्वरूप से च्युत है अर्थात् परपदार्थों में आत्मबुद्धि से स्थित है, परसमय है और रागादिभावों से युक्त है; इससे वह कर्मों से बद्ध है॥४३॥

श्लोक - ४३ पर प्रवचन

तत्त्वज्ञानी (अन्तरात्मा)... है ? ४३। तत्त्वज्ञानी अर्थात् अन्तरात्मा, अर्थात् राग और पुण्य-पाप की क्रिया के राग से भिन्न ऐसे चैतन्य का भान (हुआ है), उसे तत्त्वज्ञानी कहते हैं। क्योंकि वह तत्त्व शुद्ध है, उसका जिसे ज्ञान है और अशुद्ध है, उसे अशुद्ध का

ज्ञान है। ऐसे **तत्त्वज्ञानी (अन्तरात्मा) और इतर (बहिरात्मा) में (अनुक्रम से) कर्म का अबन्धपना और (कर्म का) बन्धपना दर्शाते हुए कहते हैं—** आहाहा! ४३।

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥

इसकी टीका। ४३ श्लोक। **पर में अर्थात् शरीरादि में...** वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुण्य और पाप में। आदि में, यह शब्द है। उसमें जिसकी अहंबुद्धि है। जिसे **आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा,...** आहाहा! अर्थात्? पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव, वह आत्मा में नहीं है, स्वभाव में नहीं है। वह बहिर् है। उसे वह अपने मानता है। वह बहिरात्मा है। वह **स्व से अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत (भ्रष्ट) होकर बाँधता है...** आहाहा! यह आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, उसे न मानकर राग की क्रिया वह मेरी और उससे मुझे कल्याण होगा, ऐसा माननेवाला स्वरूप से च्युत है। आहाहा! और कर्म को बाँधता है। **आत्मा को कर्मबन्धन से बाँधता है;...** आहाहा! राग से पुण्य बँधता है। परन्तु बँधता है न? आहाहा! भारी कठिन मार्ग। राग का विकल्प जो है, यह करूँ और यह पालन करूँ और यह करूँ, वह सब राग है। रागवाला आत्मा के स्वरूप से भ्रष्ट है। इसलिए वह कर्म बाँधता है। आहाहा! समाधितन्त्र है न? बहुत संक्षिप्त। समाधि और असमाधि दो बातें ली हैं अर्थ में। आहाहा!

आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, स्व से अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत... इससे बहिरात्मा इस राग को अपना स्वरूप माननेवाला शरीर की क्रिया, वह मैं कर सकता हूँ, हिलना, चलना, यह दया पालना, ऐसा जो पर को अपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि... आहाहा! कर्मबन्धन से बँधता है। **निःसंशयपने अर्थात् नियम से बाँधता है...** आहाहा! है न अन्दर अर्थ। आहाहा!

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता पर-सङ्ग आप।
पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप॥४३॥

इसका श्लोक है यह। जिसे ज्ञाता-दृष्टा ही आत्मा है, उसे राग की क्रिया बिना का वह तत्त्व है। क्योंकि राग, वह आस्रवतत्त्व है; वह आत्मतत्त्व नहीं। परन्तु जो आत्मा के

तत्त्व में नहीं, उसे अपना मानकर बहिरात्मा अर्थात् बाह्य में है, उसे अपना माननेवाला... आहाहा! नियम से कर्म से बँधता है। नि:संशय (बँधता है)। आहाहा!

अपने में अर्थात् आत्मस्वरूप में अहंबुद्धिवाला बुध / अन्तरात्मा;... अब सुलटा लेते हैं। अपने में अर्थात् आत्मस्वरूप। आत्मस्वरूप ज्ञान और आनन्द ऐसा आत्मस्वरूप, उसमें अहंबुद्धिवाला बुध, वह मैं, ऐसा ज्ञानी अर्थात् अन्तरात्मा **पर से अर्थात् शरीरादि से च्युत होकर...** राग से भी च्युत होकर अर्थात् कि राग और शरीर से **पृथक् होकर, मुक्त होता है अर्थात् सर्व कर्मबन्धन से रहित होता है।** लो! आहाहा!

भावार्थ :- बहिरात्मा... अर्थात् कि जो अन्तर में वस्तु में पुण्य-पाप का, व्रत, तप का विकल्प है नहीं अन्दर में, उसे उस विकल्प को—राग को अपना मानता है, वह बहिर्-बाह्य चीज़ को अपनी मानता है। आहाहा! इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि चाहे तो वह व्रत पालता हो और ब्रह्मचर्य पालता हो देह से, वह तो शुभराग है। वह इन्द्रियनिग्रह नहीं है। यह तो भाई का जमनादासभाई का (आया है)। ऐसा कि यह लोग पालते हैं (वह) इन्द्रियनिग्रह करते हैं न? इन्द्रियनिग्रह किसे कहा जाता है, इसकी खबर नहीं उसे। शुभ-अशुभराग से छूटकर और अन्तर में रमे, उसे इन्द्रियनिग्रह कहा जाता है। आहाहा! वीतराग की वाणी जगत से कुछ अलौकिक है, भाई! समझ में आया?

इन्द्रिय अर्थात् यह पाँच जड़, भाव इन्द्रिय अन्दर क्षयोपशम एक-एक विषय को जाननेवाला और वह इन्द्रिय के विषयरूप स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र और वाणी, यह सब इन्द्रियाँ हैं। आहाहा! यह इन्द्रिय का निग्रह कब कहलाता है? वह परवस्तु वाणी आदि और रागादि, शरीरादि, ये सब चीज़ें मुझमें नहीं—ऐसी अणीन्द्रिय दृष्टि करे, उसने इन्द्रियनिग्रह किया कहलाता है। समझ में आया? व्याख्या (में) बहुत अन्तर है, भाई! 'आनन्द कहे परमानन्दा माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो नहीं मळे अने अेक त्रांबियाना तेर।' इसी प्रकार भगवान कहते हैं कि मेरे और तेरे बापू! बात-बात में अन्तर है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तर स्वसन्मुख जाने पर उसे वीतरागता प्रगट होती है और पराश्रय लक्ष्य जाने पर उसे राग प्रगट होता है। आहाहा! उस राग को मेरा मानकर जो करता है, वह

इन्द्रियनिग्रह नहीं, वह इन्द्रिय की सेवा करता है। आहाहा! अरे! भगवान का स्मरण करे, पूजा करे, भगवान की प्रतिमा, अरे! साक्षात् भगवान विराजते हों, उनकी सेवा करे तो इन्द्रिय की सेवा है। आहाहा! ऐई... सुजानमलजी! आहाहा! परवस्तु और पर के आश्रय से होनेवाला राग और शरीर पाँच इन्द्रिय आदि, उन सबमें से उनका अस्तित्व दृष्टि छोड़कर अणीन्द्रिय भगवान आत्मा की दृष्टि और अनुभव करे, उसने इन्द्रिय का निग्रह किया कहलाता है। भारी व्याख्या भाई ऐसी! समझ में आया?

मुमुक्षु : आत्मा को जाने बिना....

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रियनिग्रह किसका धूल में...वह सब इन्द्रियाँ हैं राग की। राग, शरीर और शरीर के आश्रय से होने से परवस्तु, भगवान तीन लोक के नाथ को इन्द्रिय कहते हैं। वह इन्द्रिय का विषय है तो विषय इन्द्रिय है, ऐसा कहते हैं। (समयसार) ३१ गाथा में है। आहाहा! आवे, शुभभाव सम्यग्दृष्टि को भी, परन्तु उसे हेय जानता है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! इसने आत्मा क्या वस्तु है? उसमें क्या भरा है? वस्तु है, उसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं। आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि अनन्त शक्तियाँ, अनन्त गुण, अनन्त भाव उसमें बसे हुए हैं। आहाहा! उसमें वीतरागता बसी है। उसकी दृष्टि करता नहीं और यह राग और पर की दृष्टि करता है, वह सब इन्द्रिय का निग्रह नहीं करता, इन्द्रियों की सेवा करता है। आहाहा! गजब बात भाई ऐसी!

अब उसे वापस मन्दिर और बड़े-बड़े २६ लाख के मन्दिर लो। ऐई... जेठाभाई! यह होता है इसके कारण से। कोई करता है, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है, भाई! उसमें भाव हो तो वह शुभभाव होता है, परन्तु वह शुभभाव, वह पुण्यबन्ध का कारण है। परन्तु पूर्ण वीतरागता न प्रगट हुई हो, तब आत्मभान होने पर भी वह भाव आये बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी उस भाव को लाभदायक मानता है, ज्ञानी उस भाव को हेय और नुकसानदायक मानता है, इतना अन्तर है। मान्यता में अन्तर है। दिशा भेद है। समझ में आया? इसमें आये थे तुम, नहीं? गढडे आये थे। सब आये। आहाहा!

अरे! सत् की खबर कहाँ है, बापू! आहाहा! सत् भगवान पूर्णानन्द का नाथ।

आहाहा! उसके आश्रय से... स्व के स्वस्वरूप है, उसके आश्रय से वीतरागता और धर्म होता है। आत्मा के अतिरिक्त पर है, उसके आश्रय से विकल्प उठता है, वह सब राग है। आहाहा! कहो, गिरधरभाई! ऐसा है।

भावार्थ :- बहिरात्मा, अपना शुद्धात्मस्वरूप भूलकर,... मैं एक ज्ञान और दर्शन और आनन्द हूँ। वह मेरा स्वरूप है। उसे भूलकर **शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है,...** शरीर, राग, इन्द्रियाँ, पर अनुकूल देखकर वह मुझे लाभदायक है, ऐसी आत्मबुद्धि करता है। आहाहा! क्या वीतरागमार्ग है! वीतरागमार्ग तो ऐसा कहता है, हमारी जो वाणी निकलती है दिव्यध्वनि भगवान की, उसे जो सुनता है, उसे उस पर की ओर के झुकाववाला राग होता है। आहाहा! उसमें ऐसा कहना चाहते हैं कि हमारी ओर के झुकाव में राग है, तेरे स्वभाव के झुकाव में वीतरागता है। आहाहा! यह भगवान ने सुनाया था। यह दृष्टि में लिया नहीं। आहाहा! इससे भगवान के पास गया तो भी कोरा रह गया। आहाहा!

एक व्यक्ति कहता था कि भाई! तू राजा को मिला था? कहे, हाँ। कब? कि मेरा केस चलता था। कठोर चोरी की थी। तब उसमें खड़े रखते हैं न कठघरे में? वहाँ मैं राजा को मिला था। राजा को मिला कहलाये? केस चलता हो कोर्ट में और दरबार आये हों। खड़ा रखे। कठघरा हो न कठघरा, उसमें खड़ा रखे। हमारे भी बना है न यह? (संवत्) १९६३ के वर्ष। कहा न? ६३ में अफीम का झूठा केस चला था। पालेज। झूठा केस था। दुकान पर वह ओपियम कहलाता है न, ओपियम? वह लेने आया था। क्या कहलाता है वह? गोठ। गोठ लेने आया, उससे कहा भाई आठ आना। हमारे क्या? व्यापारी व्यक्ति को तुम्हारा क्या सम्बन्ध? हमारे तो मास्टर हो। पुलिस कैसा? पुलटिस। पोटर वह उसके साथ बहुत मेल। इसलिए तुम आठ आने लो, वह कहे मैं रुपया लूँगा। इसमें बड़ा विवाद हो गया। एक रुपये का ७०० का खर्च। सवा महीने केस चला। आहाहा!

इस प्रकार दण्डे। अनादि से राग के अफीम के पोटले इकट्ठे करके मानता है कि हमारे धर्म है। आहाहा! यह अफीम का धन्धा करनेवाला है, उसे हलवाई के धन्धे की खबर नहीं। हलवाई की दुकान में कहीं अफीम मिलेगी? मावा तो उसे भी कहा जाता है।

अफीम का मावा कहलाता है। यह अफीम पीते हैं न? वह कहीं बोले। आओ-आओ बापू... ऐसी कुछ भाषा है।

मुमुक्षु : रूपा की राब।

पूज्य गुरुदेवश्री : रूपा की राब। वह रूपा की राख महँगी मिलती है न। यह सब वहाँ सुना हुआ, भाई! गोंडल के बीच है न लींबड़ा-लींबडा। वहाँ हम उतरे थे। वह यह तो (संवत्) १९७६-७७ की बात है। ७७ में लींबडा में वहाँ उतरे। कोई गाँव नहीं था। तब स्थानकवासी में थे। लींबडा में उतरे थे। तो वह बाबा पीता था। रूपा की राब, बापू! रूपा की... दूसरा ऐसा कहे नहीं चढ़ा, हो गया कहा। पीया हो तो भी नहीं चढ़े। चढ़ा... चढ़ा... चढ़ा... ऐसा यदि कहे (तो चढ़े)। वह पागल। ७७ की बात है। गोंडल गये थे तब। आहाहा! लुटाया है बापू तू तो। आहाहा!

परपदार्थ को अपना मानकर उसे ज्ञानावरणादिकर्म का बन्ध होता है। अन्तरात्मा। अन्तरात्मा उसका जो अन्तर स्वरूप है, शुद्ध आनन्द और ज्ञान, उसे अनुभव करनेवाला आत्मा शरीरादि परपदार्थों के साथ का सम्बन्ध तोड़कर... मुझे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। **अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ...** स्वयं तो चिदानन्द, ज्ञानानन्द। चिद् अर्थात् ज्ञान। ज्ञानानन्दस्वरूप के साथ **आत्मबुद्धिपूर्वक सम्बन्ध जोड़ता है,...** आहाहा! राग के साथ जोड़ा है, उसने आत्मा के साथ तोड़ा है। राग के साथ जोड़ा है उसने (आत्मा) के साथ तोड़ा है। राग के साथ जोड़ता है, उसने आत्मा के साथ तोड़ा है। आहाहा! वीतराग. वीतराग... वीतराग... जोड़ता है। **इससे वह कर्मबन्धन से छूट जाता है।**

विशेष -अज्ञानतावश जीव, शरीरादि... की क्रिया, राग की क्रिया, वह परपदार्थों में अहंबुद्धि (करता है कि) यह मैं और ममकार (अर्थात् कि) यह मेरे। आहाहा! शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, राग, पुण्य-पाप के भाव, वे सब अहं—यह मैं और यह मेरे। ऐसा है। अहं अर्थात् मैं और ममकार अर्थात् मेरे। अस्ति-नास्ति से। यह मैं, यह मेरे। आहाहा! देखो न! स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं न? आधा अंग स्त्री को कहते हैं। धूल भी नहीं, सुन न अब! आहाहा! पागल के कहीं गाँव अलग होते हैं? आहाहा! यह मेरी अर्धांगिनी है। आधा अंग मैं और आधा अंग यह। अरे! क्या कहता है प्रभु तू यह? कहाँ

तू भटका है ? समझ में आया ? यह हमारे अन्तरंग व्यक्ति हैं। कोई गुप्त काम करना हो तो अन्तरंग लोगों के साथ बात करते हैं। हमारे अन्तरंग है। धूल पर आन्तरिक कहाँ आये तेरे ? आहाहा! ऐई... पोपटभाई! ऐसा ही चलता है ? आहाहा!

अज्ञानतावश जीव, शरीरादि परपदार्थों में अहंबुद्धि,... यह मैं और यह मेरे। ज्ञानी को आत्मा आनन्दस्वरूप, वह मैं और स्वभाव, वह मेरा। यह रागादि नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, बहुत (कठिन)। भगवान का मार्ग लोगों ने रागमय कर दिया है और नाम दिया भगवान की आज्ञा, भगवान प्रमाण। 'सूत्र अनुसार जो भविक क्रिया करे उसका शुद्ध चारित्र परखो;' यह क्रिया पाले वह आहार देने की, यह नंगे पैर चले, यह हमारी क्रिया है। धूल भी नहीं। सुन न! यह तो सब राग की क्रिया है। सूत्र अनुसार कहाँ यह क्रिया है ?

कर्ता-भोक्ताबुद्धि आदि का... देखो! यह आत्मा की क्रिया (यह) धर्म की (क्रिया है)। क्रिया तीन प्रकार की। एक जड़ादि की यह पर; एक रागादि की विभाव और और एक रागरहित स्वभाव की एकाग्रता की स्वभावक्रिया। ये क्रिया के तीन प्रकार परमात्मा ने वर्णन किये हैं। आहाहा! समझ में आया ? कर्ता है न ? कर्ता... है न ? यह मेरे, इसके काम मुझे करना चाहिए। आहाहा!

मुमुक्षु : लड़कों के काम तो करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सुमनभाई को पढ़ाया न, देखो न! कितना पढ़ाया नहीं उसे ? पैंतीस खर्च किये। वकालत में पाप किये और पैंतीस हजार वहाँ खर्च किये। सेठ! यह तो अभी दृष्टान्त है। सब ऐसा करते हैं न।

मुमुक्षु : लेखे लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लेखे कहाँ ? आहाहा! ऐसा कि पढ़ाया, उसमें आठ हजार का वेतन हुआ, उसे महीने का। दस हजार का वेतन, उसे ले गये थे बेल्जियम। अभी सुमनभाई को। फिर आठ हजार का वेतन यहाँ। मुम्बई रखा। मैं दूर नहीं रहूँगा। मेरे पिताजी यहाँ रहते हैं, गुरु यहाँ। मुझे जाना पड़े। दस हजार का वेतन था परन्तु दो हजार घटाकर यहाँ रहते हैं अब। मुम्बई आठ हजार मासिक वेतन। मासिक आठ हजार वेतन। ४८ वर्ष की

उम्र होगी। ५० के अन्दर। यहाँ बहुत बार आते हैं। यह लेखे लगा कहलाये। आठ हजार वेतन है न वह ? आहाहा!

अरे रे! लेखे तो बापू! जिसके स्वभाव का भान होकर, राग से भिन्न पड़कर जिसने आत्मा को सफल किया है। आहाहा! जिसे शान्ति के फलवाला किया है, वह सफल है। आहाहा! ऐसा पत्र आया है, नहीं ? मनहर का कुछ आया है। सूरत से। हम आनेवाले थे परन्तु यह उपाधि आ पड़ी है लड़के की। भाणिया की। एक मर गया और दूसरा बीमार पड़ा। पत्र नहीं था ? किसके प्रति ? परसों रविवार को आनेवाले थे। उसमें क्या अब ? आहाहा! यह देखो न उपाधि। पैसे हुए हैं, उसके पास २५-५० लाख। अभी दो-चार वर्ष में। अपने उसमें नहीं ? ...मन्दिर में इन्द्र बना था। ८० हजार। ८० हजार में इन्द्र बना। खर्च करता है। परन्तु क्या है ? पैसा जड़, उसे मैं खर्च करता हूँ, यह भी अभिमान है। ऐई! भाई! यहाँ तो ऐसी बात है। वह जड़ है वह तो। उस जड़ का सदुपयोग करता हूँ (-ऐसी मान्यता) मिथ्यात्वभाव है। ऐई! सेठ! आहाहा!

चैतन्य आनन्द का नाथ सहजानन्दस्वरूप, उसका अन्दर में एकाग्र होकर सदुपयोग करे, वह उपयोग कहलाता है। ऐसी चीज़ को सदुपयोग में लगाया। आहाहा! बाकी तो जवानी... आहाहा! फाट-फाट (भरपूर) जवानी हो, उसमें स्त्री कुछ पैसा लेकर आती हो, वह भी जवान हो, वहाँ ऐसा हो जाता है अपने ओहोहो! अपने सुख में सुखी हैं। दुःख के पर्वत पर सिर फोड़ा और (मानता है कि) सुखी हैं। आनन्द का नाथ परमात्मा सुख का सागर, वह तो रह गया, भाई! समझ में आया ? आहाहा!

काया से मैं ब्रह्मचर्य पालता हूँ, यह मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि काया तो जड़ है। उसे हमने जाने नहीं दिया। इसका अर्थ उसका स्वामी हुआ। आहाहा! गजब वीतरागमार्ग, भाई! समझ में आया ? यहाँ **कर्ता-भोक्ताबुद्धि आदि का राग-द्वेष करता है...** मैंने इस शरीर से काम लिया। तब भाई बोलते थे न यहाँ ? ढेबरभाई आये थे न यहाँ ? ढेबरभाई कहे, इस शरीर का सदुपयोग करें। क्या धूल हो सदुपयोग ? यह तो मिट्टी है-अजीव है। यह जीव उसका सदुपयोग कर सकता है ? जड़ का ? यह सब दशायें होती हैं, वह तो जड़ से होती हैं। आहाहा! परन्तु कार्यकर्ता सदुपयोग मान लेते हैं। ऐई! आहाहा! और वह

परपदार्थ राग, शरीरादि मैं और वे मेरे और **कर्ता-भोक्ताबुद्धि आदि का...** आहाहा! मैं राग का कर्ता हूँ, पुण्य का कर्ता हूँ, व्रत-तप के विकल्प का मैं कर्ता हूँ, यह सब मिथ्यात्वभाव है। शुद्ध चैतन्यवस्तु, वह विकार को किस प्रकार करे? उसमें कहाँ विकार करने की कोई शक्ति या गुण है? आहाहा! यह राग का कर्ता और राग का भोक्ता माना, उसने स्वभाव का अनादर करके मिथ्यात्व का सेवन किया है। आहाहा!

....निमित्त से उसको कर्म का बन्ध होता है। बाह्यपदार्थ, बन्ध का कारण हैं ही नहीं; उनमें मिथ्याभ्रान्तिजनित ममत्वभाव ही संसार-बन्ध का कारण है। अज्ञानी को अपने चैतन्यस्वरूप की असावधानी है; इसलिए उसको परपदार्थों में आत्मभ्रान्ति चालू रहती है और उसके फलरूप कर्मबन्ध भी हुआ ही करता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण ९, मंगलवार, दिनांक ०४-२-१९७५, श्लोक-४३-४४, प्रवचन-५६

गाथा-२९३, नीचे श्लोक है।

रे जानकर बन्धनस्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवे, कर्म मोक्ष करे अहा॥

(समयसार) २९३। **बन्ध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर,...** बन्ध का स्वभाव वह राग-द्वेष है। आत्मा का स्वभाव, वह शुद्ध चैतन्य है। दोनों के स्वभाव को, दोनों के स्वभाव को। शुभ-अशुभराग, वह बन्ध का स्वभाव है और ज्ञानानन्दस्वभाव, वही आत्मा का स्वभाव है। दोनों को जानकर **जो विरक्त होता है,...** बन्ध के भाव से जो पृथक् पड़ता है, **वह कर्मों से मुक्त होता है।**

ज्ञानी, अपने स्वरूप में स्थित है अर्थात् स्वसमय है... समयसार २९३ (गाथा)। **ज्ञानी, अपने स्वरूप में स्थित है अर्थात्...** आनन्द और ज्ञानस्वरूप में स्थित है। जिसे अन्तर के स्वभाव के आनन्द का भान हुआ, उसे आत्मा का भान हुआ। उसे स्वभाव के आनन्द का भान हुआ कि आत्मा तो आनन्दस्वरूप ही है। ऐसे आनन्द में रहता है, उसे स्वसमय कहा जाता है।

परपदार्थों के प्रति होनेवाले रागादिभावों से विरक्त है;... इसलिए इस आनन्द से विपरीत ऐसे राग-द्वेष के भाव से, आकुलता से वह भिन्न है। ऐसी बात क्या कहना? समझ में आया? **ज्ञानी, अपने स्वरूप में स्थित है...** आनन्द में। आहाहा! चैतन्य का स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द है तथा राग और द्वेष का स्वभाव विषम—आकुलता है। दोनों को जानकर कर्मों से अर्थात् राग से वह विमुक्त होता है। वह मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वभावी पदार्थ जो अनुभव में आवे, वह चीज़ मैं हूँ। रागादि भाव, वह बन्ध के स्वभावस्वरूप होने से अबन्ध परिणाम के जोर से उससे मुक्त होता है। ऐसी चीज़ है। लोगों को इस व्यवहार का ऐसा (लगा है न)। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में यह गाथा कितनी आती है? बन्ध और मोक्ष उपाय, नहीं आती? राग का अंश बन्ध का कारण और समकित अबन्ध का कारण। उसके बाद या उसके पहले?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह। परन्तु यह गाथा पहले या बाद में, ऐसा कहता हूँ।

मुमुक्षु : इसके बाद में।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बाद। तब फिर छनावट तो यहाँ हो गयी। आहाहा!

जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है और जितने अंश में आत्मा के आनन्द और ज्ञानस्वभाव के अंश अबन्धपरिणामरूप परिणमित हुए हैं, प्रगट हुए है, उतने अंश में अबन्ध है। अब यह बात हो गयी, तथापि यहाँ वापस कहाँ से आयी? व्यवहाररत्नत्रय भी मोक्ष का उपाय है। बन्ध का उपाय नहीं। अब ऐसा अर्थ किया। कहो, चेतनजी!

मुमुक्षु : सीधा बन्ध का उपाय।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का उपाय। ऐई... चेतनजी! यह तो गाथ हो गयी जरा। पहली गाथायें तो आ गयी हैं यह। आहाहा! भगवान! क्या करे? जीव ने ऐसा ही किया था अनादि से। आहाहा! अपना आनन्द और ज्ञानस्वभाव, उससे विरुद्ध भाव, वह भी मोक्ष का कारण। आहाहा! कितनी विपरीतता वस्तु के स्वभाव की।

भगवान शुद्ध चैतन्य का ज्ञान और उसकी श्रद्धा और उसकी रमणता, वह तो अबन्धस्वरूप के अबन्धपरिणाम हैं। वह तो मोक्ष का कारण है। और पराश्रय से जितना राग होता है, वह सब व्यवहार है, वह बन्ध का कारण है, वह शुभराग है। लोगों को वह रुचता है। व्यवहार व्यवहार से कुछ होता है न, शास्त्र में आया सही न, व्यवहार साधक है। वह तो उपचार से कथन किया है। निमित्त का ज्ञान कराने को साधक और साधन व्यवहार को साधन कहा। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है। दुनिया को एकान्त लगे। अनेकान्त ऐसे नहीं होगा, व्यवहार से भी लाभ हो, वह अनेकान्त हो। यह कोई अनेकान्त नहीं, भाई! इसकी श्रद्धा में यह बात पहले निर्णय तो करे। आहाहा!

परपदार्थों में... देखो! व्यवहार आया न? अपने स्वरूप में स्थित, वह स्वसमय निश्चय है और परपदार्थ के प्रति रागादि भावों से मुक्त है। क्योंकि वे बन्ध के कारण हैं। आहाहा! अरे! उसे चैतन्यस्वभाव पूरा चैतन्यघन है, उसकी खबर नहीं और यह बाहर की

बातों में रुक गया है न, इसलिए उसमें कुछ रस पड़े। आहाहा! **इससे उसको कर्मबन्धन नहीं है।** धर्मी को इस अपेक्षा से कर्म बन्ध नहीं कि अपना निज स्वभाव, वह आनन्द का अनुभव है; इसलिए आनन्द से उल्टे भाव से तो मुक्त है, विरक्त है। आहाहा! एकता नहीं है। आहाहा!

अज्ञानी, आत्मस्वरूप से च्युत है... बात तो ऐसी है। स्वयं स्वरूप इसका ज्ञान और आनन्द, अनाकुल ज्ञान और अनाकुल आनन्द (स्वरूप है)। आहाहा! ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी स्वभाव की जहाँ दृष्टि हुई, उसे आत्मस्वरूप से भिन्न ऐसे राग का स्वामीपना नहीं रहता; इसलिए बन्ध नहीं है। जेठाभाई! ऐसा कठिन मार्ग, भाई! यह तो परदेश में कहाँ मिले, ऐसा है वहाँ? रुपया मिले, वहाँ। वह भी वापस पुण्य हो तो मिले। आहाहा! घर में पूँजी पड़ी है, उस पूँजी की कीमत नहीं और नये परद्रव्य आश्रित विकल्प हों, उनकी कीमत करने जाये, वहाँ स्वभाव की कीमत उड़ जाती है। स्वरूपचन्दभाई! ऐसी बातें हैं। सेठ!

मुमुक्षु : यह तो आपने चलाई ३०-४० वर्ष से।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र क्या कहते हैं? है या नहीं तुम्हारे पास? आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान... आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से (भरपूर है), अज्ञानी (को) उसका ज्ञान नहीं, इसलिए स्वरूप से च्युत / भ्रष्ट है। **अर्थात् परपदार्थों में आत्मबुद्धि से स्थित है,...** स्वस्वभाव का भान नहीं, इसलिए स्वस्वभाव के अज्ञान के कारण परपदार्थों में वह आत्मबुद्धि से स्थित है। कहीं इसे अपनापन तो मानना पड़ेगा न? तीन लोक का नाथ चैतन्यस्वभाव से गरज रहा है—स्वभाव से भरपूर है। आहाहा! ऐसे स्वभाव का जिसे ज्ञान नहीं, वह अज्ञानी स्वभाव से च्युत है और परपदार्थ के आश्रय से होते राग में आत्मबुद्धि से... आहाहा! स्थित है उसमें। **परसमय है और रागादिभावों से युक्त है;...** माल तो यह है, भाई! लाख करोड़ बातें करे। अनेक शास्त्र की बात बहुत नय की आती है, परन्तु उसका प्रयोजन वीतरागता यदि अन्दर न प्रगटे तो वह कुछ स्वरूप है ही नहीं। चाहे जितना राग करे, शुभ करे, स्वर्ग में जाये परन्तु आत्मा में नहीं जा सकेगा। आहाहा! समझ में आया?

परपदार्थ शरीर, वाणी, मन, पुण्य और पाप के भाव, उसमें उस स्वरूप के भान से जो अनादि से च्युत है, इसलिए वह राग में स्थित है। आहाहा! **और रागादिभावों से युक्त है; इससे वह कर्मों से बद्ध है।** आहा! बहुत संक्षिप्त। बहुत ही संक्षिप्त और बहुत ही सत्य। लाख शास्त्र पढ़े या करोड़ पढ़े परन्तु यह आत्मा आनन्द का नाथ है, इसमें पुण्य और पाप के विकल्प का अवकाश नहीं। आहाहा! उसकी कोई गुण—शक्ति विकार को करे, ऐसी उसकी कोई गुण—शक्ति नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे आत्मा में जिसे अन्तर का माहात्म्य आया है, अन्तर के घोलन में जिसे आनन्द का भास हुआ है... आहाहा! वह राग से विमुक्त है। उस आनन्द से राग विपरीत जहर है। आहाहा! चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधने का भाव हो, परन्तु वह तो स्वरूप के अमृत से तो विरुद्ध है। इसलिए उस विरुद्धभाव से स्वभाव का अनुभवी जीव मुक्त है। आहाहा! समझ में आया?

श्लोक - ४४

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह -

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

दृश्यमानं शरीरादिकं। किं विशिष्टं? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिंङ्गं सत्। मूढो बहिरात्मा। इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन। यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते। न पुनस्त्रिलिङ्गतया। तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् कथम्भूत-मिदमात्मस्वरूपं! निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽ-गोचरम्॥४४॥

जहाँ (जिन पदार्थों में) बहिरात्मा को आत्मबुद्धि हुई, उन्हें वह कैसा मानता है और अन्तरात्मा उन्हें (पदार्थों को) कैसा मानता है? वैसी आशङ्का का निरशन करके कहते हैं —

दिखते त्रय तन चिह्न को, मूढ़ कहे निजरूप।
ज्ञानी मानें आपको, वचन बिना चिद्रूप॥ ४४॥

अन्वयार्थ - (मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा, (इदं दृश्यमानं) इस दिखायी देनेवाले शरीर को (त्रिलिंगं अवबुध्यते) स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से यह आत्मतत्त्व, त्रिलिङ्गरूप है—ऐसा मानता है किन्तु (अवबुद्धः) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा, (इदं) 'यह आत्मतत्त्व है, वह त्रिलिङ्गरूप नहीं है (तु) परन्तु वह (निष्पन्नं) अनादि संसिद्ध तथा (शब्दवर्जितम्) नामादिक विकल्पों से रहित है' (इति)—ऐसा समझता है।

टीका - दृश्यमान (देखने में आते हुए) शरीरादि को—कैसे (शरीरादि को) ? त्रिलिङ्गरूप अर्थात् स्त्री-पुरुष-नपुंसक—ये तीन लिङ्ग जिसके हैं, वैसे त्रिलिङ्गस्वरूप दिखते (शरीरादि को)। मूढ़ अर्थात् बहिरात्मा, दृश्यमान (शरीरादि के) साथ अभेदरूप (एकरूप) की मान्यता के कारण, इस आत्मतत्त्व को त्रिलिङ्गरूप मानता है परन्तु जो ज्ञानी अन्तरात्मा है, वह यह 'आत्मतत्त्व है, सो त्रिलिङ्गरूप नहीं' — ऐसा मानता है क्योंकि शरीरधर्मपने के कारण, उनका (त्रिलिङ्गपने का) आत्मस्वरूपपने में अभाव है। वह आत्मस्वरूप कैसा है ? वह निष्पन्न अर्थात् अनादि-संसिद्ध है तथा शब्दवर्जित अर्थात् नामादि विकल्पों से अगोचर है।

भावार्थ - बहिरात्मा को शरीरादि के साथ एकताबुद्धि-अभेदबुद्धि होने से, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, इन त्रिलिङ्गरूप शरीर जो दृष्टिगोचर है, उसको आत्मा मानता है परन्तु अन्तरात्मा मानता है कि 'आत्मा तो अनादि-संसिद्ध तथा नामादि विकल्पों से रहित है। स्त्री-पुरुषादि त्रिलिङ्ग, ये शरीर के धर्म हैं अर्थात् पौद्गलिक हैं; वे आत्मस्वरूप में नहीं हैं।'

अज्ञानी जीव को शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं है; वह स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक दृश्यमान शरीर को ही आत्मा मानता है।

सम्यग्दृष्टि को वस्तुस्वरूप का ज्ञान है और शरीर से भिन्न चैतन्यरूप आत्मतत्व की प्रतीति है। इससे वह अपने आत्मा को तद्रूप ही अनुभवता है परन्तु उसको त्रिलिङ्गरूप नहीं अनुभवता; वह तो उसको (आत्मा को) अनादि सिद्ध और निर्विकल्प समझता है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की शरीर सम्बन्धी मान्यता एक-दूसरे से विपरीत है॥४४॥

श्लोक - ४४ पर प्रवचन

जहाँ (जिन पदार्थों में) बहिरात्मा को आत्मबुद्धि हुई, उन्हें वह कैसा मानता है और अन्तरात्मा उन्हें (पदार्थों को) कैसा मानता है ? वैसी आशङ्का का निरशन करके कहते हैं— ४४, ४४ गाथा।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

टीका - दृश्यमान (देखने में आते हुए) शरीरादि को—कैसे (शरीरादि को) ? त्रिलिङ्गरूप... मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ। आहाहा! यह जड़ के लिंग और जड़ के चिह्न। **त्रिलिङ्गरूप अर्थात् स्त्री-पुरुष-नपुंसक—ये तीन लिङ्ग जिसके हैं, वैसे त्रिलिङ्गस्वरूप दिखते (शरीरादि को)। मूढ़ अर्थात् बहिरात्मा, दृश्यमान (शरीरादि के) साथ अभेदरूप (एकरूप) की मान्यता के कारण,...** शरीर के लिंग जो स्त्री, पुरुष और नपुंसक, वह तो इन्द्रिय शरीर के चिह्न हैं। तथापि उसे भगवान आत्मा भासित नहीं हुआ, जो लिंग और चिह्नरहित है। तो उसे ऐसा हुआ कि स्त्री, वह मैं हूँ। यह शरीर का लिंग है न स्त्री का, वह मैं हूँ। पुरुष के चिह्न हैं, वह मैं हूँ। आहाहा! नपुंसक के शरीर के चिह्न हैं, वह मैं हूँ। उसने शरीर को आत्मा माना। बराबर है ? आहाहा!

उसके चिह्न मिले स्त्री के, वह तो जड़ की दशा है। उसे चिह्न मिले पुरुष के, (वह) अजीव की दशा है। उसे नपुंसक-हिंजड़ा की अवस्था के चिह्न मिले, वह तो मिट्टी की अवस्था है। आहाहा! परन्तु इन तीन लिंग से रहित चैतन्यस्वभाव में देख। यहाँ विषय की वासना में उसे यह मैं स्त्री हूँ, यह पुरुष हूँ, (ऐसा भासित होता है)। आहाहा! जो स्वरूप में नहीं है। समझ में आया ? जिस स्वरूप में ये तीन चिह्न और इनके ओर की होनेवाली वासना, वह स्वरूप में है नहीं। परन्तु वह स्वरूप शुद्ध चैतन्य को न जानते हुए, न मानते हुए, यह दृष्टि में न लेते हुए, उसने इन चिह्नों में मैं हूँ, ऐसी दृष्टि की। आहाहा! मूढ़ जड़ को अपना मानता है।

ओहोहो! आचार्यों ने तो ऐसा डाला है कि भाई! शरीर को क्यों अपना मानता है ?

कि उसमें जो चिह्न है न स्त्री-पुरुष-नपुंसक के, उन्हें मैं हूँ, वे मेरे हैं—ऐसा माना है। आहाहा! समझ में आया? उसे असमाधि उत्पन्न होती है। स्त्री का लिंग देह के-जड़ के चिह्न हैं मिट्टी के। आहाहा! पुरुष का लिंग, वह मिट्टी के चिह्न जड़ के-पुद्गल के हैं, उन्हें अपना माना अथवा वह मैं हूँ, ऐसा माना। उसे शरीर की दशा, वही मैं हूँ। भले फिर बाहर से तप और व्रत आदि करता हो। परन्तु यह उसे मिथ्यात्व का शल्य अन्दर पड़ा है, (वह) इसे कुछ सूझ पड़ने नहीं देता।

बहिरात्मा शरीरादि के साथ, दृश्यमान के साथ। यह इसे दिखता है। शरीर के चिह्न से, शरीर से भगवान भिन्न है, वह दिखने में आता नहीं। आहाहा! उसे यह देखने में आते चिह्न हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं, हम हिंजड़ा-पावैया हैं। अरे... प्रभु! तू कहाँ गया? वहाँ कहाँ है? आहाहा! समझ में आया? गहरे में इसे यह शल्य रह जाती है। समझ में आया? आहाहा! व्रत पाले, महाव्रत पाले, ब्रह्मचर्य पाले शरीर से, परन्तु उसकी श्रद्धा में यह है कि हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं। यह उसे मिथ्यात्व का सेवन है। समझ में आया? आहाहा! गजब! कैसी शैली ली!

शरीर को अपना मानता है अर्थात् किस प्रकार से कहते हैं? शरीर को अपना मानता है किस प्रकार? यह उसके लिंग को अपना मानता है इस प्रकार। आहाहा! समझ में आया? बस! इसे यह सूझे। यह स्त्री के अवयवों से स्त्री है, पुरुष के अवयवों से यह पुरुष। दूसरे को देखे तो ऐसा देखे। यह स्त्री के चिह्न हैं, वह स्त्री है; पुरुष के चिह्नवाला, वह पुरुष है। आहाहा! इस प्रकार अपने और पर के शरीर को कैसे मानता है? सेठ! आहाहा! उसकी चीज़ अन्दर जो है, वह तीन लिंग जो देह के (उससे रहित है)। यह तो ३१वीं गाथा में कहा नहीं था पहले? द्रव्येन्द्रिय को इस प्रकार से जरा अलग किया, भाव इन्द्रिय को इस प्रकार से (पृथक्) किया, उसके विषय को इस प्रकार से। यह तो आचार्यों ने तो बहुत बात बहुत सीधी और सरल हो ऐसी की है। भाई! तू शरीर के अवयवों में है तो तेरे अनन्त गुणों के अवयव—समाज रह गये तुझे। आहाहा! क्या कहा नहीं था? सवेरे कुछ कहा था न? समाज, अनन्त गुण का समाज, कुछ कहा नहीं था आहार के समय? अनन्त गुण का समाज, वह समाज मेरा है, यह नहीं माना और इन्द्रिय के (चिह्न) दिखते हैं, देश, पुरुष, स्त्री आदि वह समाज, वह मैं और इस समाज में मैं और यह समाज मेरा। आहाहा!

मुमुक्षु : सपरिवार गाढ़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सपरिवार गाढ़ी। यह कहा था सवेरे। 'समकित साथे सगाई कीधी।' आनन्दघनजी में आता है। 'सपरिवार सु गाढी।' यह आया था सवेरे। आहाहा!

आत्मा का परिवार तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण परिवार है। राग और राग के फल, शरीर, इसके गुण, यह बाहर के साधन, वह कहीं तेरा परिवार नहीं है। यह हमारे इतनी स्त्रियाँ, इतने पुत्र, इतनी पुत्रियाँ, इतने दामाद, इतने मकान, इतने पैसे। वह तो सब जड़ का परिवार है। कहो, सेठ! इतनी मोटरें। 'समकित साथे सगाई कीधी।' शुद्ध चैतन्यमूर्ति के साथ सगाई की। आहाहा! 'सपरिवार सु गाढी' अपनी अनन्त शक्तियाँ जो स्वभाव, वह उसका परिवार है अन्दर। उसके साथ समकित की पर्याय ने सगाई की। स्वरूपचन्दभाई! यह ऐसी बातें हैं।

अरे! अनन्त काल से भटकता है, वह अपनी भूल से भटकता है। इसे कोई कर्म भटकाता है या इसे काल भटकाता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अपनी सत्ता में अस्तित्ववाले जो अनन्त गुण हैं, कितनी संख्या! ओहोहो! आकाश के प्रदेश से भी अनन्त गुना जिसका पूरा समाज है। आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण, उसकी सगाई तोड़कर इसने राग के साथ सगाई की। आहाहा! राग के साथ एकत्वबुद्धि की और निजस्वभाव का परिवार, उसका इसने तिरस्कार किया (कि) यह नहीं। यह (राग) परिवार मेरा। आहाहा!

धर्मी ने निजस्वभाव के परिवार को ही अपना परिवार जाना है। समझ में आया? उसकी तो खबर नहीं होती है कि यह वह कौन? अनन्त समाजरूपी एक आत्मा। यह तो थोड़ी संख्यावाले। क्योंकि गुण हैं, वह तो द्रव्य, उससे काल (अनन्त गुणा), उससे क्षेत्र के प्रदेश अनन्त गुणे, उससे उसका भाव अनन्त गुणा। ओहोहो! ऐसे अनन्त समाज के स्वभाव की जिसे सगाई अर्थात् प्रीति, रुचि, दृष्टि, अनुभव हुआ, उसने पर के परिवार की रुचि छोड़ दी। ऐसा है। क्योंकि परपरिवार उसकी संख्या समाज, गुण की संख्या से, स्व परिवार की संख्या तो अनन्तवें भाग है द्रव्य। समझ में आया? आहाहा!

जैसे तीन काल... वह अपने अनन्त गुण... ओहोहो! जिनकी संख्या अपार।

केवली जिनकी संख्या पूर्ण जान सकते हैं। श्रुतज्ञान में उसका भास हो श्रद्धा में, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं देख सके। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण के समाज का और उस अनन्त शक्ति का वह नाथ स्वयं है, उसका स्वामीपना छोड़कर। आहाहा! वह क्षणमात्र रहता राग और क्षणमात्र पर के साथ सम्बन्ध होने पर क्षण(वर्ती) पर्याय का सम्बन्ध है। उसके सम्बन्ध में जुड़ने से। आहाहा! अनन्त गुण के समाज का सम्बन्ध इसने तोड़ डाला है।

धर्मी ने... आहाहा! यह बहिर्लक्ष्य को छोड़कर... आहाहा! अन्तर्मुख चैतन्य समाज के साथ जिसे प्रीति हुई, उसने यह प्रीति तोड़ डाली। आहाहा! इस वस्तु की खबर नहीं होती और फिर हो गये साधु और हो गये व्रतधारी। सब ऐकड़ा बिना के शून्य हैं। समझ में आया? आहाहा! वह अनन्त शक्ति सम्पन्न प्रभु के साथ सम्बन्ध होने पर वह मोक्षमार्गी हुआ और उसका सम्बन्ध तोड़कर इसने (अज्ञानी ने) व्रत और नियम और तप किये, परन्तु वह संसारमार्गी रहा। बराबर है? भले वह बारह व्रत पालता हो, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालता हो, परन्तु वह संसारी रहा, मिथ्यात्वी। क्योंकि भगवान अनन्त गुण का नाथ प्रभु, उस समाज का स्वीकार इसने किया नहीं और बाहर के समाज में इसे प्रीति हुई, राग से लेकर सब चीज़ों के प्रति, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा संसारमार्गी है और राग से भिन्न पड़कर... आहाहा! अनन्त गुण का समाज का प्रेम और एकता की, वह भले स्त्री हो, उसे विषय हो, छियानवें हजार स्त्रियों के संग में दिखाई दे... आहाहा! परन्तु वह मोक्ष के मार्ग में है। समझ में आया? और जिसे आजीवन स्त्री का त्याग है, तथापि मैंने इसका त्याग किया और राग के भाव को मैंने ग्रहण किया, वह राग के भाव को मैं पालन करूँ, वह मिथ्यादृष्टि संसारमार्ग में चढ़ा है। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई!

परन्तु जो ज्ञानी अन्तरात्मा है, वह यह 'आत्मतत्त्व है, सो त्रिलिङ्गरूप नहीं'... देखो! धर्मी जीव... द्रव्यलिंग तो जड़ के हैं। उन्हें देखकर ऐसा होता है कि यह स्त्री है, यह मैं पुरुष हूँ, ऐसे जो विषय की वासना में जुड़ता है, उसकी दृष्टि तो पर के ऊपर है। धर्मी जीव को सम्यग्दृष्टि को आत्म समाज का प्रेम होने से... देखा! **वह यह 'आत्मतत्त्व है, सो त्रिलिङ्गरूप नहीं'...** यह शरीर के तीन चिह्न स्त्री-पुरुष (नपुंसक) के, उनरूप मैं नहीं। **ऐसा मानता है क्योंकि शरीरधर्मपने के कारण,...** शरीर धर्मपने के कारण से वे आत्मस्वरूप में अभाव है, त्रिलिंग तो शरीर का धर्म है। आहाहा! यह तो समझ में आये ऐसा है।

अकेला शरीर मेरा नहीं, मेरा नहीं, इसका अर्थ क्या? ये तीनों चिह्न हैं, उनके अस्तित्व में मैं नहीं। इससे वह अस्तित्व मेरा है, ऐसा नहीं। इसलिए उसके (शरीर के) अस्तित्व के कारण, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध से जो विषय की वासना होती है, वह तो ऐसा अस्तित्व स्त्री का है, इसलिए मुझे वासना होती है और पुरुष हूँ, इसलिए पुरुष की वासना होती है, ऐसा माननेवाले ने स्वभाव को छोड़ दिया है। और जिसने यह मान्यता छोड़ दी है... आहाहा! उसे अपना स्वभाव स्त्रीलिंग की चेष्टा से भिन्न जानता है; इसलिए उसे स्त्रीलिंग की विषय की वासना एकत्वबुद्धि के प्रेम से नहीं होती! आहाहा! अरे! ऐसी इसके घर की बातें, इसे खबर नहीं। कितना लेख आज आया था। विद्यानन्दजी। ऐसी उनकी भाषा और लोगों को पसन्द ... सब व्यवहार। ऐसा व्यवहार डाला, ऐसा व्यवहार डाला, ऐसा डाला। ओहोहो! अपने तो इतना कहना भी नहीं आवे। बड़े दो पृष्ठ भरकर है। व्यवहार की सब शैली यह। ऐसे देखकर, विश्व के साथ प्रेम चाहिए, फिर सब ऐसा चाहिए। समझे न? सब व्यवहार का पोषक। क्या हो? जगत को...

मुमुक्षु : जगत को प्रिय लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रिय लगे। यह भाषा ऐसी रखी। लोगों को प्रिय लगे। आहाहा! ऐसे मुनि। स्वभाव... बहुत लेख, दो पृष्ठ पूरे। अकेला पर के साथ सम्बन्ध ऐसा रखूँ, वैसा करूँ, किसी के साथ विरोध करना नहीं—उनकी शैली को मिला ले। बहुत... है।

अरे.. भाई! जिसे राग के साथ सम्बन्ध नहीं, जिसे पर के साथ सम्बन्ध नहीं, ऐसी चीज़ के भान बिना उसे पर की प्रीति टूटती नहीं। इसलिए ऐसा वात्सल्य करो, प्रेम करो, सबको समान मानो, किसी को विरोध न मानो। सब सबके धर्म में रहे हुए जीव उन्हें उनमें रहने दो। मानव संप रहे। ऐसे सेठिया भी ऐसे तर्क करते हैं। परन्तु ऐसे सब पढ़े हुए बड़े विद्वान साधु हो न। आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ का मार्ग प्रभु! आहाहा! यहाँ तो राग के साथ भी सम्बन्ध रखता नहीं, वहाँ और पर के साथ कहाँ रहा? आहाहा! प्रभु का मार्ग अलग है भाई तेरा। आहाहा! इस मार्ग में नहीं, मार्ग को मिलावे खोटा, लोगों को अच्छा लगे। बहुत लेख (आया है)। अपने को याद भी न रहे। ऐसा व्यवहार का मिलाया है। ओहोहो! बड़े दो पृष्ठ भरे हैं। जैन गजट में आया था न? ऐई! जैन गजट पढ़ना। आहाहा! भगवान!

यहाँ तो 'सर्व जीव है सिद्धसम' का अर्थ कि सिद्ध और तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वे सब सिद्ध समान आत्मायें हैं। उसे शरीर और रागादि है, वह उसके नहीं हैं, ऐसा तू देख। जैसे तू राग और शरीर के चिह्न रहित है, उन्हें वैसा देख। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना ऐसा देख किस प्रकार सकेगा उन्हें? अपने शरीर के चिह्न और इन्द्रिय के चिह्न, आहाहा! जिसमें उसकी अस्ति का ही अनादि से स्वीकार है। उनकी अस्ति बिना की मेरी अस्ति भिन्न है, अणालेप निर्लेप है। आहाहा! इसका जिसे लेप नहीं इन्द्रियज्ञान के चिह्न का। अरे...! इन्द्रिय के चिह्न तो नहीं, परन्तु उससे वृत्तियाँ उठती हैं... आहाहा! उससे भी मैं तो निर्लेप तत्त्व हूँ। ऐसी निर्लेप तत्त्व की दृष्टि बिना दूसरे के प्रति समभाव... है 'यथा वेर मज्झं न केणई' भाई इसे मिलाया। 'वेर मज्झं न केणई' आता है न? 'खामेमि सव्वे जीवा' उसे मिलाया है भारी। याद आया। परन्तु इसका अर्थ क्या? अभी यह है। ...हों! लोगों को अच्छा लगता है। बहुत दो पृष्ठ भरकर (लेख है)। ओहोहो!

परन्तु यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! इस शरीर के चिह्नों को अपने मानता है कि यह मैं हूँ, ऐसी दृष्टिवन्त तो एकदम मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! फिर साधु हुआ हो तो भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? जिसकी मिथ्या अर्थात् झूठी दृष्टि है। क्योंकि वह ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर के लिंग तीन, वे आत्मा नहीं, वे आत्मा में नहीं और ऐसा आत्मा नहीं, तथापि बाह्य का त्याग करके ऐसा माना कि मैंने तो बाहर का त्याग किया। बाहर का त्याग तो है ही। उसके आत्मा में घुस नहीं गये बाह्य पदार्थ। बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग से तो प्रभु रहित है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु स्थूल दृष्टि से ऐसा लगता है कि आहाहा! इसने स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़े, परिवार छोड़ा। आहाहा! परन्तु शरीर के चिह्नों से मैं हूँ—ऐसी मान्यता जिसकी है, उसने कुछ छोड़ा नहीं। उसने सबको पकड़ा है। आहाहा! बराबर है? आहाहा!

वीतराग का मार्ग, वह तो जगत से निराला है, बापू! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा वे तो कहते हैं... यहाँ लेकर आये देखो न समाधि में। जिसे पुरुषलिंग हूँ, इससे मुझे पुरुष की वासना होती है। मैं स्त्रीलिंग हूँ, इसलिए मुझे स्त्रीलिंग की वासना होती है, यह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ऐसा आत्मा है ही नहीं, भाई! तुझे आत्मा की खबर नहीं।

आहाहा! और हम इस वासना में स्त्री हैं, परन्तु हम पुरुष की इच्छा को निरोध करते हैं। तूने किस प्रकार किया? कि हम स्त्री हैं, इसलिए पुरुष का विषय हमारे नहीं। परन्तु तू स्त्री नहीं। और जिसे तू पुरुष का विषय लेना चाहे, वह पुरुष भी नहीं। आहाहा! सेठ!

ऐसा भिन्न भासन बिना तेरा जितना त्याग है, वह सब मिथ्या त्याग है। क्योंकि राग तथा स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग, वह मैं हूँ। आहाहा! इसलिए मैंने अब ब्रह्मचर्य पालन किया। आहाहा! यह सब मिथ्याभ्रान्ति है, कहते हैं। मैं अर्थात् जिसे स्त्री-पुरुष लिंग जड़ के, उनका और मुझे अत्यन्त अभाव है। पुरुष और स्त्री के (दृष्टान्त से) समाधितन्त्र में ऐसा कहना चाहते हैं। इन लिंगों में वह मैं हूँ, यह फिर असमाधि में ही पड़ा है। भले त्यागी होकर बैठा हो, बालब्रह्मचारी हो। ऐई... स्वरूपचन्दभाई! ऐसी तो वस्तु है, भगवान! आहाहा! क्या सन्तों की कथनी! क्या सन्तों की पर से भिन्न कराने की पद्धति! आहाहा!

जहाँ तू है, जैसा तू है, उसमें यह स्त्री के लिंगों का अत्यन्त अभाव है। आहाहा! अत्यन्त अभाव को तू मेरा (है, ऐसा) मानता है। आहाहा! यह भूल है। जिसे... यह तो क्या है, उसकी महिमा की खबर पड़ती नहीं। आहाहा! देखो न! पूज्यपादस्वामी दिगम्बर आचार्य... आहाहा! मिथ्यात्व और समकित के लक्षणों को वर्णन करते हुए किस प्रकार वर्णन किया! आहाहा!

मुमुक्षु : बहिरात्मा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहिरात्मा है।

मैं पुरुष हूँ, इसलिए मुझे पुरुष की वासना आवे ही। आहाहा! मैं स्त्री हूँ, इसलिए स्त्री की वासना आवे। अरे... भगवान! तू कहाँ था स्त्री और पुरुष? ऐसी वासना आवे, ऐसा कहा था? आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को इन तीनों लिंग से निराला आत्मा... ऐसा है न? देखो न!

वह यह 'आत्मतत्त्व है, सो त्रिलिङ्गरूप नहीं' — ऐसा मानता है क्योंकि शरीरधर्मपने के कारण, उनका (त्रिलिङ्गपने का) आत्मस्वरूपपने में अभाव है। आहाहा! मान्यता में बड़ा अन्तर है। पर के लिंग से ही मैं, देह के चिह्न हैं इतना और वह मैं (ऐसा माने), यह मिथ्यादृष्टि चाहे तो साधु हुआ हो, हजारों रानी को छोड़कर त्यागी

हुआ हो, करोड़ों की आमदनी छोड़कर साधु हुआ हो, तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

वह आत्मस्वरूप कैसा है? वह निष्पन्न अर्थात् अनादि-संसिद्ध है तथा शब्दवर्जित अर्थात्... आहाहा! कहते हैं कि तीन के लिंग से तो रहित हूँ, परन्तु ऐसा हूँ, ऐसे विकल्प और शब्द से भी रहित हूँ। आहाहा! समझ में आया? भाई! इसका मार्ग अलौकिक है। इसका फल भी अलौकिक है न! वापस यह रखा देखो! '**शब्दवर्जितं**' अर्थात् स्त्री हूँ, ऐसा शब्द भी जिसमें नहीं। आहाहा! मैं पुरुष हूँ, ऐसा शब्द भी जिसमें नहीं। आहाहा! कैसा वीतराग का मार्ग! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने इस प्रकार से वर्णन किया, सन्त इस प्रकार से जगत को प्रसिद्ध करते हैं।

भाई! तू आत्मा है। उस आत्मा में इन लिंगों के चिह्न, वे सब जड़ के निशान। उन्हें जड़ के निशान से आत्मा को पहिचानना कि यह स्त्रीलिंगवाला आत्मा, यह पुरुषलिंगवाला आत्मा, यह हिंजड़ावाला पावैया आत्मा। आहाहा! और उसके शब्द करना, होना। आहाहा! मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, मैं स्त्री नहीं—ऐसा शब्द होना। आहाहा! ऐसे शब्द से प्रभु रहित है। समझ में आया? आहाहा! स्वरूपचन्दभाई! सब वहाँ सूरत में कहाँ सुना था? कभी सुना था? सूरत-सूरत रहते हैं न? कहाँ? मुम्बई?

मुमुक्षु : पालडी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ? पालडी... पालडी... मुम्बई रहते हैं। पालडी हम गये थे एक बार। अपने नहीं? उस ब्राह्मण के मकान में उतरे थे, वह न? पालडी गये थे अपने। उस ब्राह्मण के ऊपर उतरे थे। ब्राह्मण के कमरे पर उतरे थे। गये थे, एक रात्रि रहे थे। डोली में पहले-वहेले आये न जब (संवत्) २०१३ में मुम्बई। डोली में तब गये थे। देखा था। वहाँ आहार किया था। लोग सुनने आये थे। ब्राह्मण का मकान था मंजिलबद्ध। उस ओर जरा। मंजिल की सीढ़ियाँ बाहर है। १३ के वर्ष। १८ वर्ष हुए। पहले मुम्बई आये तब। परन्तु हमारे बहुत कल जैसा दिखता है न! आहाहा! और उस धर्मशाला में कहीं भोजन था। अपने आहार। साथ में था न आहार। वहाँ गाँव में तो कहाँ घर थे? आहाहा!

यह सब शरीर की चेष्टाएँ... आहाहा! और शरीर के धर्म की प्रवृत्तियाँ, वह मैं हूँ,

वह मुझमें से होती है। आहाहा! उसने शरीर को ही आत्मा माना है, कहते हैं। यह दया पालता है तो शरीर के सदुपयोग से पलती है। शरीर को, जीव को ऐसा रखता हूँ, इससे जीव मरता नहीं तो मैंने दया पालन की है। वह शरीर की क्रिया का स्वामी—मालिक होता है। वह जड़ को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग! अनादि प्रसिद्ध है।

अनादि भगवान स्वयं हूँ। शरीर के चिह्न तो कृत्रिम, क्षणिक, जड़ की दशा है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। स्वयं भगवान तो अनादि सिद्ध वस्तु है। स्वयंसिद्ध आनन्द का नाथ ज्ञानस्वरूप का भण्डार, उसे तू इस प्रकार से मान, भाई! कैसे पोसाये तेरे तत्त्व को? समझ में आया?

भावार्थ - बहिरात्मा को शरीरादि के साथ एकताबुद्धि- शरीर के लिंग, वह मैं हूँ—ऐसी एकताबुद्धि है। **अभेदबुद्धि होने से,...** शरीर के लिंगों के साथ और चेष्टा के साथ एकताबुद्धि होने से, **स्त्री-पुरुष-नपुंसक, इन त्रिलिङ्गरूप शरीर जो दृष्टिगोचर है,...** तीन लिंगवाला शरीर इसे दृष्टि में आता है। भगवान तो दृष्टि में आता नहीं। आहाहा! **उसको आत्मा मानता है परन्तु अन्तरात्मा मानता है कि 'आत्मा तो अनादि-संसिद्ध...** सम्यक्सिद्ध अनादि से वस्तु चिदानन्द प्रभु है। **नामादि विकल्पों से रहित है।** देखा! उसके नाम से, विकल्प से रहित है। नाम से तो रहित है परन्तु नामादि के विकल्प से भी रहित है। आहाहा! मेरा ऐसा भाषण, मैं ऐसा व्याख्यान कर सकता हूँ, सभा को रंजन करूँ, वह सब जड़ की मान्यता है। आहाहा! समझ में आया?

भाषा को कहीं शरीर के अवयव कहा है। भाषा को। है भाषा अलग, परन्तु उसे अवयव कहा है। आता है मोक्षमार्गप्रकाशक में। मोक्षमार्गप्रकाशक में। खबर है। भाषा को शरीर का अवयव कहा है, भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक। अवयव होवे न, वैसे भाषा को अवयव कहा है। जड़ का अंश है न, इसलिए ऐसा कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। आहाहा! तो यह शरीर के अवयव जो भाषा, वह मैं बोलता हूँ और वह मेरी भाषा है, और उस भाषा से जगत को रंजन होता है। वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? वरना तो शरीर है, वह औदारिक है (और यह भाषा) भाषावर्गणा है। यह पढ़ा, तब ख्याल था। तो भी उन्होंने ऐसा डाला। भाषा को शरीर का अवयव (कहा) है। शरीर का एक अंग

है, जड़ का, ऐसा। वरना तो भाषावर्गणा है, वह अलग है। औदारिक ऐसी है, तथापि वहाँ पुद्गल की अपेक्षा लेकर... यह खबर है।

स्त्री-पुरुषादि त्रिलिङ्ग, ये शरीर के धर्म हैं... यह शरीर का धर्म अर्थात् शरीर का स्वभाव है। उस शरीर के अस्तित्व में, मौजूदगी में तीन लिंग हैं। भगवान आत्मा की अस्ति में वे हैं नहीं। आहाहा! **अर्थात् पौद्गलिक हैं;...** वह तो पुद्गल है, वह तो अजीव है। इसे ऐसा ही हो गया। आँखें बहुत अच्छी बड़ी हो तो कहता है मैं बड़ी आँखवाला हूँ। कान बड़े कुण्डल जैसे हों तो कहता है ऐसे कानवाला मैं हूँ। आहाहा! कण्ठ की ध्वनि घुघरी की भाँति घुंघरु बजे, ऐसा कण्ठ बोलता हो अन्दर से (तो) कहो, वह कण्ठवाला मैं हूँ। आहाहा मधुर ध्वनिवाला मैं हूँ। कहीं पत्र में बहुत आता है, अमुक मधुर ध्वनिवाला है, अमुक ऐसा है। अमुक मुनि गिरीशमुनि ऐसे ध्वनिवाले हैं, ऐसा बहुत आता है। गोंडल संघाडा के हैं न एक। बाहर गये हैं। अरे... भगवान! कौन ध्वनि, बापू! वह ध्वनि जड़ है न? इस शरीर का ही वह भाग है। आहाहा! भाषा की स्थिति में... देखो, इसकी लीनता वहाँ जाये। नहीं? सुनने में ध्यान नहीं इनका। सब चेष्टा में बहुत अन्तर है जरा। उसमें जाये। सुनने में ध्यान नहीं। लाईन में बहुत अन्तर है। दोपहर में इस चेष्टा पर था। ध्यान नहीं। समझ में आया? आहाहा!

शरीर के धर्म हैं अर्थात् पौद्गलिक हैं;... आहाहा! **वे आत्मस्वरूप में नहीं हैं।** आहाहा! ऐसा हो गया न कि हमने तो यह सुना है। दो बार बैठते हैं यों हीं। कुछ न कुछ कान में पड़े तो सुनते हैं। नहीं तो कुछ नहीं। आहाहा! अरे.. भगवान! बापू! इसमें बड़ा अन्तर है। आहाहा! **अज्ञानी जीव को शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं है;...** भगवान आत्मा चैतन्य राग से, शरीर की चेष्टा से और शरीर की चेष्टा के लक्ष्य से जो विकल्प उठे, वह मैं नहीं। ऐसी आत्मप्रतीति की जिसे खबर नहीं। आहाहा! **वह स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक दृश्यमान शरीर को ही आत्मा मानता है।** स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप त्रिलिंगस्वरूप दृश्यमान शरीर को ही आत्मा मानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा अच्छा स्पष्ट किया है भाई ने। इससे सम्बन्धित बात।

सम्यग्दृष्टि को वस्तुस्वरूप का ज्ञान है... वस्तुस्वरूप का ज्ञान है। **और शरीर से**

भिन्न चैतन्यरूप आत्मतत्व की प्रतीति है। आहाहा! चैतन्यरूप आत्मतत्त्व, ऐसा। बोलनेवाला और शरीर की चेष्टावाला, वह नहीं। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। जाननेवाला-देखनेवाला स्वरूप से भगवान है। वह कोई रागरूप, शरीर की चेष्टारूप नहीं है। आहाहा! इसे कितना पृथक् करना पड़े, तब यह मिले। आहाहा!

इससे वह अपने आत्मा को तद्रूप ही अनुभवता है... अपना स्वरूप ज्ञान और आनन्द, इससे उस चैतन्य आत्मतत्त्व की प्रतीति करके उसरूप अनुभव करता है, ऐसा। ... वस्तुस्वरूप ज्ञान है, ऐसा लिया; फिर भिन्न आत्मतत्त्व की प्रतीति, ऐसा लिया; फिर इससे वह अपने आत्मस्वरूप को अनुभव करता है, ऐसे तीनों लिये। समझ में आया? भगवान आत्मा राग और शरीर और भाषा की चेष्टा से भिन्न जाना, ऐसी चैतन्यरूप आत्मतत्त्व की प्रतीति की है और अपने आत्मा को उसरूप अनुभव करता है।

परन्तु उसको त्रिलिङ्गरूप नहीं अनुभवता;... चेष्टा की वासना का अनुभव उसे है नहीं। **वह तो उसको (आत्मा को) अनादि सिद्ध और निर्विकल्प समझता है।** लो! **इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की शरीर सम्बन्धी मान्यता एक-दूसरे से विपरीत है।** ४५वाँ लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ४५

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहं मित्यादिरूपं, तस्य कदाचितभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह -

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति॥ ४५॥

आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि। तथा विविक्तं शरीरादिभ्योभिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये। भूयोऽपि पुनरपि। भ्रान्तिं गच्छति। कस्मात्? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात्॥४५॥

यदि अन्तरात्मा ही आत्मा का अनुभव करता है तो फिर 'मैं पुरुष, मैं गोरा' इत्यादि अभेदरूप भ्रान्ति उसको कदाचित् क्यों होती है? — ऐसा बोलनेवाले के प्रति कहते है —

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न।
पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्राँति में खिन्न॥ ४५॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा, (आत्मनः तत्त्वं) अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्तं भावयन् अपि) और शरीरादि अन्य पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी, (पूर्वविभ्रमसंस्कारात्) पहली बहिरात्मावस्था में होनेवाली भ्रान्ति के संस्कारवश, (भूयोऽपि) पुनरपि (भ्रांतिं गच्छति) भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

टीका - आत्मा का तत्त्व अर्थात् स्वरूप जानने पर भी तथा उसको विविक्त अर्थात् शरीरादि से भिन्न भाता होने पर भी, (दोनों जगह 'अपि' शब्द परस्पर समुच्चय के अर्थ में है), फिर से भी—पुनः अपि वह (अन्तरात्मा) भ्रान्ति को प्राप्त होता है। किससे (भ्रान्ति को प्राप्त होता है)? पूर्व विभ्रम के संस्कारों से अर्थात् पूर्व विभ्रम / बहिरात्मावस्था में शरीरादि को अपना आत्मा माननेरूप विपर्यास (विभ्रम), उससे हुआ संस्कार-वासना, उसके कारण (वह पुनः भ्रान्ति को प्राप्त होता है)।

भावार्थ - अन्तरात्मा, आत्मतत्त्व को देह से भिन्न जानता है तथा उसकी वैसी भावना भी करता है—ऐसा होने पर भी, पूर्व में अर्थात् बहिरात्मावस्था में शरीरादि को आत्मा माननेरूप भ्रान्ति से उत्पन्न हुए संस्कार के कारण, उसको सम्यक्श्रद्धा रहने पर भी, चारित्रदोषरूप भ्रान्ति होती है। उस चारित्रदोष का अभाव कैसे करना ?— यह बात आगे के श्लोक में बतायेंगे।

आत्मज्ञानी, अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानता है और उसको शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न अनुभव भी करता है, तो भी पूर्व के लम्बे समय के संस्कारों का सर्वथा अभाव नहीं होने से, उसको किसी समय अस्थिरता के कारण, बाह्यपदार्थों में भ्रम हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

(भले ही) धर्मी को अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाएँ, परन्तु उसको श्रद्धा-ज्ञान में उनका स्वामीपना नहीं है-एकत्वबुद्धि नहीं है। श्रद्धा-ज्ञान के बल से और भेदज्ञान की भावना से, वह पूर्व के संस्कारों को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील होता है। यदि वह श्रद्धा-ज्ञान में राग-द्वेष को भला माने, तो वह पुनः बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि हो जाए।

अविरत सम्यग्दृष्टि को अन्दर ज्ञानचेतना का परिणमन है, तो भी अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाते हैं, इससे उसको ज्ञानचेतना के साथ कदाचित् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया है परन्तु वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ज्ञाता-दृष्टा रहता है। वास्तव में वे दोनों चेतनाएँ, ज्ञानचेतना ही हैं।[१]

अन्तरात्मा को पूर्व के संस्कारों के कारण, निचली भूमिका में जो भ्रान्ति होती है, वह मिथ्यात्वजनित नहीं, परन्तु अस्थिरताजनित है; इसलिए उसको राग-द्वेष होने पर भी, उसके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं आता॥४५॥

---

१. श्री पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध), गाथा-२०५, २७६, ८१९

पौष कृष्ण १०, बुधवार, दिनांक ०५-२-१९७५, श्लोक-४५, प्रवचन-५७

४५ गाथा। **यदि अन्तरात्मा ही आत्मा का अनुभव करता है...** अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव। जिसे आत्मा अनुभव में आया है कि यह आत्मा शुद्ध है, चैतन्य है, आनन्द है, ऐसा अन्तरात्मा (आत्मा को) अनुभव करता है। **तो फिर 'मैं पुरुष, मैं गोरा'...** और उसे ऐसा क्यों हो जाता है किसी समय? कि मैं पुरुष हूँ, मैं श्वेत हूँ। गोरा-गोरा। **इत्यादि अभेदरूप भ्रान्ति उसको कदाचित् क्यों होती है?** ऐसा प्रश्न किया है। उसका स्वयं का स्वयं उत्तर और प्रश्न किया है।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति॥ ४५॥

दो '**अपि**' डाले हैं। '**जानन् अपि**' और '**विविक्तं भावयन् अपि**'

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न।
पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्राँति में खिन्न॥४५॥

इसका श्लोक है।

इसकी **टीका - आत्मा का तत्त्व अर्थात् स्वरूप जानने पर भी...** आत्मा आनन्द और शुद्ध चैतन्य है, ऐसा अनुभव में आने पर भी। अपूर्व दर्शन हुआ होने पर भी, ऐसा कहते हैं। नहीं हुआ, वह तो मानता है (कि) मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ। वह तो अज्ञान संस्कार है। क्योंकि पुरुष और स्त्री तो जड़ की दशा है। यह शरीर के अवयव यह स्त्री के लिंग और पुरुष के चिह्न, वे तो सब जड़ के आकार और जड़ के लक्षण हैं। आहाहा! उनसे आत्मा भिन्न है, वह पुरुषस्वरूप नहीं, स्त्रीस्वरूप भी नहीं तथा स्त्री-पुरुष की ओर के झुकाववाला जो विकार, उस विकारस्वरूप भी आत्मा नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा का पर से भिन्नपना भासित होने पर भी। एक बात।

उसको विविक्त अर्थात् शरीरादि से भिन्न भाता होने पर भी,... जानने पर भी और भाता होने पर भी, ऐसी दो बातें की हैं। समझ में आया? चैतन्यस्वभाव आत्मस्वरूप चैतन्यस्वरूप, वह तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, ऐसा जानने पर भी। (यह) अस्ति। और शरीर

तथा राग से भिन्न भाने पर भी। आहाहा! शरीर और राग से भगवान चैतन्य शुद्धस्वरूप भिन्न भाने पर भी **(दोनों जगह 'अपि' शब्द परस्पर समुच्चय के अर्थ में है),...** अर्थात् ऐसा करने पर भी, ऐसा।

फिर से भी—पुनः अपि वह (अन्तरात्मा) भ्रान्ति को प्राप्त होता है। और भ्रमणा हो जाती है उसे भूलकर। आहाहा! ज्ञानस्वरूप और पर से भिन्न आनन्दस्वरूप, यह अस्ति। तथा राग और शरीर से भिन्न, उनसे नास्ति। आहाहा! ऐसे आत्मा के स्वरूप को जानने पर भी और भिन्न भाने पर भी। उसकी बात ली है। फिर से उसे कैसे हो जाता है? और मैं पुरुष हूँ और गोरा हूँ, मैं रूपवान हूँ, मेरी शरीर की आकृति दूसरों की अपेक्षा सुन्दर है, और ऐसा भ्रम वापस क्यों हो जाता है? आहाहा!

किससे (भ्रान्ति को प्राप्त होता है)? पूर्व विभ्रम के संस्कारों से... ऐसा। पूर्व का अनन्त काल से शरीर मैं, शरीर के वर्ण और आकार वह मैं—ऐसी जो अनादि से भावना भ्रान्ति की की हुई, वह और भ्रान्ति में आ जाये। वह भी भूल जाता है। धीरुभाई! बहुत सूक्ष्म बातें। धर्म को समझा नहीं, तो इस शरीर के चिह्न और शरीर के लिंग, ऐसा एक अस्तित्व मैं हूँ - ऐसा मानता है। आहाहा! अज्ञानपने के कारण स्वरूप के अन्तर में भिन्नता के भान बिना और भिन्नता भी स्वरूप के आनन्दसहितवाली दशा, वह आत्मा की है। ऐसा जिसे भान नहीं, वह तो जो स्त्री-पुरुष के लिंग, वह मैं स्त्री हूँ, मैं स्त्री हूँ, भाई! मैं तो एक पुरुष हूँ। पुरुष के वेशवाला आकार, वही मैं हूँ। ऐसा अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि भ्रम में भूलकर अनादि से ऐसा मानता है। परन्तु यह मान्यता उसे चौरासी के अवतार का कारण है। आहाहा!

परन्तु कहते हैं कि जिसे आत्मा चैतन्यस्वरूप है, पर से भिन्न है—ऐसी भावना और जाननेपने का भाव होने पर भी, कोई भी ज्ञानी भी उसमें भ्रान्ति में आ जाता है। ऐसा झट दिखता है, कहते हैं। वह भ्रान्ति पूर्वविभ्रम के संस्कार से है। आहाहा! जो पहले संस्कार थे न कि मैं तो शरीर हूँ, मैं तो पुरुष हूँ। वह तो जड़ की क्रिया है, वह तो जड़ की दशा है और उस जड़ के अवयव, उन पर अपना अस्तित्व मानकर, अपना स्वरूप जो राग से (भिन्न) और स्वभाव से अभिन्न और राग से भिन्न, उसकी इसे खबर नहीं पड़ती। आहाहा! यह शरीर, उसकी इन्द्रियाँ, उसके आकार, उसमें इसकी अनादि से दृष्टि होने से अज्ञानरूप

से अपने स्वरूप को भूल जाता है। परन्तु भानवाला कैसे भूले ? ऐसा कहते हैं।

भान हुआ है कि मैं एक आत्मा ज्ञानस्वरूपी चैतन्य की मेरी जाति है। मेरी जाति में राग और अजीव की जाति नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप का भान और पर से भिन्न की भावना (हुई है), उसे फिर से ऐसा कैसे होता है ? वह पूर्व के संस्कार... भाई! कहे थे न ? आहाहा! इसलिए उसे वापस ऐसा हो जाता है, भाई! हम पुरुष हैं, हम वीर्यवान हैं। स्त्री कहे, हम स्त्री हैं। हमारा वीर्य मन्द है। ऐसी दशा के संस्कार जो पूर्व में थे, वे वापस स्फुरित हुए, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : अभिप्राय में से तो भ्रान्ति गयी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिप्राय में से गयी, तथापि वापिस आयी, ऐसा कहते हैं। फिर से आयी।

मुमुक्षु : भ्रान्ति हो उसमें अन्तर....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह भ्रान्ति हुई। अन्तर अभी कुछ नहीं। हुई तब जो अनादि की है वह। भले अन्दर अन्तर पड़ा परन्तु इसे कहाँ भान है (कि) अन्तर है। भ्रान्ति हुई उसे वापस यह हुआ कि मैं तो स्त्री के वेश के लिंगवाला यह तत्त्व और इस पुरुष के आकार का तत्त्व, वह मैं हूँ—ऐसा इसे अनादि के संस्कार और स्फुरित हो जाते हैं। आहाहा! समझ में आया ? वह यह सावधानी के लिये कहते हैं। ऐसी भ्रान्ति फिर से हो, वह न हो; इसलिए यह बात ली है। आहाहा! हम पुरुष हैं, हम स्त्री हैं। वह पावैया हिंजड़ा (मानता है कि) हम नपुंसक हैं। ऐसी जो चेष्टा में जो उसे भान हो जाता है और भानवाले को भी ऐसी स्फुरणा हो जाती है। भान भूल जाता है।

मुमुक्षु : अर्थात् वापस मिथ्यादृष्टि हो जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

मुमुक्षु : चारित्र की निर्बलता के कारण ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। मिथ्या दृष्टि के कारण। चारित्र की निर्बलता में तो आसक्ति का भाव आता है, परन्तु मैं यह हूँ—ऐसा भाव उसमें नहीं आता। चारित्र का दोष

तो समकिती को-क्षायिक समकिती को (भी) होता है। जिसे आत्मा चैतन्यमूर्ति दृष्टि में तैरता है, उसे भी स्त्री सम्बन्धी, पुरुष सम्बन्धी का राग आता है, परन्तु वह तो निर्बलता का दोष है, वह जानता है कि यह तो दोष है। यह विषय की वासना आवे, परन्तु उसमें उसे दुःख लगता है। दुःख लगता है। उसे मिठास उड़ गयी है। आहाहा! अज्ञानी को विषयवासना और शरीर की सुन्दरता के लक्ष्य से जो मिठास आती है, वह मिठास ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? बहुत यह तो अन्तर के अभिप्राय की बातें हैं। बाहर में तो साधुपना जो हो, ऐसी क्रिया करता हो। परन्तु अन्तर के अभिप्राय में संस्कार स्फुरित हुए हों, भूल जाता है। आहाहा!

यह श्वेताम्बर में दूसरी बात ली है भगवती में। ऐसा कि पहले यह अहिंसा धर्म मानता था। भगवती में है। वह सब बाहर की बातें हैं। यह अन्तर की (बातें हैं)। अहिंसा को धर्म मानता था, वह और वापस हिंसा में, पर में कुछ है, ऐसा मानता है तो दृष्टि बदल जाती है। ऐसा है भगवती के शुरुआत में। वह अलग वस्तु। समझ में आया?

स्वयं आनन्द और ज्ञानस्वरूपी है। वह 'ज्ञ' स्वभावी वस्तु है। सर्वज्ञस्वभावी है। पूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु है, सर्वज्ञस्वभावी वस्तु भगवान आत्मा है। ऐसा अन्तर में भान होने पर उसे राग और पर और अल्पज्ञपने से मेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! यह सूक्ष्म बात है, भाई! यह कहीं बाहर से मिले, ऐसा नहीं है। समझ में आया? वह देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो, तथापि वह अज्ञान (होने से) अज्ञान में भूल जाता है कि यह देव-गुरु-शास्त्र को मानता हूँ, वह राग है और राग के संस्कार से मुझे लाभ होगा, ऐसा मानता है अज्ञानी। धीरुभाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : बात बात में भूल गया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भूल गया। यह बताते हैं कि भूल मत बापू तू! आहाहा! अभी तो (अनादि से) भूला है, वह गया नहीं, उसकी तो बात क्या करना, कहते हैं। परन्तु भूल गई और वापस संस्कार उठे, भ्रम हो गया। आहाहा! हम पुरुष हैं, हम स्त्री हैं। आहाहा!

एक राजा को उसकी रानी कहती थी। राजा, रानी को कुछ उलहाना देता था। नाम नहीं देते। हमको खबर है। राजा, रानी को उलहाना देता था। तो रानी कहती है, दरबार!

हम जमींदार की लड़की हैं, हों! हमें छेड़ना नहीं। बाहर में तो ऐसा लगे कि यह तो ओहोहो! पति-पत्नी को क्या है। अन्दर में घोटाला हो। कहो, सेठ! हम जमींदार की लड़की हैं। क्षत्राणी हैं। हमको इस प्रकार तुम पजवशो और दबायोगे (तो नहीं चलेगा)। हम नागिन हैं। सेठ! आहाहा! अरे... भगवान! तू कहाँ स्त्री? कहाँ शरीर? कहाँ नागिन? भाई! परन्तु उसे अन्दर पावर आ जाता है। राजा भी दब गया अन्दर। क्या कहना किसे यह? घर की स्त्री ऐसा बोले अन्दर में। उसे मार डालना? या यह करना क्या इसमें? बाहर से तो फिर स्त्री जैसा प्रेम बतावे, अन्दर में प्रेम उड़ गया है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार धर्मी जीव को... आहाहा! शरीर की क्रियायें और शरीर के आकार, इन सब चीज़ों से जिसका अस्तित्व उड़ गया है, उसमें से। उनमें मैं नहीं। मैं जहाँ हूँ, वहाँ (वे नहीं)। उसमें लिया, भाई अलिंगग्रहण में! द्रव्य-भाव वेदरहित। द्रव्य भाव वेदरहित मेरा स्वरूप है। अलिंगग्रहण। १२, १५, १६। १६वाँ है। १६वाँ बोल है। द्रव्य-भाव वेदरहित मेरा स्वरूप है। द्रव्य-भाव। यह लिंग द्रव्य के ऐसे चिह्न और अन्दर स्त्री-पुरुष की वासना (आवे), वह भाववेद है। आहाहा! अलिंगग्रहण में २० बोल लिये हैं। पुस्तक बाहर प्रकाशित हो गयी है। भाई ने प्रकाशित किया है। अमृतलाल। अमृतलालभाई ने। अलिंगग्रहण। देह छूट गया न? वांकानेरवाले नहीं? अपने मकान है न स्वाध्यायमन्दिर के पीछे। यह उन्होंने प्रकाशित किया है। अलिंगग्रहण। बहुत समय हुआ। (संवत्) २०१३ में तो गुजर गये, नहीं? २०१३ में गुजर गये। १८ वर्ष हुए। उसके पहले प्रकाशित किया था। उसमें यह बोल है।

भगवान आत्मा... एक तो यह आया था कि मेरा स्वरूप... अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! और दूसरे अनुमान से मुझे जाने, ऐसा मैं नहीं हूँ तथा मैं अनुमान से जानूँ, ऐसा मैं नहीं हूँ। आहाहा! इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा मैं नहीं और इन्द्रिय से जाने, वह मैं नहीं। क्या कहा, समझ में आया? ... और भाव इन्द्रिय अर्थात् एक-एक शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को जानने के ज्ञान की एक उघाड़ दशा, एक-एक विषय को जानने का विकास, वह भाव इन्द्रिय। यह जड़ आकार है, वह द्रव्य इन्द्रिय। यह द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय से मैं जानता हूँ, ऐसा मैं नहीं हूँ। तथा द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय से जाने

ऐसा भी नहीं हूँ। आहाहा! यह तो अलौकिक बातें हैं, धीरुभाई! यह मार्ग अलग बापू! तेरी आनन्द की कला और ज्ञानकला कोई अलग प्रकार है। उसमें उसने कभी ध्यान दिया नहीं। मेरा स्वभाव अनुमान से मैं जानूँ, ऐसा मेरा स्वभाव ही नहीं। आहाहा!

इन्द्रियाँ और भाव इन्द्रिय और जड़ से जानूँ, ऐसा तो मैं नहीं। आहाहा! परन्तु अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा मैं नहीं और अनुमान से जाननेवाला, वह मैं नहीं। आहाहा! यह तो चैतन्य बादशाह की बड़ी बातें हैं, भाई! उसकी इसे खबर नहीं होती। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय, वह मैं नहीं। यह इन्द्रियाँ जड़ और भाव, उनसे मैं ज्ञात होऊँ—ऐसी वह वस्तु नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! तथा द्रव्य और भाव जो वेदना, वह जड़ के आकार, जड़ इन्द्रिय के आकार शरीर के, उस द्रव्यवेदरूप से मैं नहीं। तथा उसमें विषय की वासना जो स्त्री को पुरुष की और पुरुष को स्त्री की होती है, उस भाववेद रहित मैं हूँ। इसका नाम अलिंगग्रहण है। ऐसे लिंगों द्वारा मैं ज्ञात होऊँ, ऐसा मैं नहीं। आहाहा!

तब मैं कैसा हूँ? मेरे स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ। आहाहा! समझ में आया? २० बोल हैं, उनमें यह छठवाँ बोल है। आहाहा! मेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन आनन्द का नाथ, ऐसी जो मेरी स्वभावदशा, उससे ज्ञात होता है। जानता हूँ और वह भी स्व के आश्रय से। पर के आश्रय बिना ज्ञात हो, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? भाई! आत्मज्ञान वह तो कोई अलौकिक चीज़ है। वह कहीं शास्त्र के ज्ञान से मिले, ऐसी नहीं है। आहाहा!

यहाँ तक तो अन्दर आया कि जहाँ केवलज्ञान की पर्याय है जीव को, वह भी एक सद्भूत व्यवहार आत्मा है। वह निश्चय नहीं। आहाहा! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय जो तीन काल-तीन लोक को जानती है... आहाहा! ऐसी एक समय की जो दशा, वह पूर्ण आत्मा नहीं। वह तो व्यवहार आत्मा है। आहाहा! उपचारिक आत्मा है। ऐई! यह भगवान आत्मा तो ऐसी केवलज्ञान की पर्याय की अनन्त पर्यायों का पिण्ड पड़ा है यह तो। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा शुद्धरूप से जब ज्ञात हुआ, तब कहते हैं कि जिसे पर की अपेक्षा और आश्रय नहीं है, ऐसा ज्ञात हुआ, उसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहने में आता है। यह जानकर भी वापस भ्रम में पड़ा, ऐसा कहते हैं। है न?

पूर्व विभ्रम के संस्कारों से अर्थात् पूर्व विभ्रम / बहिरात्मावस्था में... शरीर और उसके आकारों को, वेद को अपना माना था न ? उसके संस्कार और फिर से स्फुरित हुए, कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? **अपना आत्मा माननेरूप विपर्यास (विभ्रम), उससे हुआ संस्कार-वासना,...** यह वासना भूतकाल की थी, वह वापस आयी। यह वासना भूतड़ी। आहाहा ! भूतनाथ-त्रिकालनाथ को भूल गया यह। वासना ने दिखाव दिया। मैं तो शरीर और इन्द्रियों के संस्कारवाला हूँ। आहाहा ! ऐसी विभ्रमदशा अज्ञानी को भान हुए जीव वापस भ्रम में पड़े, तब यह दशा हो जाती है। समझ में आया ? आहाहा ! **उसके कारण (वह पुनः भ्रान्ति को प्राप्त होता है)।**

भावार्थ - अन्तरात्मा, आत्मतत्त्व को देह से भिन्न जानता है... देह के जो आकार हैं, इन्द्रियों के, वे सब जड़ के आकार हैं। उनसे मैं भिन्न हूँ, ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा ! पुरुष का लिंग है, इसलिए मुझे विकार होता है—ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा ! यह पुरुष का लिंग ही मैं नहीं न ! आहाहा ! वह तो जड़ है। वह तो पुद्गल के आकार की सब चेष्टायें हैं। उनसे तो मैं भिन्न हूँ। आहाहा ! समझ में आया ?

तथा उसकी वैसी भावना भी करता है... और अन्दर में एकाग्रता पर से भिन्न करके धर्मात्मा—अन्तरात्मा अपने को भाता है। **ऐसा होने पर भी, पूर्व में अर्थात् बहिरात्मावस्था में शरीरादि को आत्मा माननेरूप भ्रान्ति से उत्पन्न हुए संस्कार के कारण,...** आहाहा ! सम्यग्दर्शन का पावर हट गया। मिथ्या संस्कार की गन्ध अन्दर से आयी। आहाहा ! समझ में आया ? वह कोई कर्म के कारण आयी, ऐसा नहीं है। पूर्व में संस्कार ऐसे किये थे, उसे दबाया था। वापस स्फुरित हुई, अपनी ही कल्पना वापस स्फुरित हुई। अरेरे ! उसे आत्मा क्या चीज़ है ? मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ ? इसकी उसने दरकार ही नहीं की। आहाहा ! और दरकार नहीं की, इसलिए वह संस्कार आत्मा की दरकार की हो और उसे फिर वे संस्कार उद्भव आ जाये। आहाहा ! समझ में आया ?

उसको सम्यक्श्रद्धा रहने पर भी,... यहाँ तो यह कहते हैं। **चारित्रदोषरूप भ्रान्ति होती है।** ऐसा नहीं यहाँ। यहाँ तो दोनों हैं। **चारित्रदोष का अभाव कैसे करना ?— यह बात आगे के श्लोक में बतायेंगे।** परन्तु इस भ्रान्ति में यह चारित्रदोष की बात नहीं है। समझ में आया ?

आत्मज्ञानी, अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानता है और उसको शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न अनुभव भी करता है, तो भी पूर्व के लम्बे समय के संस्कारों का सर्वथा अभाव नहीं होने से,... ऐसा भी नहीं है। अभाव तो किया था। समझ में आया?

मुमुक्षु : पूर्व में ऐसा अभाव किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया था। फिर से यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। बात ऐसी है। लेखन में अन्तर पड़ता है। यहाँ तो भ्रान्ति हुई है, ऐसा कहा। सम्यग्दृष्टि को जो चारित्र का दोष होता है, वह भ्रान्ति नहीं है।

मुमुक्षु : मूल में ऐसा लिखा है कि फिर से भ्रान्ति....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यह पहले से यहाँ कहा न वापस? चारित्ररूप भ्रान्ति होती है। ऐसा लिखा न वहाँ यह। पाठ में ऐसा नहीं है। चारित्र हो, वह अस्थिरता का दोष है, वह भ्रान्ति का दोष नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

आनन्दस्वरूप भगवान जिसने भगवान की लहर ली है और जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है... आहाहा! उसे रागादि चारित्रदोष होता है परन्तु उसे उसमें आनन्द नहीं आता। ऐसा है। आहाहा! चारित्र का दोष है, वह अलग वस्तु है। यहाँ तो आचार्य तो स्वयं '**भूयोऽपि पुनरपि, भ्रांति गच्छति**' ऐसा है। संस्कृत में ऐसा है और टीका में मूल पाठ में '**पूर्व विभ्रम संस्कारात भ्रांति भूयोऽपि गच्छति**' जरा अन्तर पड़ जाता है। आहाहा!

यह तो बहुत काल के संस्कार अन्दर पड़े हैं, उनका अभाव इसने किया नहीं, इसलिए क्षायिक किया नहीं। इसलिए अन्दर में संस्कार हैं। उसे उपशम द्वारा दबाया है। आहाहा! जैसे पानी में मैल है, उसे पानी ने मैल निकालकर पानी का नितरा हुआ पानी भिन्न जाना था, परन्तु मैल अभी बैठा नीचे था। समझ में आया? वह मैल वापस आया। अपनी भूल का, हों! ऐसा करके चेताते हैं, हों! भाई! सम्यग्ज्ञान होने पर भी सावधान रहना। यह चैतन्य के स्वभाव का भान है, उसे सावधानरूप से बनाये रखना। बीच में दखल न हो जाये। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय के समक्ष समकिती की क्षयोपशम की पर्याय तो अनन्तवें भाग है। अब उसका भी इसे अभिमान नहीं कि मैं ऐसा हूँ। ऐसा होने

पर भी कोई क्षयोपशम की दशा में विशेष दशा लाकर भूला, उसे लगता है कि मैं तो बहुत ज्ञानी हो गया। आहाहा! समझ में आया? वह भ्रान्ति है। बहुत ज्ञान कौन सा? केवलज्ञान भी जहाँ बहुत नहीं। जिसकी शक्ति के सत्त्व में तो अनन्तगुना सत्त्व पड़ा है। आहाहा! उसके समक्ष केवलज्ञान की पर्याय भी तुच्छ और हल्की है। उसके बदले भान हुआ था परन्तु वापस वह क्षयोपशम की ज्ञानदशा कुछ बढ़ी न, इसलिए उस पर इसकी दृष्टि गयी कि मैं कुछ ज्ञान में बढ़ा हूँ। यह अभिमान हो गया, भ्रान्ति हो गयी। आहाहा! समझ में आया?

और जिसे सम्यक्त्व हुआ नहीं, उसे उस क्षयोपशम की दशा के जानपने की धारणा में उसे अधिकपना लगे, वह भी भ्रम है। आहाहा! भगवान अनन्त गुण का धनी है। उसके पीछे नौ पूर्व का ज्ञान, वह भी अल्प और तुच्छ है। ऐसे ज्ञान के मद में जो आ गया... आहाहा! पूर्व के संस्कार से वापस पड़ा। आहाहा! जिसे चैतन्यस्वभाव अपरिमित स्वभाव, सामान्य स्वभाव, पूर्ण स्वभाव, सर्वज्ञ स्वभाव, वह समान जाति का एकरूप स्वभाव, ऐसा जो वस्तु का सत्त्व है, ऐसी ज्ञानदशा, उसे पर से भिन्न पड़कर हुई है और उसकी ओर के पर से भिन्न करके झुकाव में रुका है एकाग्रता में। और कुछ ज्ञान के क्षयोपशम की दशा विशेष लगने पर इसे ऐसा हुआ कि मैं तो बढ़ गया हूँ। यह पूर्व की भ्रान्ति (हुई) वापस। आहाहा! ऐसा कहते हैं।

इस संसार के जानपने में कुछ माल नहीं है, हों! सब एल.एल.बी. और बी.ए. के पूंछड़े लगाये हों। ऐई... नवरंगभाई! क्या कहलाता है तुम्हारा डॉक्टर का? एम.ए. ? सर्जन। आहाहा! सर्जित किया। इसने क्या सर्जित किया? आहाहा! जहाँ अन्दर ज्ञान से भरपूर भगवान अपरिमित स्वभाव, केवलज्ञान भी जिसके पास व्यवहार और तुच्छ है। आहाहा! भाई! यह बातें अन्तर से बैठने पर इसे पर का अभिमान उड़ जाता है। समझ में आया? ऐसा भान होने पर भी यदि अभिमान आया... आहाहा! पर्यायबुद्धि हुई, ऐसा कहते हैं। पूर्व में पर्यायबुद्धि थी और फिर वापस आयी। आहाहा!

'धर्मी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष हो जाते हैं, परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में उसे उनका स्वामीपना नहीं है, एकत्वबुद्धि नहीं है।' **श्रद्धा-ज्ञान के बल से और भेदज्ञान की भावना**

से, वह पूर्व के संस्कारों को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील होता है। यदि वह श्रद्धा-ज्ञान में राग-द्वेष को भला माने, तो वह पुनः बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि हो जाए। स्थूल बात ली है। मूल तो (बाह्य) ज्ञान और राग से भिन्न—अधिक अनुभव था, उसमें से हट गया और अपने को कुछ क्षयोपशम की दशा हो अज्ञान में, उसका उसे बहुमान लगा। वापस भ्रान्ति हो गयी। मेरी दशा, मेरा स्वरूप तो अपरिमित है, जिसकी शक्ति के सत्त्व का माप ही नहीं। केवलज्ञान भी जिसके समक्ष अनन्तवें भाग दशा है। आहाहा! ऐसा ज्ञान का सत्त्व, ज्ञान का स्वभाव, वह मैं हूँ—ऐसा अनुभव करने पर भी फिर पूर्व के संस्कार के कारण भ्रान्ति हो जायेगी। आहाहा! **बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि हो जाए।**

अविरत सम्यग्दृष्टि को अन्दर ज्ञानचेतना का परिणमन है, तो भी अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाते हैं, इससे उसको ज्ञानचेतना के साथ कदाचित् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया है... यह अलग वस्तु है। यह यहाँ भ्रान्ति में डालने की नहीं है। क्या कहा यह? ज्ञानस्वभावी वस्तु में एकाग्र होकर ज्ञानचेतना प्रगट की है, ऐसे जीव को भी राग और राग का फल उसकी दशा में आता है। अर्थात् कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी ज्ञानी को होती है। परन्तु वह तो अस्थिरता के कारण से है।

मुमुक्षु : भ्रान्ति नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रान्ति नहीं। आहाहा!

वैसे तो ज्ञानी को इसलिए ज्ञानचेतना मुख्यरूप से गिनी है। पंचास्तिकाय में तो केवलज्ञानी को ज्ञानचेतना गिनी है। पूर्ण की अपेक्षा से। इस प्रकार आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अतीन्द्रिय अपरिमित स्वभाव से भरपूर भगवान... आहाहा! उसका अन्तर में जहाँ बहुमान और अधिकपने पर से भिन्न भासित हुआ, उसे वर्तमान ज्ञान की पर्याय का माहात्म्य दिखता ही नहीं। समझ में आया? परन्तु यदि वापस वर्तमान ज्ञान की पर्याय का मान आ गया, भ्रान्ति हो गयी। ऐसा है यह धर्म। भारी कठिन बातें।

ज्ञानी को **कदाचित् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया है परन्तु वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ज्ञाता-दृष्टा रहता है।** आहाहा! ऐसा है

कि स्वभाव चैतन्य का भान होने पर भी और ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता की चेतना प्रगट हुई होने पर भी उसे राग और राग के फल का परिणमन है। तो स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ज्ञाता-दृष्टा है। परन्तु पर्याय के लक्ष्य से देखो तो राग का परिणमन और राग का दुःख का फल, वह मुझमें है, ऐसा वह ज्ञान जानता है। समझ में आया? क्या कहा यह?

मुमुक्षु : दो भेद किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो अलौकिक पंथ का रास्ता है। यह रास्ता देखा नहीं, उसे तो बहुत कठिन लगे ऐसा है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि देखा है। मेरा रास्ता अन्दर में जाने की रीति की उसे खबर पड़ गयी है। आहाहा! राग से और शरीर की संस्कृति दशा संस्कार सब उससे भिन्न पड़कर अन्तर के मार्ग को देखा है। उस जीव को ज्ञानचेतना ही मुख्यरूप से होती है। परन्तु पर्याय को देखो तो पर्याय में अभी राग का परिणमन है और राग का फल दुःखरूप का भी परिणमन है। आहाहा!

मुमुक्षु : वेदन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदन भी है।

राग और राग का फल आकुलता, वह ज्ञानी को भी अभी पर्याय में है। अर्थात् धर्मी को भी ज्ञानचेतना के साथ राग में जरा अटका है और फल में अटका है, वह भी उसे चेतना है। आहाहा! वह कहीं भ्रान्ति नहीं। परन्तु वह राग में चेतने से आकुलता में आने पर अपनी चीज़ को भूल गया और मैं अकेला राग का वेदन और दुःख का वेदन करनेवाला ही हूँ, यह भ्रान्ति हो गयी। समझ में आया? ऐसा धर्म कठिन, भाई! इसकी अपेक्षा मन्दिर बनावे, पूजा करे, भक्ति करे। धीरुभाई! पाँच-पचास हजार खर्च करे, लाख-दो लाख। तो समझ में आये। यह कहाँ हिसाब लगाया? बापू! तेरे स्वरूप में सामर्थ्य की शक्तियाँ अपार है। इसके उसके स्वभाव के सामर्थ्य का माप ही कभी किया नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि माप में—प्रमाण में स्वभाव को लिया, तथापि और उसकी पर्याय में दृष्टि जाने से उसे स्वभाव की भ्रान्ति हो गयी। ऐसा मैं हूँ... ऐसा मैं हूँ... भूल गया। मैं तो यह क्षयोपशम की दशा जो उघड़ी है, वह मेरी है और उससे मैं अधिक हूँ। आहाहा!

या इस राग के विकल्प को, मुझमें होता है; इसलिए मैं हूँ—ऐसी भ्रान्ति हो गयी। आहाहा! समझ में आया? यह श्वेताम्बर में ऐसा आवे अहिंसा और हिंसा की व्याख्या में। ऐसा कि पड़े तब क्या होता है इसे? कि अहिंसा भूलकर राग में हिसा (में आया)। हिंसा में लाभ है, हिंसा में धर्म है—ऐसा मानता है। वहाँ स्थूल बात है। यह तो अन्तर की बात है। श्रद्धा बदल गयी।

यह चैतन्य के नाथ का भरोसा था। अपरिमित, मर्यादा बिना का स्वरूप मेरा है, ऐसी जो शक्ति, बेहद, अनहद उसका जो भान था, परन्तु पूर्व में वह भान नहीं था और वे संस्कार थे, वे स्फुरित हुए, कहते हैं। आहाहा! इसका अर्थ कि स्वयं भूला, ऐसा। समझ में आया? यह तो समाधि की बात है न? आत्मा पर से भिन्न पड़कर समाधि को वेदता था। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... उपशमरस की समाधि। यह बाबा कहे वह नहीं, हों! अन्यमति में। यह तो वीतराग के घर की समाधि। आहाहा!

यह आत्मा आनन्दस्वरूप, ऐसी दशा प्रगट होने पर शान्ति की समाधिदशा होती है। उसे यहाँ समाधि कहते हैं और उस समाधि से भूला, और मैं ज्ञान की दशा में विशेष हूँ, राग में विशेष हूँ, उसकी अधिकता भासी हुई, वह वापस असमाधि में आया, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

वे एक थे न नन्दलालजी? भिण्ड। इनके मामा। श्रीचन्द कहाँ गये? जूनागढ़ गये? वह सब तैयारी करने। ठीक। इनके मामा थे नन्दलाल, नहीं? अपने यहाँ आये थे। वे नन्दलालजी ऐसा मानते थे। समयसार का अभ्यास किया था। वे पढ़ें तब तीन-चार लोग इकट्ठे हों। यहाँ आये और ऐसे लोग... तब अभी तो यह तो बहुत... (संवत्) १९९८ के वर्ष की (बात है)। ९८ नहीं ९९। ९९, ९९ का पौष महीना। वह तो अन्दर लेख है, यह याद है। ९९ के पौष महीने में आये थे। बहुत पढ़े हुए। फिर एक बार उन्हें ऐसा हो गया है कि एक बार आत्मभान हुआ हो, फिर गिरता नहीं। ऐसा वे कहते। वह श्लोक ऐसा है न, उस पर से। यह तो भान हुआ, वह पड़े और फिर निगोद में चला जाये। समझ में आया? आहाहा! यह खेल चूका जाति के स्वभाव का बेहद का। आहाहा! मिथ्यात्व में आ जाये और जैसी दशा पहले थी, वैसी की वैसी हो जाये। भले अन्तर में थोड़ा अन्तर पड़ा हो,

परन्तु बाहर में तो दशा ऐसी की ऐसी उसकी दिखती है। आहाहा!

कहा, ऐसा नहीं है। बहुत कुछ रहे थे। आठ दिन रहे थे और उस समय समयसार का अभ्यास उन्हें था। वे थे न क्षुल्लक? वीरचन्द भट्टारक क्षुल्लक थे। कौन सा गाँव वह? कारंजा। कारंजा में वीरचन्द भट्टारक क्षुल्लक थे। उन्होंने यह समयसार बहुत पढ़ा हुआ, परन्तु उसकी श्रद्धा नहीं। श्रद्धा वेदान्त की हो गयी थी। वेश क्षुल्लक का रहा हुआ। वहाँ उतरे थे वहाँ, जहाँ रहते थे न, वहाँ हम उतरे थे। बापू! यह वस्तु अलौकिक बातें। उन्हें तो ऐसा हो गया कि यह वेदान्त में सब है। वह समयसार में कुछ है जैन में। उन्हें जैन की श्रद्धा उड़ गयी थी। उनके यह शिष्य थे। मैंने उन्हें फिर यहाँ एक बार पूछा कि तुम्हारे गुरु को कुछ वेदान्त की श्रद्धा थी या नहीं? तो कहे, यह कहाँ से जाना? सुना था।

यह सेठिया है न सरदार शहर के? दीपचन्द सेठिया। वे बहुत पूछते थे। वहाँ जा आये। और उसमें वह पढ़ा हुआ बहुत और यह साधारण लगे, इसलिए तुम क्या जानते हो? समयसार की बात को, ऐसा कहकर तरछोडयो सेठिया को। यह कहे कि भले तरछोड़े। महाराज! मैं तो जानने के लिये आया हूँ। फिर कहे, यह सब आत्मा एक लगता है, हों! सेठिया कहने लगे। कहे, हाँ। ओय मारा। एक ही आत्मा लगता है, बाकी सब भ्रम है। यह तो मूल में भूलवाला। दीपचन्दजी सेठिया थे। है न? यह वहाँ गये। और उन्हें प्रश्न पूछा कुछ समयसार का। उसमें उसने तर्क छोड़ा उसको। तुम क्या जानते हो समयसार को? जैन में एक समयसार है, बाकी क्या है? यह कहे, दिक्कत नहीं। तेरा पेट (अभिप्राय) लेना है हमारे। ऐसा कहकर पूछा कि यह तो सब होकर एक आत्मा। दो और तीन भेद, यह सब काल्पनिक। ऐसा है? वह कहे, ऐसा है। परन्तु यह तेरा पेट (अभिप्राय) लेता है। आहाहा! यह उसकी श्रद्धा मिथ्यात्व थी। उसके शिष्य थे नन्दलालजी। ९९ में आये। वे कहें, एक बार सम्यक्त्व हुआ, वह फिर पुनः मिथ्यात्व नहीं होता। इस बात का यहाँ विरोध है। सेठ! यहाँ तो बहुत-बहुत लोग और बहुत आये-जाये न परिचय के लिये। नहीं? बापू! आहाहा! और मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है। सब कहा है। गोम्मटसार में। सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें गुणस्थान में गया हो, वह भी पड़कर मिथ्यात्व होकर निगोद में चला जाये। आलू-शक्करकन्द में अवतरित हो। आहाहा! वापस उसकी दशा बहिरात्मदशा हो गयी। आहाहा! समझ में आया?

तीर्थंकर का समकित अप्रतिहत होता है। वह कभी नीचे नहीं गिरता। चारित्र तो यहाँ लिया हो तो गिरे, स्वर्ग में जाये। सम्यग्दर्शन की दशा तो उनकी अप्रतिहत होती है। आहाहा! यह विभ्रम हो, ऐसा उन्हें नहीं होता। चक्रवर्ती के राज्य में रहे हों तीर्थंकर। छियानवें हजार स्त्रियों के विषय में रहे हों, तथापि उन्हें भ्रम नहीं होता कि यह वह मेरा स्वरूप आनन्द में है या यह इसमें (विषय में) आनन्द है? दुःख ही है, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह पर में आनन्द का भास हो जाता है। समझ में आया? अरेरे! यह क्या परन्तु ऐसी बात! यह क्या करना कुछ सूझ नहीं पड़ती। एक व्यक्ति ऐसा कहता था। भाई! तेरी जाति को सम्हाल, यह करना है। आहाहा! ऐसी भ्रान्ति बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हो जाये।

अविरत सम्यग्दृष्टि को अन्दर ज्ञानचेतना का परिणमन है, तो भी अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाते हैं, इससे उसको ज्ञानचेतना के साथ कदाचित् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया है परन्तु वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का... कर्म है? कर्म शब्द है उसमें? इसमें छूट गया है। छूट गया है। उसमें है? छूट गया है? इसमें भी छूट गया है। अन्तर है। तीसरी लाईन। दूसरी लाईन नहीं। दूसरी लाईन में कर्मचेतना है। तीसरी लाईन में नहीं। इसमें होगा यहाँ। यह तो आया। छूट गया है। **चेतना का ज्ञाता-दृष्टा रहता है।** धर्मी जीव को राग और राग के फल का वेदन होता है, तथापि धर्मी जीव उसका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि से रहता है और ज्ञान की दृष्टि से उसका वेदन मेरा है, ऐसा वह जानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश और यह धर्म।

अन्तरात्मा को पूर्व के संस्कारों के कारण, निचली भूमिका में जो भ्रान्ति होती है, वह मिथ्यात्वजनित नहीं, परन्तु अस्थिरताजनित है; इसलिए उसको राग-द्वेष होने पर भी, उसके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं आता। ऐसा नहीं। यह भ्रान्ति है। अब यह **भ्रान्ति को प्राप्त वह अन्तरात्मा, उसको (भ्रान्ति को) किस प्रकार छोड़े?** यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ४६

भूयो भ्रान्तिं गतोऽसौ कथं मां त्यजेदित्याह -

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥ ४६॥

इदं शरीरादिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं। अचेतनं जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानातीत्यर्थः यच्चेतनमात्मस्वरूपं अदृश्यमिन्द्रियग्राह्यं न भवति। ततः यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं। अतः यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते अतः मध्यस्थः उदासीनोऽहं भवामि॥४६॥

फिर से भ्रान्ति को प्राप्त वह अन्तरात्मा, उसको (भ्रान्ति को) किस प्रकार छोड़े ?—वह कहते हैं —

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं।
रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि॥ ४६॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा, तब अपनी विचारपरिणति को इसरूप करे कि (इदं दृश्यं) यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ-समूह है, वह समस्त ही (अचेतनं) चेतनारहित-जड़ है और जो (चेतनं) चैतन्यरूप आत्मा है, वह (अदृश्यं) इन्द्रियों के द्वारा दिखायी नहीं पड़ता; (ततः) इसलिए वह (क्व रुष्यामि) मैं किस पर तो क्रोध करूँ और (क्व तुष्यामि) किस पर सन्तोष व्यक्त करूँ ? (अतः अहं मध्यस्थः भवामि); अतः में तो अब राग-द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थभाव को धारण करता हूँ।

टीका - ये अर्थात् शरीरादि, जो दृश्य अर्थात् इन्द्रियों द्वारा दिखने योग्य हैं-प्रतीति में आने योग्य हैं, वे अचेतन-जड़ हैं; वे किए गये रोष-तोषादि को नहीं जानते — ऐसा अर्थ है। जो चेतन-स्वात्मस्वरूप है, वह अदृश्य है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है; इसलिए मैं किसके प्रति रोष करूँ और किसके प्रति तोष करूँ ? क्योंकि दृश्य शरीरादि, अचेतन हैं और चेतन-आत्मस्वरूप अदृश्य है; इसलिए मैं मध्यस्थ-उदासीन होता हूँ क्योंकि रोष-तोष का कोई भी विषय घटित नहीं होता।

भावार्थ - पूर्व के चारित्रसम्बन्धी भ्रान्तिरूप संस्कार जागृत होते हैं, तब अन्तरात्मा समाधानरूप से विचार करता है कि — 'जो शरीरादि पदार्थ दृष्टिगोचर हैं, वे अचेतन हैं-जड़ हैं; मैं उन पर राग-द्वेष करूँ तो वह व्यर्थ है। आत्मा, जो चेतन है, राग-द्वेषभाव को जान सकता है, वह तो अदृश्य है-दृष्टिगोचर नहीं है; इसलिए वह भी मेरे राग-द्वेष का विषय नहीं बन सकता; इसलिए किसी पर राग-द्वेष नहीं करके, सर्व बाह्यपदार्थों से उदासीन होकर, मध्यस्थ-(वीतरागी) भाव धारण करना योग्य है अर्थात् पर के प्रति उदासीनता का सेवन करते हुए, उनका केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर, आत्मतत्त्व को ही ज्ञान का विषय बनाना और उसी में स्थिर होना योग्य है।'

ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होते हैं परन्तु भेदज्ञान के बल से वह अन्दर में उपरोक्त प्रकार से समाधान करके, तुरन्त अपने ज्ञान के विषय को पलट डालता है और ज्ञानानन्दस्वरूप को ही ज्ञान का विषय बनाता है। उसकी बारम्बार भावना भाने से, राग-द्वेष की वृत्ति स्वयं क्रम -क्रम से मिट जाती है।

पौष कृष्ण ११, गुरुवार, दिनांक ०६-२-१९७५, श्लोक-४६-४७, प्रवचन-५८

समाधितन्त्र। श्लोक ४६। **फिर से भ्रान्ति को प्राप्त वह अन्तरात्मा, उसको (भ्रान्ति को) किस प्रकार छोड़े ?—वह कहते हैं—** ऊपर है। **'भूयो भ्रान्तिं गतोऽसौ'**

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥ ४६॥

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं।
रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि॥४६॥

टीका - ये अर्थात् शरीरादि, जो दृश्य अर्थात् इन्द्रियों द्वारा दिखने योग्य हैं- प्रतीति में आने योग्य हैं, वे अचेतन... है। यह शरीर, यह दूसरे सब में जो कुछ देखने में आता है, वह तो जड़ है। **वे किए गये रोष-तोषादि को नहीं जानते...** शरीरादिक जड़ पदार्थ रोष-तोष को जानता नहीं। रोष करूँ या सन्तोष, वह तो उसे खबर नहीं। आहाहा! किससे रोष करना और किससे सन्तोष करना ? अर्थात् कि राग-द्वेष करूँ। ऐसा अर्थ है।

जो चेतन-स्वात्मस्वरूप है, वह अदृश्य है... यह भगवान आत्मा तो अदृश्य अर्थात् इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं। इन्द्रिय से ग्राह्य तो यह जड़ादि दिखते हैं, वे सब अचेतन हैं। **इसलिए मैं किसके प्रति रोष करूँ...** अर्थात् द्वेष **और किसके प्रति तोष करूँ ?** अर्थात् सन्तोष। **क्योंकि दृश्य शरीरादि, अचेतन हैं और चेतन-आत्मस्वरूप अदृश्य है; इसलिए मैं मध्यस्थ-उदासीन होता हूँ...** परपदार्थ के प्रति प्रेम या अप्रेम मैं करता नहीं। क्योंकि परपदार्थ जड़ादि कुछ जानते नहीं और जाननेवाला जो मैं हूँ, वह इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं। दूसरे के आत्मा हैं, वे भी इन्द्रिय द्वारा दिखते नहीं। किसके ऊपर राग-द्वेष करूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जाननेवाला-देखनेवाला मैं हूँ। उसमें मैं सन्तोष से रहूँ, ऐसा धर्मात्मा विचारता है। समझ में आया ? ऐसा जगत से उल्टा कठिन यह सब।

जो कुछ करना पड़े पूरे दिन यह तो, कहते हैं कि कुछ कराये नहीं। वह तो इन्द्रियग्राह्य चीज़ है, वह तो जड़ है। और जो ज्ञात नहीं होता, ऐसा आत्मा चेतन है, वह इन्द्रिय से दिखता नहीं पर का और मेरा, ऐसा। मैं तो जाननेवाला मेरे स्वभाव से जानूँ। तो जो स्वभाव, उसके ऊपर भी राग-द्वेष क्या करना ? अचेतन पर भी क्या करना ? मध्यस्थ स्थान से समाधि अर्थात् आनन्द में रहूँ, यह मेरा स्वरूप है, ऐसा कहते हैं।

चाहे जो प्रसंग हो, परन्तु मैं तो जानने-देखनेवाले को जाननेवाला हूँ। इसलिए मैं सन्तोष से रहता हूँ। आहाहा! मैं किसी को मदद कर सकूँ, ऐसा नहीं। तथा पर को नुकसान कर सकूँ, ऐसा मैं नहीं। इसी प्रकार मुझे नुकसान करनेवाली परचीज़ है, यह नहीं। आहाहा! मुझे कोई परद्रव्य सहायता कर सके, ऐसी कोई चीज़ नहीं। आहाहा! तो किस पर राग-द्वेष करूँ ? अर्थात् कि मैं तो मध्यस्थ ज्ञाता-दृष्टारूप से रहूँ, यह मेरा स्वरूप है। कहो, धन्धा करना या यह करना ? इसे क्या करना है अभी ? यह तो कहते हैं न, धन्धा जो तू कहता है, वह तो जड़ है। उसे तो कर नहीं सकता। और यह रोष-तोष को जड़ जानते नहीं। तेरे राग-द्वेष को यह कुछ जानते नहीं। आहाहा! और जाननेवाला चैतन्य भगवान इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं तो उसे—दूसरे के आत्मा को भी मैं इन्द्रियग्राह्य नहीं तो उसके ऊपर राग-द्वेष क्या करना ?

है शब्द ? '**मध्यस्थोऽहं**' मध्यस्थ। अर्थात् कि जानने-देखनेवाला मैं हूँ। बाकी कोई

चीज़ है नहीं। **इसलिए मैं मध्यस्थ-उदासीन होता हूँ क्योंकि रोष-तोष का कोई भी विषय घटित नहीं होता।** पर जड़ है, वह रोष-तोष का विषय नहीं। चैतन्य इन्द्रियग्राह्य नहीं, (इसलिए) वह भी कहीं राग-द्वेष का विषय नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

भावार्थ - पूर्व के चारित्रसम्बन्धी भ्रान्तिरूप संस्कार जागृत होते हैं,... ऐसा इन्होंने लिया है। **तब अन्तरात्मा समाधानरूप से विचार करता है कि — 'जो शरीरादि पदार्थ दृष्टिगोचर हैं, वे अचेतन हैं-जड़ हैं;...** पैसा, स्त्री का शरीर, मकान, इज्जत, यह तो सब जड़ है। इन्द्रिय का विषय है। **मैं उन पर राग-द्वेष करूँ...** वे तो जड़ है। क्योंकि अचेतन पर राग-द्वेष करना, इसका क्या कारण? ऐसा कहकर मैं तो अचेतन की दशा का जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। मैं मध्यस्थ हूँ। अर्थात् कि मैं वीतरागभाव से रहनेवाला हूँ, ऐसा कहते हैं। आहा! समझ में आया?

आत्मा, जो चेतन है, राग-द्वेषभाव को जान सकता है, वह तो अदृश्य है-दृष्टिगोचर नहीं है; इसलिए वह भी मेरे राग-द्वेष का विषय नहीं बन सकता;... आहाहा! भ्रमजाल जगत की, उसी और उसी में जिन्दगी जाती है। कहते हैं कि इस जड़ को देखकर तू अनुकूल और प्रतिकूलता का भाव करे, परन्तु उस जड़ को तो कुछ खबर नहीं। तो कहते हैं, तेरे राग-द्वेष के भाव तो मुफ्त जाते हैं। नुकसान खाते जाते हैं। आहाहा! **पर के प्रति उदासीनता का सेवन करते हुए, उनका केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर,...** बात यह है। **आत्मतत्त्व को ही ज्ञान का विषय बनाना...** इन्द्रिय का विषय नहीं, इसलिए ज्ञान का विषय बनाना, ऐसा कहते हैं। अन्तर में ज्ञान का विषय आत्मा चैतन्य को बनाना अर्थात् कि ज्ञान की पर्याय को ज्ञाता, ऐसा जो ध्येय, उसका विषय करके ध्यान करना। आहाहा! यह तो मुनि हैं न, इसलिए उत्कृष्ट बात करते हैं न! **और उसी में स्थिर होना योग्य है।**

ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होते हैं परन्तु भेदज्ञान के बल से वह अन्दर में उपरोक्त प्रकार से समाधान करके, तुरन्त अपने ज्ञान के विषय को... अर्थात् कि मैं एक ज्ञान का ही विषय हूँ। वर्तमान ज्ञान की दशा का मैं विषय हूँ। मैं राग-द्वेष का विषय नहीं तथा पर के प्रति राग-द्वेष करना, वह विषय नहीं। आहाहा! यह मार्ग वीतराग का ऐसा है। वीतरागता बतलाता है। किसी भी प्रसंग में परचीज़ को देखने से अनुकूल-प्रतिकूलता का

सवाल ही कहाँ है ? कहते हैं। ऐसा कहते हैं। वह चीज़ तो ज्ञेयरूप से जानने में आती है। और मैं जो हूँ, वह तो इन्द्रियग्राह्य नहीं। मैं तो मेरे ज्ञान का विषय हूँ। आहाहा! मैं मुझे जानूँ, यह ज्ञान की दशा से जानता हूँ, इसलिए उसमें भी राग-द्वेष करने का अवसर नहीं रहता। और पर जो इन्द्रियग्राह्य चीज़ है, वह तो जड़ है। उसके प्रति राग-द्वेष करने का कारण क्या ? और तू राग कर, प्रीति कर, परन्तु वह तो जानते नहीं कि यह मुझ पर प्रीति करता है। शरीर को खबर है ?

मुमुक्षु : लड़के तो जानते हैं कि यह प्रीति करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के भी जानते नहीं। लड़के तो उसके शरीर की अनुकूलता देखकर वह बुलावे... वह तो जड़ का विषय है उसका। उसमें यह मानता है कि मेरे पर इन्हें प्रेम है। वह तो कल्पना की है। आहाहा! कहो, पोपटभाई! ऐसा सब गृहस्थाश्रम में करना। आहाहा!

मूल मुद्दा तो ऐसा कहते हैं कि मैं जो आत्मा हूँ, वह तो मेरी ज्ञानदशा द्वारा ज्ञात होऊँ, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! और दूसरी चीज़ है, वह तो इन्द्रियग्राह्य है। वह मेरे ज्ञान का विषय नहीं, वह चीज़। समझ में आया ? तो पर के प्रति राग-द्वेष करने की क्या वस्तु है ? आहाहा! और स्वयं ज्ञान का विषय है, वहाँ तो राग-द्वेष है नहीं; इसलिए उसमें भी राग-द्वेष करने का रहता नहीं। आहाहा! यह समाधि का अधिकार है।

पर को जानते हुए अनुकूल-प्रतिकूलता का भाव करना, इससे चीज़ तो जानती नहीं कि यह मेरे ऊपर यह प्रेम करता है, द्वेष करता है। तेरा राग और द्वेष तुझे दुःखदायक होगा। आहाहा! और तेरे ऊपर राग-द्वेष होता नहीं। क्योंकि तू राग का विषय नहीं। ज्ञान की पर्याय का विषय है, उसे जानने से वीतरागता होती है। मध्यस्थ हो जाता है। राग-द्वेष के दो भाग न करके... आहाहा! यह इसकी धार्मिक क्रिया है।

अपने ज्ञान के विषय को तुरन्त पलट डालता है... देखा! बाहर का विषय बनाकर तो राग-द्वेष होते हैं और वे भी वह तो जड़ है सामने। आहाहा! स्त्री का शरीर, पुत्र / लड़का, लक्ष्मी, वह तो सब जड़ है। उसका आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं और ग्राह्य जड़ है, वह तो जड़ है। अब तू किस पर प्रेम करेगा ? वह प्रेम को जानता तो नहीं। ठीक न हो तो द्वेष

कर। तो द्वेष को वह कुछ जानता नहीं। तेरा राग और द्वेष तो अनर्थ के लिये होगा। समझ में आया?

और ज्ञानानन्दस्वरूप को ही ज्ञान का विषय बनाता है। आहाहा! मैं एक चैतन्य निर्विकल्प आनन्दकन्द ब्रह्म हूँ। ऐसी ज्ञान की दशा में उसका विषय अर्थात् ध्येय बनाकर उसमें रहता है। वह तो वीतरागता हुई। ऐसी बात है। धर्मी को ऐसी बात होती है, सम्यग्दृष्टि को ऐसा होता है। समझ में आया? **ज्ञानानन्दस्वरूप को ही ज्ञान का विषय बनाता है।** अपनी जो ज्ञानदशा है, उसे अपना पूर्ण स्वरूप है, उसे ध्येय बनाता है; इसलिए उसे वीतरागता प्रगट होती है। गजब ऐसा। करना क्या, इसकी सूझ पड़ती नहीं, कहो, शान्तिभाई! जवाहरात में कितनी... ऐसा लिया और ऐसा दिया। दो लाख पैदा होते हैं। शान्तिभाई की छाप वहाँ मुम्बई में बड़ी है, हों! यह (आत्मा) स्वयं शान्तिनाथ है। आहाहा!

राग और द्वेष आस्रव अनर्थकारक है। वह मेरा स्वरूप नहीं। कितने ही तो कहते है न कि भाई! अपने राग करो, परम्परा से इससे लाभ होगा। इसका अर्थ क्या? कहते हैं। यह बारह अनुप्रेक्षा में भाई आता है। यह राग है, वह अनर्थ का मूल है। कुन्दकुन्दाचार्य की बारह अनुप्रेक्षा है न? द्वादशानुप्रेक्षा। आस्रव है, वह अनर्थ का मूल है। ज्ञानी को भी, ऐसा वहाँ तो आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी को किसी अपेक्षा से लाभदायक नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी लाभ नहीं। परम्परा से नुकसानकर्ता है, ऐसा कहा है। ऐसा पाठ है। राग का भाव दया, दान, भक्ति, पूजा विकल्प है। परम्परा धर्म होगा, ऐसा नहीं। परम्परा वह तो अनर्थ का मूल है।

मुमुक्षु : उसमें तो ऐसा भी लिखा है कि संवर-निर्जरा के आश्रय से धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं। आहाहा! पर्याय के आश्रय से कहाँ से धर्म हो? जगत को कुछ व्यवहार करते-करते होगा, और पैसेवाले को पैसे के दान देने से होगा। शरीर के बलिया को अपवास से होगा। मन के बलिया को जानपने में, पर का जानपना करके रहे, उसमें होगा। ऐसा नहीं है। आहाहा! भाई! तू तो ज्ञान का विषय है न, वहाँ जा न। आहाहा! तू ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा तू है। उसमें जा न! आहाहा! तुझे वहाँ शान्ति होगी।

ज्ञान के विषय को अपना बनाने से आनन्द होगा। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयेगा। आहाहा! परसन्मुख जाने पर चाहे तो व्रत और भक्ति और पूजा, और उसमें राग हो, वह तो नुकसान का कारण है।

ज्ञान का विषय बनाता है। उसकी बारम्बार भावना भाने से,... अर्थात् कि स्वयं ज्ञान में अपने को ध्यान में लेकर। ध्यान विषय कुरु—ऐसा शब्द है। अध्यात्म तरंगिणी है न? अध्यात्म तरंगिणी। उसमें ऐसे शब्द पड़े हैं दो-चार जगह। ध्यान विषय कुरु... ध्यान विषय कुरु... अर्थात् कि ज्ञान में विषय आत्मा को बना। ध्यान का विषय उसे बना। तेरी एकाग्रता उसमें कर। आहाहा! दुनिया का मान मिला, महत्ता मिले, प्रसन्न-प्रसन्न ऐसे हो जाये। तालिया बजें। आहाहा! अरे! उसमें तुझे क्या? आहाहा! तू तुझे विषय बनाकर आनन्द न आवे और पर का विषय बनाकर तू राग-द्वेष कर, वह तो दुःखदायक है। आहाहा! समझ में आया? समाधिशतक है न?

आत्मा का स्वरूप अपने में ज्ञान में लेकर उसे बारम्बार उसकी ओर एकाग्रता करके **राग-द्वेष की वृत्ति स्वयं क्रम -क्रम से मिट जाती है।** और स्वरूप की शान्ति बढ़ती जाती है। आहाहा! भारी कठिन।

श्लोक - ४७

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह -

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥ ४७॥

मूढा बहिरात्मा त्यागादाने करोति। क्व? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति। रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति। आत्मवित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मं स्वात्मरूप एव त्यागादाने करोति। तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा। स्वीकारश्चिदानन्दादेः। यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा॥४७॥

अब, बहिरात्मा और अन्तरात्मा के त्याग-ग्रहण के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर-आत्म।
दृढ़ अनुभववाला नहीं करे ग्रहण और त्याग॥ ४७॥

अन्वयार्थ - (मूढः) मूर्ख बहिरात्मा, (बहिः) बाह्यपदार्थों का (त्यागादाने करोति) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेष के उदय से जिनको अनिष्ट समझता है, उनको छोड़ देता है और राग के उदय से जिन्हें इष्ट समझता है, उनको ग्रहण कर लेता है; तथा (आत्मवित्) आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा, (अध्यात्मं त्यागादाने करोति) अन्तरङ्ग राग-द्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावों का ग्रहण करता है परन्तु (निष्ठितात्मनः) शुद्धस्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा हैं, उनके (अन्तःबहि) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग किसी भी पदार्थ का (न त्यागः) न तो त्याग और (न उपादानं) न ग्रहण होता है।

टीका - मूढ़ बहिरात्मा, त्याग-ग्रहण करता है। किसमें (करता है) ? बाहर में अर्थात् बाह्यवस्तु में; द्वेष के उदय के कारण-अभिलाषा के अभाव के कारण, मूढ़ात्मा (बहिरात्मा) उसका (बाह्यवस्तु का) त्याग करता है और राग का उदय होने पर, उसकी अभिलाषा की उत्पत्ति के कारण, उसका (बाह्यवस्तु का) ग्रहण करता है परन्तु आत्मविद अर्थात् अन्तरात्मा, आत्मा में ही / आत्मस्वरूप में ही त्याग-ग्रहण करता है। वहाँ त्याग तो राग-द्वेषादि का अथवा अन्तर्जल्परूप विकल्पादि का और स्वीकार (ग्रहण) चिदानन्दादि का होता है।

जो निष्ठितात्मा अर्थात् कृतकृत्य आत्मा है, उसको अन्तर में या बाह्य में (कुछ) ग्रहण नहीं है तथा अन्तर या बाह्य में (कुछ) त्याग नहीं है।

भावार्थ - बहिरात्मा, जो पदार्थ इष्ट लगते हैं, उनको ग्रहण करना चाहता है और जो पदार्थ अनिष्ट लगते हैं, उनका त्याग करना चाहता है। वास्तव में[१] कोई ज्ञानी या अज्ञानी, बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं, तथापि बहिरात्मा उनका ग्रहण-त्याग करना मानता है — यह उसकी मूढ़ता है।

---

१. श्री समयसार, गाथा-४०६, और समाधितन्त्र श्लोक २० का विशेष

अन्तरात्मा, आत्मस्वरूप में ही ग्रहण-त्याग करता है अर्थात् वह बाह्यपदार्थों से चित्तवृत्ति हटाकर, स्वसन्मुख होकर, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ग्रहण करता है; वैसा करने से राग -द्वेषादि का व विकल्पादि का त्याग स्वयं हो जाता है। रागादि की अनुत्पत्ति, वही त्याग है।

शुद्धस्वरूप में स्थित आत्मा (निष्ठितात्मा), कृतकृत्य होने से, उनको बाह्य या अन्तरङ्ग किसी भी विषय में ग्रहण-त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती; वे तो अपने चिदानन्दस्वरूप में सदा स्थिर रहते हैं।

विशेष स्पष्टीकरण -

बहिरात्मा को अन्दर के चैतन्यतत्त्व का ज्ञान नहीं है, उसको स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है; अतः वह जो बाह्यपदार्थ देखता है, उनके साथ एकताबुद्धि करता है। उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके, राग-द्वेषभाव से उनका ग्रहण-त्याग करने के लिए दौड़ता है परन्तु बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग उसके आधीन नहीं है। वे पदार्थ तो स्वयं के कारण से आते-जाते हैं। विपरीतमान्यता के कारण, उसका बाह्यग्रहण-त्याग, राग-द्वेषगर्भित है। उसके अभिप्राय में आत्मस्वभाव का त्याग और विभाव तथा परभावों का ग्रहण है।

अन्तरात्मा के अभिप्राय में-मान्यता में परपदार्थों का ग्रहण-त्याग ही नहीं है। अस्थिरता के कारण किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होती है परन्तु उसके साथ भी उसकी एकता नहीं है-स्वामीपना नहीं है। वह वृत्ति भी आत्मस्वरूप का ग्रहण होने पर-उसमें स्थिर होने पर, स्वयं विनष्ट हो जाती है-मिट जाती है।।४७।।

श्लोक - ४७ पर प्रवचन

अब, बहिरात्मा और अन्तरात्मा के त्याग-ग्रहण के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं — ४७।

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥ ४७॥

टीका - **मूढ़ बहिरात्मा, त्याग-ग्रहण करता है। किसमें (करता है) ? बाहर में अर्थात् बाह्यवस्तु में; द्वेष के उदय के कारण-अभिलाषा के अभाव के कारण, मूढ़ात्मा (बहिरात्मा) उसका (बाह्यवस्तु का) त्याग करता है...** लो, यह क्या कहते हैं ? द्वेष का कारण है। यह स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा छोड़, वह द्वेष है, कहते हैं। छोड़ना कहाँ है ? वह तो नहीं तुझमें, उसमें छोड़ना कहाँ से आया तेरे ? समझ में आया ? आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। पर को ग्रहण करना और पर को छोड़ना, उससे तो रहित आत्मा है। आहाहा! यह अज्ञानी को भ्रान्ति है कि मैंने यह सब स्त्री छोड़ी, परिवार छोड़ा, दुकान छोड़ी। क्या छोड़े ? था कहाँ यह इसने ग्रहण किया था तो छोड़े ? अज्ञानी बाहर के त्याग और ग्रहण में मूढ़ होकर रुकता है। आहाहा! है ? **बाह्यवस्तु में; द्वेष के उदय के कारण...** यह द्वेष है, कहते हैं। आहाहा! स्त्री छोड़ूँ, परिवार छोड़ूँ, धन्धा छोड़ूँ, कहते हैं न कितने ही अभी ? कंचन और कामिनी, कुटुम्ब के प्रति द्वेष करना। ओहो!

मुमुक्षु : इनके ऊपर ऐसा खारापन करना कि उन पर लक्ष्य न जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या हुआ ? यह तो द्वेष किया। आहाहा! पर चीज़ तो ज्ञान की परज्ञेय रूप से चीज़ है। उसमें ज्ञेयरूप से चीज़ को इस प्रकार से न मानकर यह छोड़ दूँ, इसे छोड़ दूँ। सूक्ष्म बात डाली है। पर को छोड़ना... है ?

बाहर में अर्थात् बाह्यवस्तु में; द्वेष के उदय के कारण... आहाहा! **'द्वेषेदया-दभिलाषाभावा' अभिलाषा के अभाव के कारण, मूढ़ात्मा उसका त्याग करता है और राग का उदय होने पर, उसकी अभिलाषा की उत्पत्ति के कारण, उसका ग्रहण करता है...** यह लूँ... यह लूँ... आहाहा! पर को ग्रहण करने का भाव, वह राग और पर को छोड़ने का भाव, वह द्वेष। स्वरूपचन्दभाई! ऐसी बातें सुनना बहुत कठिन। आहाहा! क्योंकि आत्मा में परवस्तु के त्याग-ग्रहण की शक्ति ही नहीं। त्याग-ग्रहण का अभाव आत्मा में है। आहाहा! ऐसा तो उसका स्वभाव है। परवस्तु के त्याग-ग्रहण से शून्य है। ऐसा (होने) पर भी मैं पर को छोड़ूँ। स्वभाव की दृष्टि के अनुभव में राग घटता जाता है, वैसे परवस्तु का सम्बन्ध छूटता है। परन्तु सम्बन्ध न छोड़कर उस वस्तु को ही छोड़ दूँ, यह द्वेष है, कहते हैं। सेठ! यह सूक्ष्म बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे छोड़े ? छूटी हुई चीज़ पड़ी है, उसे छोड़े किस प्रकार धीरुभाई !

राग का उदय होने पर, उसकी अभिलाषा की उत्पत्ति के कारण,... राग को ग्रहण करता है। आहाहा ! आचार्य ने बहुत सूक्ष्म बात की है। **परन्तु आत्मविद...** परन्तु धर्मात्मा सम्यग्ज्ञानी अर्थात् **अन्तरात्मा, आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही त्याग-ग्रहण करता है।** अर्थात् स्वरूप को ग्रहण और राग का छोड़ना, बस इतना। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। राग को छोड़ूँ, यह व्यवहार है। स्व को ग्रहण करने से राग छूट जाता है, इसका नाम छोड़ना, ऐसा कहा जाता है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी को पकड़ने से राग नहीं होता। उसे राग को ग्रहण नहीं करता, ऐसा कहा जाता है अथवा राग को छोड़ता है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ?

(समयसार) ३४वीं गाथा में तो ऐसा आया है न कि राग का नाशकर्ता भी आत्मा नहीं है। आया है ? समयसार-३४। राग का नाश कर्ता कहना, वह नाममात्र है। परमार्थ से राग के नाश का कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा ! मात्र भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और शुद्ध चैतन्य की दृष्टि होने पर उसका वेदन होने से उसे उतना राग उत्पन्न नहीं होता, उसने उस राग का नाश किया, ऐसा कहा जाता है। आहाहा ! भारी सूक्ष्म मार्ग, भाई ! यह तो लोगों को बस, ऐसे व्रत पालन करो, भक्ति करो, तपस्या करो। यह तो क्लेश है, कहते हैं। राग की क्रिया, वह तो क्लेश है। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, जिसे राग का उदय होने से अभिलाषा की उत्पत्ति होती है। कुछ लूँ, ऐसा। उसे, बाह्यवस्तु ग्रहण करता है। **परन्तु आत्मविद अर्थात् अन्तरात्मा, आत्मा में ही अर्थात् आत्मस्वरूप में ही त्याग-ग्रहण करता है। वहाँ त्याग तो राग-द्वेषादि का अथवा अन्तर्जल्परूप विकल्पादि का...** लो, ऐई ! व्यवहार। आहाहा ! चैतन्यस्वरूप वीतरागमूर्ति आत्मा को दृष्टि में और स्थिरता करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उसे त्यागता है—ऐसा कहने में आता है। और स्वरूप की शुद्धता को, ध्रुव को ग्रहण करता है, एकाग्र होता है, इसलिए ग्रहण करता है—ऐसा कहने में आता है। ऐसा सब समझे कब ?

त्याग तो राग-द्वेषादि का... कषाय का त्याग होता है और **अन्तर्जल्परूप विकल्पादि का...** त्याग होता है। कब? **स्वीकार चिदानन्दादि का होता है,...** तब। आहाहा! चिदानन्दस्वरूप स्वयं चिदानन्द, ज्ञानानन्द वह मैं, ऐसे स्वरूप को ग्रहण करने से राग का त्याग और द्वेष का त्याग (होता है अर्थात् वह) उत्पन्न नहीं होता, इसलिए त्याग किया—ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात! समझ में आया? समाधिशतक की शैली जरा सूक्ष्म है। अज्ञानी बाह्य का त्याग और बाह्य का ग्रहण (मानता है)। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का त्याग करता हूँ और सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र को ग्रहण करता हूँ। यह मिथ्याबुद्धि है। समझ में आया? सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्र, वह भी एक तो ज्ञान में ज्ञेय है। वह कुछ ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! और कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, वह ज्ञान में ज्ञेय है। उन्हें छोड़नेयोग्य है, यह तो द्वेष है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है यह, हों! समाधिशतक की। आहाहा! इसे तैयारी बहुत करनी पड़ेगी।

भगवान आनन्दस्वरूप चिदानन्द के स्वभाव के सन्मुख होने से, ग्रहण करने से उस स्वरूप की एकाग्र होता है, वह ग्रहण करता है, ऐसा कहा जाता है और उस काल में वे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, इसलिए उन्हें छोड़ता है, ऐसा कहा जाता है। पर को ग्रहण करता है और छोड़ता है, यह वस्तु में नहीं है। आता है न रसत्याग करना? नहीं आता? परन्तु इसका अर्थ क्या? यह रस छोडूँ, स्त्री छोड़ना, परिवार छोड़ना, यह छोड़ना—इसका अर्थ क्या? यह तो विकल्प में जब इसे ग्रहण करने का भाव था, तब उसका ग्रहण था—ऐसा कहने में आता है। परन्तु वह तो मिथ्यात्वभाव है। स्वपदार्थ को छोड़कर परपदार्थ को ग्रहण करने का भाव, वह मिथ्यात्व है। और स्वपदार्थ की एकाग्रता छोड़कर (माने कि पर) पदार्थ को छोड़ता हूँ, वह भी मिथ्यात्वभाव है।

यह लोग है न यह साधुपना लेने के लिये मुंडाओ, साधु होओ। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार के प्रति ऐसा द्वेष करो, ऐसा खारापन लाओ कि कभी उनकी भावना न हो। खारापन लाओ। वे तो बेचारे ज्ञेय हैं तेरे, उनमें तुझे क्या है? यह साधु कराते हैं न सबको देखो न! आठ-आठ वर्ष के, दस-दस वर्ष के मुंडावे। हमारे मनसुख कहता था, मनसुख। उसकी बुआ के पुत्र का पुत्र है न दस वर्ष का। उसने दीक्षा ली न वहाँ अहमदाबाद। कुछ भान नहीं, कहे। परन्तु उसे एक सीखा रखा था। भाई! परन्तु तू दीक्षा लेता है किन्तु तुझे कुछ

खबर है ? नहीं। मुझे तो दीक्षा लेनी है। बस, एक बात है। उसने-साधु ने भरमाया हो न। उसके बुआ के पुत्र का पुत्र। मुझे तो दीक्षा लेनी है... दीक्षा लेनी है... बस! एक ही बात करे। दूसरा कुछ आवे नहीं। दस वर्ष की उम्र। परन्तु भाई! यह तू हैरान होगा। यह सब बाद में पानी का तुम्बडा खिंचवायेंगे। साधारण मनुष्य कोई बुद्धि बिना का हो और पानी ले आओ और धोओ। क्या कहलाता है ? कांप। ऐसा करे। आहाहा!

फिर ली दस वर्ष की छोटी उम्र में। अहमदाबाद में। वह लड़का आता है न अपने ... उसके मामा का पुत्र। गोण्डल। बस! उसे कहे, मनसुख कहे, हम गये, हमने समझाया। बहुत समझाया। एक ही बात करे कि मुझे तो दीक्षा लेनी है... मुझे तो दीक्षा लेनी है। परन्तु दीक्षा अर्थात् क्या ? यह साधु ने ही इस प्रकार से भरमाया है। आहाहा! साधु स्वयं ही मिथ्यादृष्टि है। साधु कहाँ था वह ? समझ में आया ? राग की क्रिया को धर्म माने, पर का त्याग-ग्रहण करना, वह आत्मा का अधिकार है, ऐसा माने। पर का त्याग और पर का ग्रहण करना, वह आत्मा का अधिकार—ऐसा माने, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! चेतनजी! आहाहा!

मुमुक्षु : स्वच्छन्दी बन जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वच्छन्द का अर्थ क्या ? स्वच्छन्द का अर्थ स्वतन्त्रता में आत्मा में आना, इसका नाम स्वच्छन्द।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वच्छन्द, ऐसा अर्थ है, हों! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु सच्चिदानन्द में अन्तर में जाना, उसे यहाँ स्वच्छन्द और स्वतन्त्र कहते हैं। आहाहा!

एक जगह ऐसा आता है, ऐसा कि स्त्रियों का त्याग करूँ, त्याग करूँ, वह तो द्वेष है। अपने आता है, हों! कहीं स्तवन में। वे तो ज्ञेय है। ज्ञान में ज्ञेय है, उन्हें छोड़ना, इसका अर्थ क्या ? ज्ञान में ज्ञेय, वह तो जाननेयोग्य है। तो जाननेयोग्य छोड़ना क्या ?

मुमुक्षु : उनके ऊपर से लक्ष्य छोड़ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो लक्ष्य छोड़ना (अर्थात्) वह तो उनकी ओर से लक्ष्य छोड़कर यहाँ लक्ष्य करना, परन्तु उन्हें छोड़ना, यह वस्तु में कहाँ है ? क्योंकि ज्ञान

तो परवस्तु को पररूप से ज्ञेयरूप से जानता है। अब ज्ञेयरूप से जाने, इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसके बदले उसे छोड़ूँ, ऐसा सम्बन्ध कहे, (वह) मिथ्याभ्रम है। यह यहाँ सिद्ध करते हैं। चन्दुभाई! आहाहा!

मैं एक आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु और जगत की चीज़ दृष्टा का दृश्य, ज्ञाता का ज्ञेय, बस! इसके अतिरिक्त-उपरान्त करने जाये तो दृष्टि विपरीत हो जाये। समझ में आया? आहाहा! स्त्री को छोड़ो, पुत्र को छोड़ो, धन्धा छोड़ो—परन्तु छोड़ना क्या? वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय है, उसे छोड़ना है? तब तो ज्ञेय का ज्ञान होगा ही। समझ में आया? वह ज्ञेय का ज्ञान तो स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव है, इसलिए ज्ञेय का ज्ञान और तेरा ज्ञान तो होगा ही। आहाहा! यह डाला है, हों! कहीं आता है।

राग-द्वेषादि का अथवा अन्तर्जल्परूप विकल्पादि का और स्वीकार (ग्रहण) चिदानन्दादि का होता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव को अन्तर्जल्प अर्थात् विकल्पादि और उसके निमित्त बाह्य, उन बाह्य का त्याग नहीं। अन्तर्जल्प का त्याग कहने में आता है। फिर बाह्य का त्याग तो असद्भूतव्यवहारनय से कहने में आता है। आहाहा! असद्भूत—झूठे व्यवहारनय से कहने में आता है। उसके बदले मैं इसे ही छोड़ता हूँ (यह) द्वेष है, कहते हैं। राग-द्वेष की व्याख्या ऐसी है। आहाहा! उसमें सत्य को स्थापन करना, सत्य ऐसा है, वस्तु ऐसी है, यह भी एक राग का भाग है। यह तो आता है। १४३-१४४ (गाथा) समयसार।

अकेला ज्ञानस्वरूप है, उसे तो वाणी और सब, वह तो ज्ञेय है। उसके बदले, ज्ञेय के बदले ऐसा मानना कि मैं इस बात को स्थापित करूँ, यह ऐसा है... यह ऐसा है... वह भी राग का भाग है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : जैन धर्म सच्चा है, ऐसा कहना, वह भी राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन धर्म सच्चा। विकल्प है न इतना।

मुमुक्षु : वह भी राग है?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, वह तो वृत्ति का उत्थान है। दूसरे धर्म खोटे हैं, ऐसे उत्थापन, वह भी एक द्वेष का अंश है। ऐसा (द्वेष का अंश) होता है ज्ञानी को, परन्तु उसमें

एकत्वबुद्धि नहीं होती। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह ४३ में लिया है। १४३ में, नहीं? अर्थ में लिया है। ज्ञानी को पर का भाव हो, राग आवे, परन्तु वह स्वयं ज्ञाता-दृष्टा बनाये रखकर ऐसा राग आता है। यह तो अकेला राग। अच्छी वस्तु को ग्रहण करूँ, खोटी को छोड़ूँ।

पद्मनन्दि में तो ऐसा आता है। धर्मी है (वह) ऐसा देश हो, उसे छोड़ दे। आता है भाई! देश को छोड़ दूँ, ऐसा आता है। पद्मनन्दि पंचविंशति में। अपने व्याख्यान पढ़े हैं। उस स्थान में संग खोटा हो और अच्छा संग नहीं, उसे छोड़ दे। ऐसा आता है। उसका लक्ष्य छोड़ना तो छोड़ दूँ, ऐसा आता है।

मुमुक्षु : उसके प्रति लक्ष्य छोड़ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छोड़ना ऐसा आता है। देश छोड़ना, ऐसा आता है, हों, वहाँ। अभी आया था। ख्याल भी था। शब्दकोष में भी आया है बहुत। उसका पक्ष जरा व्यवहारपक्ष है। आहाहा! व्यवहार से यह छोड़ना, अमुक यह करना, यह करना, बाह्य के त्याग में भी कुछ अंश है निश्चय का। धूल भी नहीं। उसे याद है, हों! सम्मेदशिखर, (संवत्) २०१३ के वर्ष। खबर है? व्यवहारनय में भी कुछ अंश है निश्चय का। कहा, जरा भी नहीं। आहाहा! पराश्रय वृत्ति उठे, उस राग में और निश्चय अंश कैसा? आहाहा!

मुमुक्षु : उस राग में अशुभ का अभाव होता है इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो स्वभाव सन्मुख ढलने पर जरा विकल्प आवे कि मैं ऐसे ढलूँ, परन्तु उस विकल्प का आश्रय छोड़कर ढले, तब यथार्थ कहलाता है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात है। वीतरागमार्ग... आत्मा में जाना और बाहर से लक्ष्य छोड़ना, लक्ष्य छोड़ना। वस्तु छोड़ना और ग्रहण करना, यह वस्तु में नहीं है। नवरंगभाई! बहुत सूक्ष्म। यह तो ऐसा यहाँ चलता है। शहर में तो (ऐसा लगे कि) यह क्या लगायी है? और एक तो मानो कितने ही तो झोला खाते हों (नींद निकालते हों)। आहाहा! यह क्या कहते हैं?

कहते हैं कि अन्तर्जल्प विकल्पादि और राग-द्वेष का त्याग ज्ञानी को होता है। अन्तर स्वभाव में दृष्टि करने से और स्वभाव में स्थिर होने से, उस प्रकार के राग का त्याग होता है। और उस समय स्वरूप का स्वीकार उस प्रकार का होता है। स्वरूप का स्वीकार।

चिदानन्दादि का होता है। चिदानन्द भगवान आत्मा। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। वह कहीं दया, दान, व्रत के विकल्प / राग, उसस्वरूप आत्मा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : महाराज! इसमें आदि शब्द क्या लेते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : चिदानन्द आदि यह शान्ति, अन्दर शान्ति-शान्ति। आनन्द और शान्ति की स्थिरता है न? है न? स्वरूप को ग्रहण करने पर अनन्त गुण को ग्रहण करता है और इससे अनन्त गुण का अंश निर्मल होता है। आहाहा! एक तो मानो कर्म से विकार होता है, इसकी बड़ी दिक्कत और बाहर का त्याग करूँ द्वेष से, यह बड़ी दिक्कत है। आहाहा!

यहाँ तो आचार्य यह कहना चाहते हैं कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप में किस ज्ञेय को छोड़े? और किस ज्ञेय को ग्रहण करे? आहाहा! तो जो ज्ञेय परवस्तु है, उसे मैं ग्रहण करूँ और छोड़ूँ, यह भाव मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी मार्ग की दशा है। समझ में आया?

जो निष्ठितात्मा अर्थात् कृतकृत्य आत्मा है, उसको अन्तर में या बाह्य में (कुछ) ग्रहण नहीं है तथा अन्तर या बाह्य में (कुछ) त्याग नहीं है। पूर्ण जहाँ हो गया केवलज्ञान, उसे तो राग को छोड़ना या स्वरूप को ग्रहण करना, यह तो है नहीं। साधक जीव के लिये यह है। आहाहा! यहाँ तो अभी पर की दया पालना, ऐसा जो भाव है, वह तो राग है। वह राग पर की दया पाल सकता नहीं, तथापि मैं पालता हूँ—ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व मान्यता है। आहाहा! समझ में आया?

यह लिखा है न इसमें अहिंसा। नहीं आया था अभी अखबार में कि सत्य श्रद्धा में अहिंसा है। सत्य बोलूँ उसमें असत्य की हिंसा का त्याग है। इतनी उसमें अहिंसा है। मिथ्या बात है। वह सत्य को बोलूँ, ऐसा जो विकल्प है, वही हिंसा है। समझ में आया? यह आया नहीं था अखबार में? ऐसा कि पंच महाव्रत के स्वरूप में अहिंसा है। किस प्रकार? कि पर को मारने का भाव जितना छोड़ा, उतना अहिंसाभाव आया। झूठी बात है। पर को मारने का भाव छोड़ूँ, यह भी एक विकल्प है। पाँच महाव्रत के विकल्प बन्ध

अधिकार में लिये हैं। जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह, ऐसे पाँच भाव पाप हैं; वैसे यह पंच महाव्रत के परिणाम—यह हिंसा छोडूँ हूँ,... छोड़ता हूँ, यह भी विकल्प और राग है। समयसार में बन्ध अधिकार में आता है। पण्डितजी! बन्ध अधिकार में आता है। किसे खबर है? ऐसे पाँच अव्रत के भाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, परिग्रह यह पापभाव है, वैसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का भाव, वह पाँच पुण्यभाव है, बन्ध का कारण है। आहाहा! बन्ध अधिकार में आता है। आता है कान्तिभाई? चन्दुभाई! कहाँ? बन्ध अधिकार में। आहाहा!

जैसे हिंसा कर नहीं सकता पर की, परन्तु हिंसा करने का भाव वह बन्ध का कारण है। वैसे पर को न मारने का भाव दया, वह भी बन्ध का कारण है। असत्य बोलूँ, ऐसा जो भाव, वह भी बन्ध का कारण है। वैसे सत्य बोलूँ ऐसा जो भाव... आहाहा! वह भी बन्ध का कारण है। जादवजीभाई! यह तो मार्ग, बापू....

मुमुक्षु : जो करने का हो वह बताओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करने का कहा न यह! स्वसन्मुख की दृष्टि करना। परसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर स्व की दृष्टि करना। यह इसके लिये तो यह सब लगायी है। आहाहा! वह करे तो कुछ किया कहलाये, ऐसा कहे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। भगवान तो इन पाँचों को पुण्य के भाव बन्ध का कारण कहते हैं। आहाहा! अहिंसा परमो धर्म यह नहीं। आहाहा! अहिंसा परमो धर्म तो उसे परमात्मा कहते हैं कि हिंसा और दया दोनों का भाव न हो और आत्मा की अरागी दशा उत्पन्न हो, उसे अहिंसा परमो धर्म कहते हैं।

जैसे पाँच अव्रत के भाव—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-मैथुन और परिग्रह, ये पाँच भाव वह पाप है और बन्ध का कारण है; वैसे हिंसा का त्याग ऐसा जो विकल्प, वह भी बन्ध का ही कारण है। वैसे सत्य बोलने का विकल्प, वह भी बन्ध का ही कारण है। वैसे चोरी के त्याग का विकल्प, वह बन्ध का ही कारण है, वैसे अब्रह्म को छोड़ने का विकल्प, ब्रह्मचर्य पालन करूँ, ऐसा भाव... आहाहा! वह विकल्प है। पाँचों बन्ध के कारण हैं। अरे! ऐसा वीतरागमार्ग कहाँ इसे मिले? भाई!

मुमुक्षु : पुण्य आस्रव में लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य आस्रव में लिया है। पुण्य आस्रव है। पंच महाव्रत के परिणाम कहा न? पुण्यास्रव है, धर्म नहीं। आहाहा! अज्ञानियों ने उसे धर्म मनवाकर सबको जोड़ दिया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, धर्मी को तो अन्तर के विकल्प का त्याग हो जाता है और चिदानन्दस्वरूप का अनुभव होता है, स्वीकार हो जाता है। बस! यह ग्रहण-त्याग है। अज्ञानी को बाह्य का यह त्याग करूँ और इसे मैं ग्रहण करूँ, मिथ्या कुदेव-कुगुरु को छोड़ूँ, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ग्रहण करूँ। प्रेमचन्दभाई! भारी कठिन बातें। यह दोनों पर के ग्रहण-त्याग का भाव दोनों मिथ्यात्व है।

जो निष्ठितात्मा अर्थात् कृतकृत्य आत्मा है,... जिसे भगवान आत्मा का पूर्ण स्वरूप का अनुभव (हुआ), उसे तो कुछ विकल्प को छोड़ना और स्वरूप को ग्रहण करना, ऐसा रहता नहीं। आहाहा! आत्मा का आश्रय करना। शुद्धनय से आत्मा का आश्रय करना और राग का आश्रय छोड़ना, यह बात तो साधक जीव को होती है। राग का त्याग, हों, वह। पूर्ण हो गये उन्हें, कृतकृत्य केवली है उन्हें कुछ नहीं, बस। ग्रहण करना नहीं और छूटना भी नहीं अन्दर राग से, हों! पर से तो यहाँ बात है नहीं। **अन्तर में या बाह्य में (कुछ) ग्रहण नहीं है तथा अन्तर या बाह्य में (कुछ) त्याग नहीं है।** आहाहा!

भावार्थ - बहिरात्मा, जो पदार्थ इष्ट लगते हैं, उनको ग्रहण करना चाहता है... देखा! जो कुछ ठीक लगे। अपने को धर्म साधन में जिसकी आवश्यकता लगे, उसे ग्रहण करना चाहता है। शरीर में निरोगता हो तो धर्म करने को अनुकूल पड़े, वह अज्ञानी इस प्रकार से मानता है। रोग की अवस्था को छोड़ना चाहता है। निरोग शरीर आद्यम् खलु धर्म साधनं। आता है या नहीं? पुरुषार्थसिद्धि में आता है। वह तो निमित्त के कथन हैं। आहाहा!

और जो पदार्थ अनिष्ट लगते हैं, उनका त्याग करना चाहता है। यह अनिष्ट है। स्त्री अनिष्ट है, परिवार अनिष्ट है, लक्ष्मी अनिष्ट है। उसे त्याग करना चाहता है। **वास्तव में कोई ज्ञानी या अज्ञानी, बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं,...** अज्ञानी यह बाह्य का त्याग और बाह्य का ग्रहण नहीं कर सकता। (मात्र) मानता है। आहाहा!

बाह्य का त्याग करूँ, ऐसा जो मानना यदि छोड़ दे तो फिर स्वच्छन्दी हो जाएगा। सेठ न कहा न? स्वच्छन्दी का अर्थ क्या? बाह्य को छोडूँ, वह स्वच्छन्दी है। क्योंकि बाह्य पदार्थ छूटे हुए पड़े हैं, उन्हें ग्रहण भी नहीं किये तो उनमें छोड़ना रहता नहीं। आहाहा! धीरुभाई! बहुत सूक्ष्म। यह तो एक व्यक्ति कहता था। ऊँट को... क्या कहलाता है? घेरा (परिधि)। घेरा लगाया है। बात तो ऐसी है। कहीं भटकता हो, उसे ऐसी बात में झुकाया। यह तो उसकी योग्यता से आये हैं न? आहाहा!

कोई ज्ञानी या अज्ञानी, बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं,... आहाहा! पानी में पड़ी मक्खी, उसे ऐसे उठाने की क्रिया वह आत्मा नहीं कर सकता। बात आती है न? लोग पानी में नहाने जाते हैं। नहाने जाने में उन्हें बिच्छू आया बिच्छू। इसलिए उसे दया आयी। बिच्छू को ऐसे लिया। डंक मारने लगा। गिर गया। और फिर दया आयी... अरेरे! यह पानी में जाता है। दूसरा व्यक्ति खड़ा था, वह कहे, परन्तु तू क्या करता है यह? वह कहे, परन्तु यह बिच्छू इसका (स्वभाव) छोड़ता नहीं तो मैं मेरा भाव कैसे छोडूँ?

मुमुक्षु : करुणाभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : करुणाभाव। उसे उठाने जाता हूँ तो मुझे काटता है। हाथ में रह नहीं सकता। छूट जाता है। और पानी में डुबकी मारकर हाथ में लूँ, और डसता है। अब उसके भाव को वह नहीं छोड़ता तो मेरा करुणा का भाव है, उसे कैसे छोडूँ। ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा पर का त्याग और ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि पर तो ज्ञेय है। उसका त्याग ग्रहण नहीं कर सकता। **तथापि बहिरात्मा उनका ग्रहण-त्याग करना मानता है—यह उसकी मूढ़ता है।** यह तो ज्ञेय और ज्ञायक सम्बन्ध है, तदुपरान्त त्याग-ग्रहण का सम्बन्ध मानने जाये, मिथ्यात्व मूढ़ता है, ऐसा कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण १२, शुक्रवार, दिनांक ०७-२-१९७५, श्लोक-४७-४८, प्रवचन-५९

दूसरा पेरेग्राफ। ७५। कहते हैं कि यह आत्मा जो शुद्ध चैतन्य है, उसका जहाँ अन्तर वेदन हुआ है, भान / सम्यग्दर्शन (हुआ है कि) शुद्ध चैतन्य वस्तु पवित्र पूर्ण है। उसके भान में अन्तरात्मा को अन्तर में शान्ति और श्रद्धा का अंश पहला उत्पन्न होता है, उसे अन्तरात्मा कहते हैं। वह **अन्तरात्मा, आत्मस्वरूप में ही ग्रहण-त्याग करता है...** उसे बाह्य पदार्थ का ग्रहण-त्याग होता नहीं। अज्ञानी को भी बाह्य का त्याग-ग्रहण नहीं होता, परन्तु वह मानता है कि यह बाह्य पदार्थ अनिष्ट हों, उन्हें छोड़ दूँ; इष्ट हों, उन्हें ग्रहण करूँ। ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानी को यह बात रहती नहीं। (वह) तो अन्तर में स्वरूप को ग्रहण करता है और राग को छोड़ता है। ऐसी बात है।

वह बाह्यपदार्थों से चित्तवृत्ति हटाकर, स्वसन्मुख होकर, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ग्रहण करता है;... शुद्ध चैतन्यस्वभाव पूर्ण आनन्द को धर्मी जीव पकड़ता है, ग्रहण करता है। **वैसा करने से राग-द्वेषादि का व विकल्पादि का त्याग स्वयं हो जाता है।** स्पष्टीकरण किया। चैतन्य आनन्द का स्वरूप है उसका। उसका जिसे ग्रहण है, अतीन्द्रिय आनन्द का ग्रहण है, उसे राग की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए राग को छोड़ता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बाह्य का ग्रहण-त्याग तो वस्तु के स्वरूप में है नहीं। बाह्य पदपदार्थ को ले क्या और दे क्या? यह पैसे देते हैं न? यह पैसे देते हैं न दान में?

मुमुक्षु : हाथ में ले न।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ले? हाथ ही इसका नहीं, वहाँ दे किसे? आहाहा! पैसा, वह जड़ है। वह ले किससे और दे किसे? आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप ही ऐसा है। अनादि से उसकी जाति को देखा नहीं। इसलिए परजाति को ग्रहण करूँ और छोड़ूँ, ऐसा उसे विकल्प और भ्रमणा रहती है। आहाहा!

रागादि की अनुत्पत्ति, वही त्याग है। यहाँ सुना हुआ था न, इसलिए फिर (स्पष्ट किया है)। परपदार्थ का त्याग और ग्रहण, इससे उसका स्वरूप शून्य है। आहाहा! कुण्डलपुर आया? कहाँ आया यह? यह दमोह से। दमोह से। दमोह से कुण्डलपुर दूर आया?

मुमुक्षु : २२ मील।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। उन्हें ठहराया है वहाँ। यहाँ भी ठहराया है। कितने ही जगह जाऊँगा। आज आया था बड़ा... आमन्त्रणपत्रिका। आहा! कहते हैं कि प्रतिमा को आत्मा पधरा नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रतिमा को पधराने के लिये तो आप विहार करते हो यहाँ से भोपाल तक।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! एक तो प्रतिमा को उठा नहीं सकता और रख नहीं सकता। ऐसी बात, भाई! क्योंकि वह तो परपदार्थ है। इसे विकल्प हो, परन्तु वह विकल्प अज्ञानी को, उसे मैं रखता हूँ, उसे पधराता हूँ और उसे छोड़ता हूँ, ऐसा विकल्प होता है। आहाहा! बहुत भारी कठिन बात, भाई! ज्ञानी को ऐसा विकल्प होता है, यह है, वह मेरा राग है, उसके ऊपर लक्ष्य जाता है इतना। परन्तु मैं उसे पधरा सकता हूँ, स्थापन कर सकता हूँ, उस जगह, (ऐसा वह मानता नहीं)। स्वरूपचन्दभाई! ऐसी भारी कठिन बात! आहाहा! प्रतिमा के मन्दिर बनाना....

मुमुक्षु : आप तो वह चूना* लेकर सर्वत्र घूमते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूना डालते हैं न नीचे। कौन डाले भाई? वह तो उस काल में जड़ की पर्याय उस प्रकार से वहाँ क्रियावतीशक्ति के कारण से वहाँ अन्दर जाती है। भगवान के नीचे चूना-चूना पधराते हैं न? आहाहा! ऐसा स्वरूप है, वह तो ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान क्या करे? दूसरी चीज़ को उठाये? दूसरी चीज़ को स्थापित करे? आहाहा! ऐसी कठिन बातें। उसे विकल्प आवे इतना, बस। उसकी मर्यादा विकल्प आवे उतनी। फिर विकल्प आया, इसलिए वह वहाँ परपदार्थ को लेता है या छोड़ता है, (ऐसा तीन काल में नहीं है)। आहाहा! कठिन बात, भाई! इसलिए यह लोगों को ऐसा लगता है न कि यह तो निश्चय एकान्त है। परन्तु निश्चय एकान्त नहीं। वह विकल्प आया, वह अभी व्यवहार है और उसे स्थापित करूँ और दूँ, वह तो व्यवहार भी नहीं है। वह तो अज्ञान है। आहाहा! कान्तिभाई! क्या है यह? यह कहते हैं, देखो!

---

* चूना (प्रतिमा की प्रतिष्ठा / स्थापना के लिए)

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥ ४७॥

इसकी तो व्याख्या चलती है। स्वपदार्थ को, परपदार्थ को कुछ लेना-छोड़ना ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र हो तो अन्तर स्वरूप में लक्ष्य जाने पर उसे ग्रहण करता है, ऐसा आवे-कहे। आता है न? प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करता है। प्रज्ञा द्वारा भिन्न किया, प्रज्ञा द्वारा ग्रहण किया जाता है। सर्वविशुद्ध (ज्ञान अधिकार में)। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान की पर्याय द्वारा उसने राग को और पर को भिन्न किया। ज्ञान की पर्याय अन्तर्मुख झुकने पर, राग और शरीर से चैतन्य को भिन्न किया। अब कहते हैं कि उसे भिन्न किया परन्तु पकड़ना किस प्रकार? ऐसे भिन्न किया, ग्रहण किस प्रकार करना? आहाहा! कि जिस प्रकार से... आहाहा! ज्ञान की पर्याय, स्वभाव को पर से भिन्न किया, उसी पर्याय से उसे ग्रहण करना। ऐसा मार्ग है भाई वीतराग का! यह उसका त्याग-ग्रहण है। यह तो समाधितन्त्र है न? एकदम मक्खन की बात है।

जहाँ स्वरूप चैतन्यस्वरूप की वस्तुस्वरूप की अस्ति का जहाँ स्व का आश्रय लेकर सन्मुख हुआ, तब उसे ग्रहण किया और राग को उस काल में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए राग को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसी उसकी मर्यादा है। दूसरे तो ऐसा कहते हैं कि जो कोई परद्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता, वह दिगम्बर जैन नहीं। अब ऐसी बात ली है। सेठ! इंदौर में ऐसा हुआ था।

मुमुक्षु : भाषण किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषण किया था। अरे... प्रभु! क्या करता है यह? आहाहा!

पर को कर सकता हूँ अर्थात् क्या? अर्थात् क्या? यह परपदार्थ की जो अवस्था उसकी है, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस प्रकार से होनी है, उसे आत्मा क्या करे? आहाहा! यह हाथ ऊँचा हुआ, देखो! यह उसका—परमाणु का उस समय का जन्मकाल—उत्पत्ति का काल, उसकी पर्याय का है। यह आत्मा उसे कैसे ऊँचा करे? आहाहा!

मुमुक्षु : ऊँचा तो किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने किया... किसने किया? हुआ है, उसे करता है, ऐसी अज्ञानी को भ्रान्ति होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : कौन माने?

पूज्य गुरुदेवश्री : न माने तो उसके घर में भटकता है। सेठ! यहाँ बात ऐसी होती है तो सुनने आये हो या नहीं?

मुमुक्षु : इसलिए तो सुनने आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए सुनने आये हैं।

एक हमारे है न, केशवलाल है वढवान का। चन्दुभाई! वह केशवलाल नहीं दशाश्रीमाली? उस ओर से गाँव में से आता है। फिर उसे (किसी ने) कहा कि निमित्त से होता नहीं तो तुम वहाँ सुनने किसलिए जाते हो? उससे पूछा। तब कहे, यह निमित्त से होता नहीं, इसे दृढ़ करने के लिये वहाँ हमारा भाव है। केशवलाल नहीं? व्यापार है कुछ दाने का—अनाज का। वह दूसरे केशवलाल हैं, वे दूसरे। नहीं? विशाश्रीमाली। वे दूसरे। जरीया में दुकान है। उस दरवाजे के पास। वे दूसरे। वह तो यह। यह तो मूल... जरा इसे रस है, इस बात का। फिर सबको... बात अच्छी, तब कहे निमित्त से होता नहीं... निमित्त से होता नहीं तो फिर सोनगढ़ किसलिए जाते हो? निमित्त से होता नहीं, इसकी बारम्बार यादगिरी और स्मरण के लिये वहाँ जाते हैं। उसे दृढ़ करने (जाते हैं)। ऐसा कहते थे। आहाहा! यह तो कठिन मार्ग ऐसा है, बापू!

शुद्धस्वरूप में स्थित आत्मा... शुद्धस्वरूप चैतन्य की अन्तर स्वीकार की दृष्टि होने पर उसमें **(निष्ठितात्मा), कृतकृत्य होने से,...** आहाहा! यह तो किया हुआ काम जो है, वह इसने किया। आहाहा! **उनको बाह्य या अन्तरङ्ग किसी भी विषय में ग्रहण-त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती;...** आहाहा! **वे तो अपने चिदानन्दस्वरूप में सदा स्थिर रहते हैं।** आहाहा! मार्ग ऐसा है। इसने कभी अभ्यास किया नहीं और यह बात सुनने को मिलती नहीं, इसलिए बेचारे फँस गये हैं। आहाहा! कहते हैं कि कोई धर्मात्मा या अज्ञानी इस कफ को चिपका है, उसे खकार करके पृथक् कर सकें और फिर बाहर फेंक दें, (ऐसा नहीं)।

मुमुक्षु : भावनगर दरबार नहीं कर सकते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भावनगर दरबार थे न, जब मरने पड़े अन्त में, तब बड़ा करोड़ का तालुका। स्त्री—रानी पहले से मर गयी थी। लड़के सब छोटे। कृष्णकुमार और सब छोटे थे। अन्त में मरने पड़े, तब डॉक्टरों को कहे कि यहाँ कफ बाधा करता है। यहाँ कफ बाधा करता है। इतना जरा निकालो। डॉक्टर समझते थे कि निकालूँगा तो दूसरा आयेगा वहाँ। भावनगर के दरबार थे। अरे रे! लड़के माँ बिना के हो गये। यह पिता बिना के होते हैं। यह राजा बड़ा है। आहाहा! यह कफ यहाँ से निकालूँ तो निकल जाये ऐसा है। डॉक्टर ने एकाध बार तो निकाला। वहाँ निकाला साथ में दूसरा वहाँ आया। क्योंकि स्थिति जहाँ पूरी होने की है। यहाँ बलखा—कफ। देह छूट गयी। अरे रे! वहाँ अटका। क्योंकि कफ को पकड़ने की स्थिति वहाँ थी और श्वास बन्द होने का ही उसका काल था। आहाहा! उसे वह कर सके... (खखार) करके... डॉक्टर तो कर सकता है या नहीं? नवरंगभाई!

मुमुक्षु : एक तो निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकलने का था। निकलने का था, वह निकला। फिर वापस वह के वह बोले, यहाँ अटकता है। हो गया। आहाहा! अमलदार, अधिकारी खड़े-खड़े टक-टक देखते थे। लड़के छोटी उम्र के। कृष्णकुमार गद्दी पर नहीं बैठे थे। अभी तो कृष्णकुमार का पुत्र है। महाराजा पोढ़ गये, ऐसा कहे। मर गये, ऐसा न कहे। आहाहा! बात तो यह पोढ़ गये नीचे। पापी थे न बहुत? हिंसा बहुत करते थे। नरक में जानेवाले। दूसरा कोई स्थान उसे नहीं होता। आहाहा! जगत को कैसे जँचे यह बात?

बहुत पाप करते थे। शिकार करते थे सिंह, दिपडा का। साथ में ले जाकर हिरण को मारते। हमारी उम्र छोटी दश वर्ष की, वहाँ देखा था उमराला में। दरबार आवे तो दीपडा लावे। और उस दीपडा को पृथक् रखकर माँस आहार दे। माँस का पिण्ड दीपडा ऐसा आवे, और खाये, और ले जाये। ऐसे करते थे। मैंने देखा था वहाँ उमराला में। निवास है न? इसकी उस ओर बाजू में यह रखे। लोगों को न चलने दे कितने ही समय। क्योंकि वह खुला दीपडा हो न खुला। ऐसे करके माँस को रखे थोड़ा पास में, खाने आवे और वापस उस ओर चला जाये। आहाहा!

एक बार तो ऐसा बिना कि दीपडा अन्दर घुस गया, उनके उसमें। पकड़ने गये वहाँ। उसमें और बनिया मिला। उस बनिये ने हाथ डालकर निकालने के लिये, दरबार को अनुकूल करने के लिये। नहीं निकला। हाथ फाड़ दिया। बनिया। यह बनिया भी जैन में न... राजा को अनुकूल होने, ऐसा कि तुमको दीपडा चाहिए है, उसे निकाल दूँ। हाथ पकड़कर उसके मुँह और पैर। आहाहा! वह क्रिया तो जड़ की जिस काल में होनेवाली है उसे आत्मा रोक नहीं सकता। कर नहीं सकता। तत्त्व की स्थिति की मर्यादा ऐसी है। इसलिए विपरीत माने तो विपरीत अभिनिवेषरूपी मिथ्यात्व लगता है। आहाहा! ऐसी बात है।

धर्मी जीव पर के ग्रहण-त्याग से तो निवृत्त हुआ है, परन्तु अपने में ग्रहण और त्याग से निवर्तकर जब स्वरूप में रमता है, कहते हैं कि तब तो वह कृतकृत्य अन्दर स्थित है। ऐसा धर्म गजब, भाई! वे कहते हैं कि जीवदया पालो, धर्म होगा। यहाँ कहते हैं कि जीवदया पालने का तेरा भाव वह मिथ्यात्व है। क्योंकि पर की पर्याय को तू कर नहीं सकता। आहाहा! ऐसा गजब!

मुमुक्षु : सब अलग-अलग विचार समाधान करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग-अलग विचार खोटे, उसका क्या अर्थ?

मुमुक्षु : महावीर का वचन है कि जीओ और जीने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है ही नहीं। हमारे रामजीभाई तो यह कहते हैं। यह तो अंग्रेजी का शब्द है। अपने को कहाँ खबर है यह।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे जिलावे?

यहाँ तो तीन लोक के नाथ का यह वचन है कि तेरा स्वभाव जीवत्वशक्ति, वह गुण है। जीना वह ज्ञान और आनन्द से जीना, वह तेरा एक गुण है। आहाहा! ४७ शक्ति में पहली शक्ति है न? जीवत्वशक्ति चैतन्य भावप्राण से वह जीता है। आहाहा! उसे जीने में वह जीवत्वशक्ति कारण है। समझ में आया? उससे जीव और दूसरे इस प्रकार से जीवे। जीने दो, इसका कुछ है नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन मार्ग, बापू!

जीव जो है, उसमें एक जीवत्व नाम का गुण है। जीव, वह गुणी वस्तु है, उसमें जीवत्व नाम की एक शक्ति, गुण, स्वभाव जो सत् का सत्त्व है, उससे वह जी रहा है। आहाहा! उसे दूसरा इस प्रकार से जिलावे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। इन दस प्राण से जीना, यह उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! मन और इन्द्रिय यह जिसका जीना नहीं है। अलिंगग्रहण में। अलिंगग्रहण के २० बोल है, उसमें एक बोल है ऐसा।

भगवान आत्मा मन और इन्द्रिय से जिसका जीवन नहीं। आहाहा! यह क्या कहा, समझ में आया? मन और इन्द्रिय अर्थात् फिर पाँच इन्द्रिय और छठवाँ मन आ गया न, बाहर दस प्राण। तो वह भावप्राण से इस प्रकार जीवे, वह भी उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! अशुद्ध भावप्राण। अर्थात्? पाँच इन्द्रिय और मन की योग्यता जो उघाड़ की है, उससे जीवे, वह भी उसका स्वरूप-जीवन नहीं है। आहाहा! यह प्राण दस और उससे जीवे, यह तो उसके स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! जीवो और जीने दो। बापू, किसे? सब शोर मचाते हैं, बड़ी शोभायात्रा निकले। सेठिया साथ में हो। जीवो और जीने दो—महावीर का सन्देश है। भगवान ने तो भाई! ऐसा कहा नहीं। क्योंकि दस प्राण से जो जीवे, वह तो जी रहा है, जड़ के कारण से। वह जीवे उससे जीवन, और उसे जीने दो, ऐसा भगवान कहे जिसे, यह वस्तु है नहीं। बात में बहुत अन्तर।

भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त सत्ता और दर्शन, ऐसे स्वभावभाव से उसके भावप्राण हैं, उससे वह जीता है। आहाहा! वह उसका जीवत्व है। उसके इन्द्रिय और मन से जीवन, यह उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! धीरुभाई! यह तो सब बाहर में तो कहीं मिले, ऐसा नहीं है। वह तुम्हारी लड़की शिक्षक, वह कुछ पढ़ाती है न? सब गप्प मारते थे। वह करते हैं न कुछ, नहीं? कोई कहता था। वह तो ऊपरी है। वह पढ़ावे नहीं। परन्तु वह... कोई कहता था। धीरुभाई! क्या समझते हो यह? आहाहा!

यहाँ तो प्रभु तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया, प्रभु! तू तो अलिंग है न! आहाहा! अर्थात्? मन और इन्द्रियों से जीना, वह तो तेरे स्वरूप में नहीं न! ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अलिंगग्रहण में आया है। यह तो सब व्याख्या आ गयी है। २० बोल हैं। अलिंगग्रहण एक शब्द है, उसके २० अर्थ हैं। आहाहा! यह

सन्तों की वाणी है, यह वीतराग के रामबाण कथन हैं। आहाहा! भाई! तू तो चैतन्य भावप्राण, आनन्द और ज्ञान और दृष्टा द्वारा आनन्द और ज्ञान और दृष्टा की अस्ति द्वारा तू रहा हुआ है, वैसा रहे, उसे जीवत्व कहा जाता है। गजब व्याख्या भाई यह तो! आहाहा! समझ में आया? अलिंगग्रहण। यह १३वाँ बोल है, २० बोल हैं न? १३वाँ बोल।

मन, भावमन और द्रव्यमन। भाव इन्द्रिय और द्रव्य इन्द्रिय। यह जिसमें-जीवन में नहीं... आहाहा! ऐसा तो भगवान आत्मा का स्वरूप है। द्रव्यमन रजकण, भावमन, उसमें क्षयोपशम की योग्यता; द्रव्य इन्द्रियाँ यह जड़, भाव इन्द्रियाँ—एक विषय को जानने की योग्यता का क्षयोपशमभाव। कहते हैं कि उससे उसका जीवन ही नहीं है। आहाहा! यह अज्ञानी मान रहा है कि मैं इस प्रकार जी रहा हूँ, यह तो इसे भ्रम है। आहाहा! ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान-दर्शन के अस्तिरूप से टिक रहा है। वह टिक रहा है, वह उसका जीवन है। आहाहा! पोपटभाई! ऐसी बातें कहीं है नहीं, हों! लोगों को बहुत कठिन पड़ती है। मार्ग तो ऐसा है, भाई! आहाहा! इस प्रकार से तू जी न! दूसरे को जीने दे, यह प्रश्न कहाँ है यहाँ? आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे पर तेरा अधिकार ही नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधिकार कहाँ है? और परद्रव्य की पर्याय कैसे होना, नहीं होना, तेरे काम का काम नहीं। आहाहा! आता है न कि मैं दूसरे को मोक्ष कराऊँ। अज्ञान है, कहते हैं। दूसरे को मोक्ष कराऊँ, बन्ध अधिकार में आता है। और दूसरे को भूल में डालकर बन्ध कराऊँ। समझ में आया? दोनों मिथ्या बातें हैं।

एक बनिया था। उसे दूसरे बनिये के साथ बैर था। फिर उसका मकान चिनता था बनिये का। तो दूसरा बनिया मन्दिर की ईंट लेकर उसमें रख आया। इसलिए उसका नुकसान बहुत होगा। उसे तो खबर नहीं बेचारे को कि यह कौन सी ईंट है। वह बात करता था। वैरी-विरोधी मनुष्य था। घर का मकान होता था बनिये की ईंट का। उसमें इसे नुकसान कैसे हो अब? वह मन्दिर बनता था, उसकी एक ईंट लाकर यहाँ रख दी। वह देवद्रव्य हुआ न? परन्तु अब उसे तो खबर नहीं। उसे क्या हुआ? ऐसी की ऐसी भ्रमणायें जगत की। वह ईंट से उसका नुकसान हो, क्योंकि देवद्रव्य था। परन्तु उसे तो खबर नहीं

न! नुकसान कहाँ से होगा? नुकसान तो स्वयं परद्रव्य को ग्रहण करके अपने में डाला, मिलाया हो, ऐसा भाव हो। ग्रहण कर सके, इसका प्रश्न नहीं है। आहाहा! ओहो!

वीतरागमार्ग जन्म-मरण के उद्धारक का पन्थ अलौकिक है। लौकिक में से निकलना तो लोकोत्तर मार्ग होगा न? आहाहा! कहते हैं, जीव! तू तो चिदानन्दस्वरूप में सदा स्थिर रह, वह तेरा जीवन है। आहाहा! समझ में आया? विकल्प आवे, तथापि उस विकल्प से उसका जीवन नहीं है। आहाहा! क्योंकि विकल्प का अभाव होता है, तो उस स्वरूप का जीवन तो टिका रहता है। आहाहा!

विशेष - बहिरात्मा को... बहिरात्मा अर्थात् पुण्य-पाप के भाव और शरीरादि परपदार्थ बाह्य, वे आत्मा के स्वभाव में नहीं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, ऐसा जो स्वभाव, उसमें वह विभाव नहीं है, पुण्य-पाप और अन्य द्रव्य नहीं है। तथापि वह विभाव और अन्य द्रव्य मेरे हैं, वह बहिर चीज़ है, उसे मेरी माने, इसका नाम बहिरात्मा है। इसका नाम अज्ञानी। आहाहा! समझ में आया?

बहिरात्मा को अन्दर के चैतन्यतत्त्व का ज्ञान नहीं है,... आहाहा! उसे तो यह बाह्य चीज़ें जो उसमें-स्वरूप में नहीं, उनके अस्तित्व पर इसकी नजर है। परन्तु अन्तर चैतन्यतत्त्व राग और शरीर जो बाह्य चीज़ है, उससे दूसरी चीज़ है, ऐसी तो अज्ञानी को खबर नहीं। आहाहा! **उसको स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है;...** आहाहा! अज्ञानी पर को अपना मानता है। राग को, पुण्य के-पाप के भाव को और उनके फलरूप से प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री, वह अपनी है—ऐसा मानता है। उसे स्व—मैं ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप हूँ, पर—राग और अजीवतत्त्व अर्थात् आस्रव और अजीवतत्त्व, वह भिन्न है। ज्ञायकतत्त्व से—चैतन्यतत्त्व से राग और अजीव—आस्रव और अजीव दोनों भिन्न है। उसे वह स्व-पर को भिन्न जानता नहीं। आहाहा!

जो बाह्यपदार्थ देखता है, उनके साथ एकताबुद्धि करता है। क्योंकि अन्दर चैतन्यतत्त्व है, उसकी तो उसे खबर नहीं। आहाहा! इसलिए जहाँ बाह्य देखता है, उसे उसमें से मुझे मजा आता है, मुझे सुख होता है, ऐसा अज्ञानी पर में मानता है। आहाहा! **जो बाह्यपदार्थ देखता है, उनके साथ एकताबुद्धि करता है।** आहाहा! शरीर, इन्द्रियाँ वह

उसके लक्ष्य में आती हैं। लक्ष्य में वह चैतन्यस्वरूप तो लक्ष्य में लिया नहीं। अपने जीवन का जीवत्व ऐसा तत्त्व, कायम टिकता जो ध्रुव तत्त्व, उसे तो लक्ष्य में, आश्रय में लिया नहीं। इससे बाह्य देखता है, उसे (अपना) मानकर उसमें अटका हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

साधु हो तो भी यह शरीर और इन्द्रियों से काम ले, मैं ले सकता हूँ, यह बाह्य देखे उसकी एकताबुद्धि है उसे तो। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि ज्ञान की पर्याय अन्तर तत्त्व सन्मुख तो गयी नहीं। इसलिए अन्तर तत्त्व जो चैतन्य स्व है, उसकी उसे खबर नहीं। बहिर् जो उसमें नहीं, उस पर इसकी नजरें हैं। आहाहा! भाव इन्द्रिय खण्ड-खण्ड, वह मेरा अवयव है। आहाहा! और यह इन्द्रियाँ भले जड़ हैं परन्तु इनसे मैं जानने का काम कर सकता हूँ, ऐसा माननेवाला देखे, उसमें उसकी एकताबुद्धि है। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसा है।

उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके,... नहीं देखे हुए तत्त्व को देखता नहीं और देखता है, वह तो सब बाह्य तत्त्व है। आहाहा! इससे बाह्य तत्त्व में यह ठीक है, शरीर ठीक रहता है, निरोगता है और रोग होने पर, वह अनिष्ट है, इसी तरह स्त्री, कुटुम्ब, परिवार इसे प्रिय लगे, वह इष्ट है इसलिए मुझे प्रिय है। दुश्मन आदि अनिष्ट है, इसलिए अप्रिय है। ऐसी अज्ञानी कल्पना करता है। आहाहा! ऐसा।

राग-द्वेषभाव से उनका ग्रहण-त्याग करने के लिए दौड़ता है... क्या कहते हैं यह? स्वयं चैतन्यस्वरूपी, ज्ञानस्वरूपी, ज्ञ—स्वरूपी ही आत्मा है, तो इस ज्ञानस्वरूपी की अस्ति के जीवन की तो इसे खबर नहीं, इसलिए जो ज्ञान की पर्याय बाहर की ओर जो ढलती है, और वह जिसे देखती है, उसमें ही इसे इष्ट-अनिष्टपना मानकर कल्पना की झंखना किया करता है। आहाहा! **बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग करने के लिए दौड़ता है...** आहाहा! सर्प काटा हो न जब सर्प? ऐसे देखे काला नाग। करे या नहीं? होता नहीं, होता है। काला नाग चिपटा हो, उसे चलता नहीं करे और फिर उस नाग की आदत ऐसी होती है, जिसे काटता है और वह थैली होती है, ऐसे वह ऐसे डाले तब उसे जहर पड़े। उसकी दाढ़ में जहर की थैली होती है। इसलिए वह वापस काटकर ऐसा करे, तब जहर डाले उसमें। और यह काटते समय उसको डाले। पैर में काटते हैं कितने को। पैर ऐसे झटके।

आहाहा! उसको छोड़ने के लिये। अनिष्ट लगता है, उसे छोड़ना चाहता है और चन्दन चुपड़नेवाले को इष्ट लगकर उसे अच्छा करता है। ऐसी कठिन बातें, भाई!

परन्तु बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग उसके आधीन नहीं है। आहाहा! बाह्य पदार्थों का लेना और छोड़ना, झटककर छोड़ देना और अनुकूलता, वह हाथ से उसे ग्रहण करना, यह आत्मा का अधिकार नहीं है। ऐसा पंगु होगा?

मुमुक्षु : अपना करे या पर का करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के लिये पंगु और अपने लिये शूरवीर। आहाहा! अपने काम ज्ञाता-दृष्टा के करने में यह वीर है। पर का काम करने के लिये भगवान अनादि का पंगु है। उसकी स्थिति में क्या कर सकता है या क्या नहीं कर सकता? इसकी भी जिसे खबर नहीं और उसे धर्म हो जाये, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

वे पदार्थ तो स्वयं के कारण से आते-जाते हैं। क्या कहा, समझ में आया? आहार-पानी, स्त्री, कुटुम्ब, उनके कारण से आते हैं और उनकी अवधि होने पर वे स्वयं छूटकर उनके कारण से जाते हैं। यह आत्मा उन्हें ग्रहण कर सके, रख सके, छोड़ सके— ऐसा नहीं है। जेठाभाई! ऐसा कठिन, भाई! **विपरीतमान्यता के कारण, उसका बाह्यग्रहण-त्याग, राग-द्वेषगर्भित है।** आहाहा! लोग कहते हैं न खाने काल में, भाई! पेट में दाँत नहीं, इसलिए चबाकर खाना। ऐसा कहते हैं न, भाई! ऐई... धीरुभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह इन्द्रिय का आता है न। अन्दर पेट में दाँत नहीं।

यह जमींदारनी फुरसत में हो न जमींदारनी? फुरसत में तिल खाये। थोड़ा तिल ले जरा... निवृत्त, कुछ काम नहीं हो। उसे कुछ काम न हो। जमींदार की स्त्री। ऐसे निगले... निगले... निगले... तिल... रक्त व्यवस्थित हो। आहाहा! और यहाँ कहा न कि बराबर चबाकर खाना। अन्दर दाँत नहीं है। चबाकर खाना, अन्दर दाँत नहीं। यह सब क्या, धीरुभाई? बराबर राब जैसा, पतला करके खाये। अरे... भगवान! किसे करे पतला? कौन करे-रखे? आहाहा! यह दाँत की चबाने की क्रिया, वह जड़ की है। उसे आत्मा कर सकता है या छोड़ सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसे परद्रव्य से भिन्न करना, उसे महा अनन्त काल में अभ्यास नहीं न! साधु होकर भी इसने शरीर की क्रिया मेरी है। मैं जैसे इसे हिलाऊँ, वैसे चलता है। क्योंकि यह शरीर और इन्द्रियाँ जो है, वह ज्ञान है तो... यह यहाँ ले जाना है, देखो! यह वहाँ ले जाये इन्द्रिय को। ऐसा आता है एक जगह। ऐसा कि ज्ञान है न, तो उसे ऐसे ले जाना (हो) तो ले जाये। ज्ञानसहित शरीर है न, तो इन्द्रियाँ भी उसे जिस मार्ग में, जहाँ जाना चाहे, वहाँ वह स्वयं इन्द्रियों को ले जाये। इन्द्रियाँ वहाँ जाती है। आहाहा! ऐसी ही मिथ्या बात है। समझ में आया? ऐसा कहकर इन्द्रियों को सचेत सिद्ध करके उसमें भी काम करने की जो उसके लक्ष्य में है, वह काम करने में ढल जाती है इन्द्रियाँ ऐसी। नहीं? रोटी के टुकड़े करे, और दाल में डुबोबे, फिर वह ले... क्या कहलाता है? चूरण। क्या कहलाता है वह? चटनी... चटनी। फिर वह करे। यह क्या है, कहते हैं? यह ले नहीं सकता, चबा नहीं सकता और गले उतार नहीं सकता। भाई! तू परद्रव्य और स्वद्रव्य की एकता मान रहा है, यह बड़ी भूल है। चाहे तो साधु हुआ हो, तो भी यह उसकी भूल गयी नहीं। साधु बाह्य द्रव्यलिंगी हो। आहाहा!

कहते हैं कि **विपरीतमान्यता के कारण, उसका बाह्यग्रहण-त्याग, राग-द्वेषगर्भित (ग्रहण-त्याग) है।** आहाहा! खाते हुए भी यदि कुछ चूरमे का टुकड़ा हो चूरमा, उसमें कुछ टुकड़ा आ गया पत्थर का। क्या कहलाता है? चिप्स। चिप्स होती है न मिश्री जैसी? चिप्स पत्थर की चिप्स। बहुत बारीक (हो)। यह स्तम्भ किये न चिप्स के प्रवचन मण्डप में। आहाहा! उसका एक कण आ गया है चूरमा में तो सीधे दो दाँत नीचे बाधा करे, खटके। खटके तो जीभ ने उसे छाँटकर ऐसे बाहर निकाल डाले। कहते हैं कि यह कर नहीं सकता।

मुमुक्षु : बात बात में अन्तर।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात-बात में अन्तर। भाई! तुझे भिन्नता की खबर नहीं है। 'जड़ अरु चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न...' आहाहा! उस परद्रव्य को मैं ग्रहण करूँ और उसके काम को मैं अनुकूल होऊँ तो मेरा काम अनुकूल हो। मेरा लक्ष्य शरीर को वहाँ ले जाने का हो तो इन्द्रियाँ वहाँ जाये। यह भ्रम है। समझ में आया? ऐसा स्वरूप वीतराग का।

भेदज्ञानस्वरूप है। वह एकतारूप से मानकर चार गति में भटक रहा है।

उसके अभिप्राय में आत्मस्वभाव का त्याग और विभाव तथा परभावों का ग्रहण है। उसके अभिप्राय में—मिथ्या अभिप्राय में आत्मस्वभाव का त्याग है। ज्ञाता-दृष्टा का, उसे अज्ञानी को त्याग है। **विभाव तथा परभावों का ग्रहण है।** आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? **विपरीतमान्यता के कारण, उसका बाह्यग्रहण-त्याग, राग-द्वेषगर्भित है। उसके अभिप्राय में आत्मस्वभाव का त्याग...** है। आहाहा! मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। कुछ भी पर का ग्रहण करूँ और लूँ, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! अज्ञानी की मान्यता में—अभिप्राय में आत्मस्वभाव का तो त्याग है। जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, ऐसा कुछ वह मानता नहीं। कुछ करता हूँ, ऐसा मानकर स्वभाव का त्याग, विभाव और परभाव का ग्रहण। मान्यता में, हों! आहाहा! ठीक लिखा है। स्पष्ट किया है।

अन्तरात्मा के अभिप्राय में... अर्थात् श्रद्धा। **मान्यता में...** अर्थात् मान्यता। **परपदार्थों का ग्रहण-त्याग ही नहीं है।** आहाहा! परवस्तु को छोड़ूँ या ग्रहण करूँ, यह ज्ञानी के स्पष्ट अभिप्राय में यह है ही नहीं। आहाहा! **अस्थिरता के कारण किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होती है...** धर्मी को भी, आत्मज्ञानी को भी जरा अस्थिरता के कारण राग-द्वेष की वृत्तियाँ होती हैं। परन्तु उसे उनके साथ में एकता नहीं है। आहाहा! **स्वामीपना नहीं है।** धर्मी को निर्बलता के कारण राग-द्वेष होते हैं परन्तु उसे उनका स्वामित्व नहीं है। तथा उनके साथ एकताबुद्धि नहीं है। आहाहा! **वह वृत्ति भी आत्मस्वरूप का ग्रहण होने पर...** ऐसी जा विकल्पवृत्ति है, वह भी **आत्मस्वरूप का ग्रहण (एकाग्र) होने पर-उसमें स्थिर होने पर, स्वयं विनष्ट हो जाती है...** आहाहा! बहुत सादी भाषा में (कहा है)। हमेशा स्वाध्याय करना चाहिए। सेठ! घण्टे, दो घण्टे बहियाँ जाँचने की अपेक्षा यह जाँचना चाहिए।

मुमुक्षु : बहियाँ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम सेठिया हो न, नहीं मिलती? सेठ तो मौके पर बराबर बोलते हैं। मिलती नहीं, कहते हैं। एक भी घर में नहीं हो न? एक भी घर में नहीं। यह समाधिशतक। आया नहीं। थोड़ी से—पन्द्रह सौ प्रकाशित हुए हैं। बहुत लोग हो गये। पन्द्रह सौ समाप्त हो गये। आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, जिसका जानने-देखने का स्वभाव है, ऐसा जिसे अनुभव में आया, उसे अस्थिरता के कारण जरा राग-द्वेष होते हैं, तथापि उनकी एकताबुद्धि नहीं। क्योंकि जानने-देखने के स्वभाव की जाति नहीं। इसलिए उसे राग-द्वेष के साथ एकता नहीं है और उसका स्वामित्व नहीं। आहाहा! इसलिए **स्वयं विनष्ट हो जाती है-मिट जाती है।** आहाहा!

श्लोक - ४८

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह -

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥ ४८॥

आत्मानं युञ्जीत सम्बद्धं कुर्यात्। केन सह? मनसा मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः। वाक्कायाभ्यां तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः। एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा। वाक्काययोजितं वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं। केन सह? मनसा सह मनस्यारोपित व्यवहारं मनसा त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत्॥४८॥

अन्तर में त्याग-ग्रहण करनेवाला अन्तरात्मा किस प्रकार करे?—वह कहते हैं—

जोड़े मन सङ्ग आत्मा, वचन-काय से मुक्त।
वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन, हो मुक्त॥ ४८॥

अन्वयार्थ **- (आत्मानं) आत्मा को (मनसा) मन के साथ (युञ्जीत) संयोजित करें-चित्त और आत्मा का अभेदरूप से अध्यवसाय करें, (वाक्कायाभ्यां) वचन और काय से (वियोजयेत्) अलग करें—उन्हें आत्मा न समझे (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन-काय से किए हुए (व्यवहारं) व्यवहार को (मनसा) मन से (त्यजेत्) छोड़ देवें; उसमें चित्त को न लगावें।**

टीका - (वह अन्तरात्मा), आत्मा को जोड़े अर्थात् सम्बन्ध करे। किसके साथ ? मन के साथ अर्थात् मानस ज्ञान (भावमन) के साथ। 'मन, वह आत्मा है'—ऐसा अभेदरूप अध्यवसाय (मान्यता) करे—ऐसा अर्थ है और वाणी तथा काय से उसको (आत्मा को) वियुक्त करे-पृथक् करे अर्थात् वाणी और काया में आत्मा का अभेदरूप अध्यवसाय नहीं करे—ऐसा अर्थ है और वैसा करनेवाले वाक् काययोजित अर्थात् वाणी-काय द्वारा योजित अर्थात् सम्पादित 'प्रतिपाद्य' प्रतिपादक भावरूप (शिष्य-गुरु सम्बन्धरूप) प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहार को; किसके साथ (सम्पादित) ? मन के साथ अर्थात् मन में आरोपित व्यवहार को; मन से तजे अर्थात् मन में चिन्तवन नहीं करे।

भावार्थ - अन्तरात्मा, भावमन को वाणी और देह की क्रिया की तरफ से (प्रवृत्ति से) वियुक्त करके-अलग करके, आत्मस्वरूप में लगावे अर्थात् उसके साथ अभेद करे-तल्लीन करे और वाणी तथा काय द्वारा सम्पादित प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को मन में से तजे अर्थात् उसका विचार छोड़ दे।

विशेष स्पष्टीकरण -

वाणी-काय की प्रवृत्ति, जड़ की क्रिया है; वह आत्मा नहीं कर सकता। अन्तरात्मा को भेदज्ञान है, इससे वह अपने उपयोग को वाणी-काय की क्रिया की ओर से हटाकर, अपने आत्मस्वरूप में रोकता है।

जहाँ तक जीव, वचन-काय की क्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है-उसको आत्मा की क्रिया समझता है, वहाँ तक उसका उपयोग वहाँ से छूटकर, स्वसन्मुख नहीं झुकता और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता।

उपयोग द्वारा स्व का ग्रहण करने में ही समस्त परद्रव्यों का और परभावों का स्वयं त्याग हो जाता है।

निचलीभूमिका में ज्ञानी का उपयोग कदाचित् अस्थिरता के कारण, वाणी-काया की क्रिया द्वारा पर के साथ के व्यवहार में जुड़ता है परन्तु उसमें उसको कर्तृत्वबुद्धि का अभाव है-अभिप्राय में उसका निषेध है। जैसे - रोगी को कड़वी दवा के प्रति अरुचि होती है; इसी प्रकार ज्ञानी को उनके प्रति उदासीनता होती है; इसलिए

ज्ञानी का उपयोग, शरीरादि की क्रिया में जुड़ा हुआ दिखने पर भी, वह नहीं जुड़े हुए के समान है।

शरीर-वाणी की क्रिया में एकताबुद्धि का-आत्मबुद्धि का त्याग और शुद्धात्मस्वरूप का ग्रहण—यही अन्तरात्मा का अन्तरङ्ग त्याग-ग्रहण है।

यहाँ आचार्य ने व्यवहार के त्याग का निर्देश किया है, वह ऐसा सूचित करता है कि आत्मकार्य के लिए, व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है॥४८॥

श्लोक - ४८ पर प्रवचन

अन्तर में त्याग-ग्रहण करनेवाला अन्तरात्मा किस प्रकार करे?—वह कहते हैं— ४८।

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥ ४८॥

जोड़े मन सङ्ग आत्मा, वचन-काय से मुक्त।
वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन, हो मुक्त॥ ४८॥

इसमें नहीं। है? यह रहा।

टीका - (वह अन्तरात्मा), आत्मा को जोड़े अर्थात् सम्बन्ध करे। किसके साथ? मन के साथ अर्थात् मानस ज्ञान (भावमन) के साथ। 'मन, वह आत्मा है'—ऐसा अभेदरूप अध्यवसाय (मान्यता) करे... अन्तरात्मा, हों! अपने स्वभाव की एकता ऐसी करे। **और वाणी तथा काय से उसको (आत्मा को) वियुक्त करे-पृथक् करे...** कहते हैं, ज्ञानभाव को, उसे मन कहा। ज्ञानभाव को अपने से अपने में जोड़े और वचन तथा काय को अपने से तोड़े अर्थात् पृथक् करे, वियुक्त करे। आहाहा!

वाणी और काया में आत्मा का अभेदरूप अध्यवसाय नहीं करे... अध्यवसाय करे नहीं। है? है न इसमें? यहाँ कहते हैं, अन्तरात्मा धर्मी जीव अपनी ज्ञानपर्याय को। मन को, ऐसा लिया है वहाँ। आत्मा के साथ जोड़ता है और वाणी तथा काया को पृथक् रखता

है। वाणी और काया की क्रिया को आत्मा के साथ एकत्व करता नहीं। आहाहा! बोले, भाषण दे, बातें करे व्यापार आदि की। कहते हैं कि वाणी और काया को धर्मात्मा भिन्न रखता है। आहाहा! उन्हें एकपना करता नहीं। ज्ञान की पर्याय को आत्मा के साथ जोड़े, ऐसा करता है। और देह तथा वाणी की क्रिया को उससे पृथक् करता है। आहाहा! समझ में आया? भावमन अर्थात् यह लिया ज्ञान।

मन यह जड़ और भावमन संकल्प-विकल्प, वह यहाँ नहीं लिया। मनन करती जो ज्ञान की पर्याय उसे आत्मा के साथ जोड़ता है और वाणी तथा देह की क्रिया से वियुक्त अर्थात् पृथक् होता है। **और वैसा करनेवाले वाक्—कायोजित अर्थात् वाणी-काय द्वारा योजित अर्थात् सम्पादित 'प्रतिपाद्य' प्रतिपादक भावरूप (शिष्य-गुरु सम्बन्धरूप) प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहार को; किसके साथ (सम्पादित)? मन के साथ अर्थात् मन में आरोपित व्यवहार को; मन से तजे अर्थात् मन में चिन्तवन नहीं करे।** इसकी विशेष व्याख्या आयेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण १३, शनिवार, दिनांक ०८-२-१९७५, श्लोक-४८, प्रवचन-६०

...उसका आश्रय करने पर, उसके सन्मुख होने पर शरीर, वाणी, कर्म और पुण्य-पाप के भाव से भिन्न पड़ जाता है। तब धर्म की पहली दशा—अन्तरात्मदशा प्रगट होती है। समझ में आया? अन्तरात्मा शब्द है न पहला? अन्तरात्मा अर्थात् कि जिसे पहले से शरीर, कर्म और राग से जो चैतन्य भिन्न है अर्थात् कि शरीर पर, अजीव पर, उससे आत्मस्वभाव भिन्न है और पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव, वह आस्रवतत्त्व है, मलिनदशा है, उससे निर्मल चैतन्यस्वभाव भिन्न है। ऐसी जिसे अन्तर्दृष्टि हो, उसे अन्तर के आनन्द की पहली दशावाला कहा जाता है। समझ में आया?

यह **भाव,...** संकल्प-विकल्पादि भाव और **वाणी और देह की क्रिया की तरफ से (प्रवृत्ति से) वियुक्त करके-...** है न? देह जो यह जड़ है, अजीव है, उससे और मन से, पुण्य-पाप के भाव से और वाणी (से) वियुक्त अर्थात् पृथक् करके। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! उससे वियुक्त अर्थात् जुड़ान है, वह जुड़ान छोड़कर, ऐसा कहते हैं। वीतराग का मार्ग धर्म सूक्ष्म है, भाई! अभी यह गड़बड़ चली है कि उसे यह बात ऐसी लगती है कि... आहाहा! तो फिर यह सब व्यवहारधर्म और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह क्या? यह होता है। परन्तु यह राग है। आये बिना रहता नहीं, तथापि यह राग है। इस राग से चैतन्यस्वभाव जिसे आत्मा कहते हैं, वह स्वरूप से तो भगवान राग की क्रिया से तो भिन्न है, ऐसा जिसने भिन्न करके राग और पर से भेदज्ञान करके आत्मा का अनुभव किया है कि आत्मा तो शुद्ध और ज्ञायक चैतन्य है, उसे यहाँ धर्म की पहली दशावाला अन्तरात्मा—जघन्य अन्तरात्मा कहा जाता है। समझ में आया? इसलिए लोगों को यह गले नहीं (उतरता)। व्रत, तप और भक्ति, यह सब धर्म नहीं? ऐसा (वे) कहते हैं। वह तो शुभभाव है, भाई! पुण्यभाव है। परन्तु पुण्यभाव, (वह) धर्मभाव नहीं।

जिसे वीतराग-सर्वज्ञ धर्म कहते हैं, वह तो इस पुण्यभाव के भाव से भी चैतन्यभाव ऐसा स्व-भाव पृथक् अन्तर करके जाने, अनुभव करे, माने, उसे समकिती और अन्तरात्मा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तरात्मा, भावमन को वाणी और देह की क्रिया की तरफ से (प्रवृत्ति से) वियुक्त करके-अलग करके, आत्मस्वरूप में लगावे... अपना जो स्वभाव शुद्ध ज्ञान और आनन्द, उसमें जिसकी परिणति लगावे। आहाहा! उसे वापस आनन्द करे। जो वर्तमान ज्ञान की दशा परसन्मुख जो राग और शरीर की ओर झुकी हुई थी, उसे अन्तर में झुकाकर उस दशा उसे आत्मा के साथ एक करे, **अभेद करे-तल्लीन करे और वाणी तथा काय द्वारा सम्पादित प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को मन में से तजे...** आहाहा! शुभ की प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति, ऐसा जो शुभभाव, उससे भी निवृत्ति करके। बराबर है? है न? प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार, ऐसा कहा। क्यों शान्तिभाई नहीं आये? देरी से? देरी है। कहो, समझ में आया? काया से, मन से और राग से पृथक् है, ऐसा जिसने अभी सुना भी न हो। समझ में आया?

यहाँ तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव, धर्म का स्वरूप ऐसा होता है - ऐसा वर्णन करते हैं। यह मन में प्रवृत्ति और निवृत्ति। अशुभभाव में प्रवृत्ति में और उसमें से अशुभ से निवृत्ति, यह भी एक शुभभाव है। उसको भी मन में से तजे। आहाहा! उसकी ओर का लक्ष्य छोड़कर उसकी ओर के विचार छोड़ दे, तब स्वरूप में एकाग्र हो। तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, तब उसे धर्म हुआ—ऐसा कहा जाये। आहाहा! शान्तिभाई!

मुमुक्षु : सच्चा धर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा धर्म है। आहाहा! वीतराग परमेश्वर तीर्थंकरदेव का कहा हुआ तत्त्व तो यह है। लोगों को बहुत कठिन पड़ता है। अभ्यास नहीं। और यह पृथक् है, वह वाणी सुनने को भी मिलती नहीं। इसलिए सुनने को मिलती नहीं तो फिर (लगता है कि) यह और पृथक् क्या? भाई! पृथक् प्रभु स्वयं है। समझ में आया? आठ वर्ष की बालिका हो, परन्तु जब वह सम्यग्दर्शन पाती है, नरक का नारकी जब सम्यग्दर्शन पाता है, तब वह मन के शुभ-अशुभ जो विकल्प हैं, उनसे भी आत्मा को भिन्न करता है। यह तो धीर का काम है, भाई! धमाधम बाहर में करे न... बाजा बजावे और ढोल बजावे, पाँच-पचास हजार खर्च करे और धर्म हो जाये, ऐसा मार्ग नहीं है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया?

इसका **विशेष। वाणी-काय की प्रवृत्ति, जड़ की क्रिया है;...** यह वाणी जो बोली जाती है वह भाषा, वह तो जड़ है। वह आत्मा नहीं और आत्मा की नहीं। और यह काया अजीव है यह तो। इसकी क्रिया जो ऐसी होती है, वह तो जड़ की क्रिया है। स्वाहा, पूजा में होता है या नहीं? चावल रखते हैं ऐसे। वह तो सब जड़ की क्रिया है। स्वाहा, वह तो वाणी की क्रिया-जड़ की है। आहाहा! वह क्रिया **आत्मा नहीं कर सकता।** आहाहा!

अन्तरात्मा को भेदज्ञान है,... सम्यग्दृष्टि जीव, सत्यदृष्टि जीव सत् जैसा चैतन्यस्वरूप सत् है, उसमें पुण्य-पाप के भाव वे असत् हैं, उसमें नहीं हैं। आहाहा! शरीर और वाणी की क्रिया तो कहीं रह गयी बाहर। जिसे—अन्तरात्मा को भेदज्ञान है। राग, वाणी और देह से भिन्न हूँ, ऐसा भान है। **इससे वह अपने उपयोग को...** इसलिए वह अपने जानने-देखने के भाव को **वाणी-काय की क्रिया की ओर से हटाकर, अपने आत्मस्वरूप में रोकता है।** आहाहा! यह तो मक्खन की बातें हैं अन्तिम।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मन के विकल्प हैं न? ऐसा कहना है। उसमें विकल्प कहाँ है यह? यह सब जड़।

मुमुक्षु : वाणी से.... मन से भी भिन्न करना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मन से कहा न, परन्तु पहले कहा न। यहाँ बात हो गयी न। पहले तो यह बात की। **अन्तरात्मा, भावमन को वाणी और देह की क्रिया की तरफ से (प्रवृत्ति से)...** कहा पहले। भावार्थ में आया पहले। विशेष स्पष्टीकरण किया था। पहली लाईन में ही स्पष्ट किया था। आहाहा!

जिसमें नहीं, उससे वह वापस मुड़ता है। इस मन के विकल्प में, पुण्य-पाप में आत्मा नहीं है। आहाहा! तथा वाणी, मन और जड़ में आत्मा नहीं है। तथा इस देह की यह हिलने-चलने की क्रिया, वह कहीं आत्मा नहीं है। उससे **हटाकर, अपने आत्मस्वरूप में रोकता है।** आहाहा! आत्मा का स्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप, ज्ञान-दर्शन-आनन्द ऐसा उसका स्वरूप, उसमें वर्तमान दशा को वहाँ रोकता है। उसे अन्तर में धर्मध्यान होता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

जहाँ तक जीव, वचन-काय की क्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है- विशेष में दूसरा बोल। जहाँ तक आत्मा वचन और काया की की क्रिया से अर्थात् कि यह वचन की क्रिया मैं हूँ तो बोला जाता है, मैं हूँ तो यह काया हिलती है, मैं हूँ तो काया को जहाँ ले जाना हो, उस लक्ष्य से काया जाती है। आहाहा! ऐसी एकताबुद्धि है, **उसको आत्मा की क्रिया समझता है,...** वह आत्मा की क्रिया अर्थात् उसे आत्मा करता है, ऐसा समझे **वहाँ तक उसका उपयोग वहाँ से छूटकर, स्वसन्मुख नहीं झुकता...** आहाहा! यह तो अकेला मक्खन है। आहाहा!

और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता। परसन्मुख की एकताबुद्धि में पर से पृथक् पड़ने की क्रिया यह कर नहीं सकता। आहाहा! देह, वाणी और राग, मन, वचन और तन। तन बाहर रहे। मन, वचन और तन से भगवान का ज्ञान भिन्न है। आहाहा! भगवान अर्थात् तू, हों! आहाहा! उसे जब तक पर में एकत्वबुद्धि है अर्थात् कि यह देह और वाणी की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मन में उठते विकल्प मुझे लाभदायक है, यह जब तक बुद्धि है, तब तक अन्तर्मुख में ढल नहीं सकता।

उपयोग द्वारा स्व का ग्रहण करने में ही समस्त परद्रव्यों का और परभावों का स्वयं त्याग हो जाता है। यह एक विधि है, ऐसा पहले जाने तो सही! आहाहा! लोगों को इस प्रकार से झुकाया है कि यह यात्रा करो, भक्ति करो, सिद्धचक्र करो, कर्म दहन की क्रिया करो, अमुक करो, तुम्हारा कल्याण होगा। आहाहा! उसे यह ऐसा कठिन लगे, हों! कहते हैं कि इन सब क्रियाओं में तेरा राग जुड़ता है। स्वरूपचन्दभाई! आहाहा! भाई! तेरी जाति के स्वरूप की क्या चीज़ है? यह राग है, वह तेरे स्वरूप की जाति का नहीं। यह कुजात है। अरे भाई!

चैतन्यस्वरूप जो भगवान आत्मा, उसके स्वरूप की यह राग उपज नहीं है। लो, स्वरूपचन्दभाई! आया तुम्हारा स्वरूप। उसमें यह दया, दान, भक्ति, पूजा का विकल्प है, वह इसकी जाति का नहीं है। वह तो विकारी जाति का है। उसे जब तक लाभदायक माने, तब तक उसकी एकताबुद्धि टूटती नहीं। कहो, सेठ! यह है। जिस रास्ते जाने से वस्तु मिले, वह रास्ता सस्ता कहो या महँगा कहो, रास्ता तो यह है। तुम्हारा आया है नाम तीसरा

कहीं। वह भरता है न... कहीं भरता है। आया है आज तारणस्वामी का। भोपाल में आया है, कुण्डलपुर में आया है और उसमें—तीनों में इनका नाम आया है।

मुमुक्षु : बड़े लोग सर्वत्र आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! आज भोपाल का विरुद्ध का आया है बड़ा। फिर कहा रामजीभाई को पढ़ायेंगे भक्ति के बाद। क्या हो? परन्तु यह वस्तु ऐसी है। सामने पक्ष होता है न? दूसरा पक्ष।

मुमुक्षु : दूसरे हस्तक हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु लेख बहुत कठोर। परन्तु भाई! ऐसा कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के साथ इनको रखा निमन्त्रणपत्रिका में, यह जैन दिगम्बर धर्म का घात है। बहुत कहा। उसमें तो बहिन का लिखा था न कि बहिन आकर मार्गदर्शन करे। उसका भी विरोध किया है। स्त्रियाँ मार्गदर्शन करे? ऐसा कहते थे। अरे! सत्धर्म सुनना मुश्किल हो पड़ा है। ऐसा कि निर्ग्रन्थ मुनि हों, उनकी छत्रछाया में पंच कल्याणक हो, वह कार्य त्यागी और गृहस्थ विद्वानरूप से उसे तुमने छत्रछाया में, ऐसा लिखा है। उसमें फिर पढ़ायेंगे रामजीभाई को। सबके अपने को विचार जानने में क्या बाधा? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे परन्तु उसे विश्वास नहीं आता। उसे विश्वास नहीं आता। बहिन कौन है, इसकी उसे खबर नहीं। आहाहा! इसकी आलोचना की। मार्गदर्शन दे। ऐसा लिखा है न!

मुमुक्षु : प्रतिष्ठाचार्य हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिष्ठाचार्य हो, ऐसा नहीं होता, बापू! भाई! उसने लिखा है। बहिन कहाँ कहने गयी थी? उसने लिखा... अब विरोध करो। जगत विचित्र है।

यहाँ कहते हैं... आहाहा! जब तक ज्ञान के परिणाम में पर, राग, देह और वाणी से लाभ होता है—ऐसी बुद्धि रहती है, तब तक वहाँ से हटकर स्व में नहीं आ सकता। समझ में आया? ऐसा धर्म... ऐसा धर्म, बापू! वस्तु है एक ओर आत्मा, एक ओर राग, एक ओर

मन तथा वाणी और यह देह। यह चार हैं। अब उनमें तीन अस्तित्व में से मुझे लाभ होता है, ऐसी बुद्धि जब तक रहती है तो वहाँ से नहीं हटता। यह कहा है न, देखो न! एकत्वबुद्धि कही न? **जीव, वचन-काय की क्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है...** आहाहा! **उसको आत्मा की क्रिया समझता है, वहाँ तक उसका उपयोग वहाँ से छूटकर, स्वसन्मुख नहीं झुकता...** अरे रे! व्यवहार का शुभराग, उससे भी मुझे लाभ होता है, ऐसी जब तक बुद्धि रहती है, जिससे लाभ होता है, उससे कैसे हटे? जब तक बुद्धि रहती है तो वहाँ से वह नहीं हटता। यह कहा है न, देखो न! एकत्वबुद्धि कही न?

जीव, वचन-काय की क्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है-उसको आत्मा की क्रिया समझता है, वहाँ तक उसका उपयोग वहाँ से छूटकर, स्वसन्मुख नहीं झुकता... आहाहा! अरेरे! व्यवहार का शुभराग, उससे भी मुझे लाभ होता है, ऐसी जब तक बुद्धि रहती है; जिससे लाभ होता है, उससे कैसे हटे? **और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता।** वहाँ तक। आहाहा!

उपयोग द्वारा स्व का ग्रहण करने में ही समस्त परद्रव्यों का और परभावों का स्वयं त्याग हो जाता है। अर्थात् क्या कहा? वापस हल्का कर दिया कि आत्मा के जानने के उपयोग द्वारा स्व में ग्रहण और पर का त्याग, वह त्याग-ग्रहण हो जाता है। ज्ञान का व्यापार अन्तर में जाता है, तब उसका—स्वरूप का ग्रहण, उसी काल में रागादि का त्याग दृष्टि में से—एकता से हो जाता है। **स्वयं त्याग हो जाता है।** ज्ञान के स्वभाव में स्वभाव का परिणाम जो है, ज्ञानस्वभाव वह वस्तु त्रिकाल, जो ज्ञान के वर्तमान परिणाम जो हैं, वह उपयोग, वह परिणाम अन्तर में ढलते हैं, तब अन्तर का स्वीकार होकर ग्रहण करता है, उस काल में रागादि का ग्रहण नहीं करता। इसलिए उसका स्वयं त्याग हो जाता है। आहाहा! नवरंगभाई! ऐसी वस्तु। आहाहा!

निचलीभूमिका में ज्ञानी का उपयोग... धर्मी जीव का अन्तरात्मा का भी उपयोग जानने के परिणाम का भाव व्यापार **कदाचित् अस्थिरता के कारण, वाणी-काया की क्रिया द्वारा पर के साथ के व्यवहार में जुड़ता है...** राग। काया—देह की क्रिया, वाणी की (क्रिया) होती हो, उस काल में विकल्प होता है। **परन्तु उसमें उसको कर्तृत्वबुद्धि का**

अभाव है... अर्थात् ? वाणी, देह की क्रिया होती है, उसमें राग जुड़ता है, तथापि वह पर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसा कर्तापने का उसमें अभाव है। आहाहा! देह और वाणी में परलक्ष्य से राग का भाव हो और वह राग वहाँ देह, वाणी में जुड़ता है, ऐसा दिखाई दे; तथापि वह वाणी और देह की क्रिया, वह राग ऐसा जानता नहीं कि मैं यह इसे करता हूँ तथा राग को जाननेवाली जो क्रिया है... आहाहा! वह क्रिया ऐसा जानती नहीं कि राग मेरा कर्तव्य है और देह-वाणी से मैं करता हूँ। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! यह तो धमाधम। धर्म के नाम से लगी धमाधम। ऐसे धामधूम धर्म। ज्ञानमार्ग रह गया दूर। आहाहा! समझ में आया ?

निचलीभूमिका में... चौथे गुणस्थान, पाँचवें गुणस्थान में, छठे आदि में उपयोग अस्थिरता हो जाये राग की और इससे वाणी कहे, उसकी क्रिया के साथ ऐसे लक्ष्य जाये, परन्तु उसमें उसे कर्तृत्वबुद्धि का अभाव है। **अभिप्राय में उसका निषेध है।** अभिप्राय देह की और वाणी की क्रिया करता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! राग की क्रिया करूँ, यह अभिप्राय नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, भाई!

जैसे - रोगी को कड़वी दवा के प्रति... दृष्टान्त देते हैं। **अरुचि होती है;...** समझ में आया ? यह पीलिया होता है न, पीलिया ? आँख में। पीलिया। उसके ऊपर एक देवी आती है देशी। गन्ध ऐसी मारे ऐसी विष्टा जैसी मारे। पीलिया। पीलिया होता है न, पीलिया ? पीला जैसा दिखाई दे। उसकी एक दवा ऐसी आती है कि वह दवा उसे लेनी पड़ती है। परन्तु वह तो विष्टा गन्ध दे, ऐसी कोई उसकी गन्ध। आहाहा! कहते हैं कि यह दवा **रोगी को कड़वी दवा के प्रति...** अर्थात् ऐसी दवा के प्रति **अरुचि होती है;...** यह कहीं उसे प्रेम नहीं है। ८७ में यह दवा आयी। ...८७ में पोरबन्दर में चातुर्मास था न। तब पीलिया हो गया था। देशी दवा थी देशी। वैद्य कोई देशी था। समझ में आया ? उसने यह दवा दी थी। परन्तु वह उसकी गन्ध ऐसी मारे। आहाहा!

कहते हैं कि **रोगी को कड़वी दवा के प्रति अरुचि होती है; इसी प्रकार ज्ञानी को उनके प्रति उदासीनता होती है;...** धर्मी उसे कहते हैं। आहाहा! कि जो देह और वाणी की क्रिया के प्रति उदास है, वह मेरी क्रिया नहीं। आहाहा! और अन्दर राग की क्रिया, दया,

दान, व्रत का विकल्प आवे, वह भी मेरी क्रिया नहीं। वह तो राग की क्रिया है। आहाहा! उससे मेरी वस्तु है, वह भिन्न है, ऐसा धर्मी को सम्यग्दृष्टि को राग से और देह की, वाणी की क्रिया से भेदज्ञान वर्तता हो तो उसे धर्मी कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? है?

उनके प्रति उदासीनता होती है;... रोगी दवा लेता है तो प्रेम से घूँट पीता होगा? इसी प्रकार धर्म को आत्मा दृष्टि में आया है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उसके वेदन में—अनुभव में आया है। आहाहा! उस आनन्द के वेदन के समक्ष अस्थिरता के कारण रागादि हों और देह, वाणी की क्रिया में लक्ष्य जाये परन्तु उसे उनके प्रति प्रेम नहीं है। आहाहा! धर्मी को इस शुभराग का भी प्रेम उड़ गया है। समझ में आया? आहाहा! धर्म, बापू! बहुत सूक्ष्म चीज़ है। लोग कुछ का कुछ कल्पना करके मान बैठे हैं। भव हार जायेंगे। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा?

जैसे रोगी को दवा लेते हुए प्रेम नहीं है... आहाहा! उसी प्रकार धर्मी को आत्मा के आनन्द के भानवाला होने से उसे जरा राग आवे शुभ-अशुभभाव और वाणी-देह की क्रिया के प्रति उसका लक्ष्य जाये, तथापि उस पर उसे प्रेम नहीं है। आहाहा! तथा वह रागभाव जो दया, दान, शुभभाव आवे, उसमें समकिती को सुखबुद्धि भाव नहीं है। उसमें सुख है, उससे सुख होगा—ऐसा मानता नहीं है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव भी दुःखरूप है, आकुलता है, शान्ति को घात करता है। आहाहा! अरेरे! प्रभु का ऐसा मार्ग, वह दुनिया को मिलता नहीं, दुनिया करे नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जायेगी। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए ज्ञानी का उपयोग, शरीरादि की क्रिया में जुड़ा हुआ दिखने पर भी, वह नहीं जुड़े हुए के समान है। आहाहा! वेश्या का प्रेम पैसे देनेवाले के ऊपर गरीब हो तो भी उसे दिखता है। परन्तु वह प्रेम कैसा? आहाहा! कोई गरीब मनुष्य आया हो पाँच-पच्चीस-पचास (रुपये लेकर), वेश्या विषय करे परन्तु प्रेम है उसे? शास्त्र में भी लिखा है वेश्या का जैसे प्रेम (होता है), वैसा धर्मी को राग के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! मन के पुण्य-पाप के भाव, वाणी और देह तीनों जड़ और भिन्न है। ऐसे भिन्नपने के भान से उसे जरा रागादि हो और जुड़ता है, ऐसा दिखता है, तथापि

अन्दर में जुड़ान नहीं है। यह तो शान्ति का मार्ग है, भाई! अनन्त काल में अपूर्व बात इसने सुनी नहीं। अपूर्वपना इसने कभी किया नहीं। जो कुछ किया, वह पूर्व में किया, उसी प्रकार कर रहा है। और मानता है कि हम कुछ धर्म करते हैं। आहाहा! अरे! इसका किनारा कब आवे? समझ में आया?

शरीर-वाणी की क्रिया में एकताबुद्धि का-आत्मबुद्धि का त्याग... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में, श्रावक को पाँचवें में तो कोई अलग उसकी तो दशा होती है। उसकी तो अन्दर शान्ति बढ़ गयी होती है अन्दर में। आनन्द की लहर बढ़ गयी होती है। आहाहा! तब उसे बारह व्रत के विकल्प आवे, तथापि उसे वे दुःखरूप लगते हैं। समझ में आया? आहाहा! यह व्रत की क्रिया उसे जहर जैसी दिखती है धर्मी को। अज्ञानी को प्रेम से अमृत जैसी दिखती है। आहाहा! अमृत अनुष्ठान आता है न तुम्हारे श्वेताम्बर में आता है। धूल भी नहीं अमृत अनुष्ठान। आहाहा!

सनातन वीतरागमार्ग दिगम्बर दर्शन सनातन वीतराग जैनदर्शन में यह बात है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। इसमें भी भूले हुए अन्यत्र लग पड़े हैं। आहाहा! परमात्मा की तो यह आवाज है। मुनि यह पूज्यपादस्वामी, पूज्यपादस्वामी मुनि दिगम्बर वनवासी उनके यह वनशास्त्र हैं। वन में बना, इसलिए वनशास्त्र। आहाहा! उसमें यह है कि जिसे शरीर, वाणी की क्रिया (कि) यह खाता हूँ, ऐसे पीता हूँ, ऐसे छोड़ता हूँ, इस क्रिया में जिसे अभी एकताबुद्धि है... आहाहा! आत्मबुद्धि का त्याग है। आहाहा!

एकताबुद्धि का-आत्मबुद्धि का त्याग और शुद्धात्मस्वरूप का ग्रहण... आहाहा! एकताबुद्धि है जिसे त्याग है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अर्थात् आत्मबुद्धि, इस राग में ठीक और लाभ होता है, देह की क्रिया होती है, इसलिए मुझे लाभ होता है, ऐसी बुद्धि का जिसे त्याग है। आहाहा! **और शुद्धात्मस्वरूप का ग्रहण...** आहाहा! यह त्याग और ग्रहण समकिती को होता है, ऐसा कहते हैं। पर का त्याग करूँ और ग्रहण करूँ, यह तो मिथ्यादृष्टि की भावना है। क्योंकि परवस्तु का त्याग कर नहीं सकता। क्योंकि परवस्तु का त्याग आत्मा में तो है ही। अभाव तो है ही। अब उसे कहे कि यह छोड़ूँ, यह लूँ, इस परद्रव्य की क्रिया छोड़ूँ और लूँ, ऐसी मान्यता, कहते हैं कि मिथ्यात्व की है। वह तो परद्रव्य का

स्वामी हुआ। अरे! लोगों को भारी कठिन बात लगती है, हों! लगती है। पचना कठिन पड़े। दूसरा कोई हल्का मार्ग होगा या नहीं? सेठ! कहते हैं न? हल्का कहो तो भी यह और जो है वह कहो, वह यह है।

मुमुक्षु : यहाँ रहने से हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ रहने से होगा। जहाँ आत्मा रहा है, वहाँ राग से भिन्न रहा है, वहाँ हो सकता है। आहाहा! कठिन काम है। अभी तो पूरा उपदेश ही बदल गया है। वीतराग के धर्म के नाम से अजैन का धर्म प्ररूपित होता है। अरे... प्रभु! क्या हो भाई? सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं और बाह्य त्याग किया, उसकी कीमत है जगत को।

मुमुक्षु : वह दिखता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखता है। क्या दिखता है? ऐसा कि बाह्य त्याग किया। स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़ा, दुकान छोड़ी। परन्तु अन्तर में राग संसार है, उसे तो छोड़ा नहीं। आहाहा! राग संसार है। स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, वह संसार नहीं। भगवान! संसरणं इति संसार:—चिदानन्द भगवान में से हटकर राग के विकल्प में आवे, वह संसार है। आहाहा! यह संसार तो छोड़ा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : छोड़नेयोग्य है, ऐसा माना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह छोड़नेयोग्य इसने माना ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : लाभ में खतौनी करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ में खतौनी करता है। स्त्री-पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा। अकेला बैठे हैं, देखो। क्या छोड़ा? धूल? आहाहा!

परसन्मुख का राग जो है पुण्य का, वह आस्रव है। भगवान की भक्ति, भगवान की पूजा, भगवान का स्मरण, वह सब आस्रवभाव राग है। आहाहा! उससे लाभ माने, वहाँ तो छोड़ा तो नहीं। संसार को छोड़ा तो नहीं। आहाहा! काम बहुत (कठिन)। यह तो समाधिशतक है न! सार है न! यहाँ वाँचन होता है बस गाँव में अन्यत्र समझे नहीं। आहाहा! क्या हो? मार्ग तो ऐसा है, भाई! इसे ज्ञान में लक्ष्य में यह बात लेनी पड़ेगी। आहाहा! समझ में आया?

शरीर-वाणी की क्रिया में एकताबुद्धि का-आत्मबुद्धि का... अर्थात् कि यह मुझे लाभदायक है या यह मेरे हैं, ऐसी बुद्धि का जिसे त्याग है। **और शुद्धात्मस्वरूप का ग्रहण...** है। आहाहा! **यही अन्तरात्मा का अन्तरङ्ग त्याग-ग्रहण है।** इस गाथा का सार यह है। है न, पाठ यह है।

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥ ४८॥

आहाहा! इसका ज्ञान का उपयोग जो है, वह जो राग और द्वेष के जुड़ान में जाता है, उसे अपने उपयोग की ओर झुकाया तो अन्तर का ग्रहण हुआ, शान्ति और आनन्द का ग्रहण हुआ और राग का त्याग हुआ। यह अन्तरात्मा का त्याग और ग्रहण यह है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि को बाह्य का त्याग हो, तब (ऐसा लगता है) अभिमान में (कि) हमने त्याग किया है, हम ऐसा करते हैं। आहाहा! शुद्ध आहार-पानी हम खाते हैं। यह सब मिथ्यादृष्टि के अभिप्राय हैं। आहाहा! समझ में आया? उसे जैनधर्म की खबर नहीं। जैनधर्म क्या है? आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ परमात्मा, जिसमें दुनिया में कहीं इनकी समानता का कोई मार्ग नहीं है। आहाहा!

पूज्यपादस्वामी कुन्दकुन्दाचार्य के बाद हुए। वे भगवान के पास गये थे। लाकर, लेकर यह आये थे। थे तो समकिती, ज्ञानी, भावलिंगी, परन्तु वहाँ गये प्रभु के पास। सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वहाँ गये। कितने दिन, इसकी खबर नहीं। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य आठ दिन रहे। यह (भी) गये थे।

मुमुक्षु : पूज्यपाद गये थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। है न पहले। विदेह में गये थे। पहले, आठवें पृष्ठ पर? यह पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ।

विदेहक्षेत्र में स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हो गया था। ऊपर। दो-दो, दो है न दो? आठवाँ पृष्ठ। प्रस्तावना का आठवाँ। कहाँ है, पढ़ो।

मुमुक्षु : विदेहक्षेत्र में स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से...

पूज्य गुरुदेवश्री : उनका गात्र पवित्र हो गया था। गात्र अर्थात् शरीर। भगवान के

पास गये थे। समझ में आया ? वे पूज्यपादस्वामी कहते हैं... आहाहा! भगवान का तो यह सन्देश है।

यहाँ आचार्य ने व्यवहार के त्याग का निर्देश किया है, वह ऐसा सूचित करता है कि आत्मकार्य के लिए, व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! जितना दया, दान, व्रत का शुभराग आवे, वह भी आत्मकार्य के लिये आदरणीय नहीं। आहाहा! कठिन बातें, बापू! अभी जिसे सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता। व्यवहार श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता, उसे निश्चय का तो कहाँ है ? आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ आचार्य ने व्यवहार के त्याग का निर्देश किया है,... अर्थात् व्यवहार का त्याग, ऐसा बतलाया है, यह कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया ? इस गाथा में व्यवहार का त्याग किया है। अर्थात् कि **वह ऐसा सूचित करता है कि आत्मकार्य के लिए, व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है।** देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का राग, शास्त्र पठन का राग... आहाहा! वह भी आत्मकार्य के लिये यह व्यवहार छोड़नेयोग्य है। समझ में आया ?

तब अब प्रश्न होता है कि **पुत्र-स्त्री आदि के साथ के वाणी-काया के व्यवहार में तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है,...** ऐसा होगा ? हसमुखभाई के साथ बैठे हो, बात करते हों। लो, राग है।

मुमुक्षु : थोड़ा मजा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, थोड़ा मजा आता दिखता है न! आहाहा! उसमें शरीर निरोग हो दोनों के, तीनों के और कुटुम्ब के सबके। तथा वह शाम का निवृत्ति का काल (हो) और बाग में... आहाहा! फूलझाड़ में कुर्सी डालकर बैठा हो और उस समय यह पकवान और पत्तरवेलिया (अरबी के पत्ते के भुजिया) उड़ते हों खाने में। कहते हैं कि मजा जैसा लगता है।

अज्ञानी को उसमें प्रीति जैसा लगता है। **तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है, तो उसका (व्यवहार का) त्याग किस प्रकार योग्य है ?** जिसमें सुख जैसा दिखता है, उसे छोड़ना कैसे ? ऐसा कहता है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! नहीं ? सब तीन लड़के

पंकज और... बैठे हों और बातें करे जवाहरात की। बापू! ऐसा है न बापूजी, ऐसा है। भाई! ऐसा है। यह भाई कहते हैं। आहाहा! उनके तीसरे नम्बर का बीच के नम्बर का लड़का है, उसे रस है। पंकज। अब लड़के को रस है। बिचला लड़का है पंकज, शान्तिभाई का। जवाहरात का बड़ा धन्धा है न! लोग करोड़पति कहते हैं। लोग कहे उसमें... परन्तु पाँच-पच्चीस लाख, दस-दस लाख, दो लाख। लोगों माने ऐसा। उदार व्यक्ति है न, पैसा खर्च करे इसलिए। परन्तु लड़का बहुत वह है, हों! है अभी जवान। परन्तु रस बहुत है। महाराज! ऐसा बोलता है। आहाहा! परन्तु राग भी दुःखदायक है, हों! आपने तो ऐसा कहा महाराज। साथ आवे न उसमें—मोटर में।

अरे! आज उसका पत्र आया है-प्रकाश का। वह प्रकाश बैठता था। ओहोहो! इतना प्रमोद और इतना लड़का हर्ष बताता है। पढ़ते हुए आँसू आ जाते हैं। इतना विरह बताता है और प्रमोद बतलाता है। लड़का नहीं था यहाँ? जेकोरबहिन का? लड़के का लड़का। प्रकाश, यहाँ बैठता था। बुखार बहुत रहे, फिर आ नहीं सका। रूपवान था। आज इसका पत्र आया है। बहुत प्रसन्नता। ओहोहो! अरे! यह आत्मा के आनन्द में उतरने की बातें महाराज! हमने कहीं सुनी नहीं। आहाहा! शरीर की शान्ति नहीं परन्तु आत्मा में शान्ति, उसमें जा, उसमें स्थिर हो। यह ऐसी बातें हमने कहीं सुनी नहीं थी। वह तो युवक है। कोई १६ वर्ष का होगा। १५-१६ वर्ष का।

अरे! शरीर का कहाँ है इसमें? आत्मा को उम्र कहाँ है? आठ वर्ष का राजकुमार केवलज्ञान को पाता है। आहाहा! माता! हमारे आनन्द को हमने अनुभव किया है। अनुभूति। आता है न भाई यह चरणानुयोग में? आठ वर्ष का बालक हो, उसने अनुभव किया हो समकित का। चौथा गुणस्थान प्रगट किया। हमारी अनुभूति आनन्द और रागरहित चीज़ के आनन्द के अनुभवी, माता! हम अनुभूति के लिये वन में जाते हैं, माँ! आहाहा! हमारी अनुभूतिरूपी रानी... आहाहा! माता! हमें कहीं रुचि लगती नहीं। कहीं लक्ष्य स्थिर नहीं होता। जहाँ स्थिर होता है, वहाँ हम जाना चाहते हैं। आहाहा! आठ वर्ष का राजकुमार। जिसे नीचे नीलमणि के पत्थर हों। क्या कहलाता है यह? टाईल्स। ऐई... तुम्हारी टाईल्स पत्थर की। (वे) लड़के-राजकुमार नीलमणि की टाईल्स के बँगले में

रहते हों। आहाहा! वे बाहर निकलकर (कहते हैं), माता! मुझे आज्ञा दे, माँ! आहाहा! हमारी आनन्द की अनुभूति को हम विशेष प्राप्त करने के लिय वनवास में जाते हैं। आहाहा! उसे आनन्द का प्रेम लगा है जिसे। सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेम है। उसे देह, वाणी, मन, और राग का प्रेम नहीं है। आहाहा! माता रोती है। कहती है कि पुत्र! तू अकेला सवेरे उठकर साधना में से... तूने ऐसे वस्त्र, कपड़े, ऐसे रहने के मकान, हवा न आवे। तुझे खिड़कियाँ बन्द करके सुलाते हैं, भाई! अकेला जंगल में किस प्रकार रहेगा, बापू? माता! हमारे आनन्द को शोधने के लिये हम आनन्द में रहेंगे। आहाहा! हमारी चिन्ता न कर। माता! रोना हो तो एक बार रो ले। फिर से जननी नहीं करेंगे। अब हम अवतार धारण नहीं करेंगे। आहाहा!

'अजेव धम्मो पडिवज्ज्यामो जही पवन्ना न पुनर्भवामो।' यह गाथा जब आती थी बोटाद में, भाई! हजारों लोग बेचारे शान्त स्थिर हो जाये। १४वीं गाथा। १४वें अध्ययन की टीका। माता-पिता के निकट लड़के आज्ञा माँगते हैं। 'अजेव धम्मो पडिवज्ज्यामो...' जननी! हम आज ही धर्म को अंगीकार करेंगे। 'जही पवन्ना न पुनर्भवामो।' माता! जिस धर्म को अंगीकार करने से पुनः भव धारण नहीं करेंगे। स्वरूपचन्दभाई! ऐसा श्वेताम्बर में उत्तराध्ययन में वैराग्य का तो आता है न! १४वाँ अध्ययन, छह जीव की काय। ब्राह्मण के दो लड़के हैं। दीक्षा लेना चाहते हैं। यह रचा है। परन्तु यह कहे, हम आज ही आनन्द को अंगीकार करने को तैयार हुए हैं। चारित्र अर्थात् कोई क्रिया नहीं परन्तु अन्तर का आनन्द का अनुभव करने हम जाते हैं। आहाहा! पंच महाव्रत के विकल्प और नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! चारित्र तो अन्तर आनन्द को जो जाना है, उस आनन्द में भोजन करने के लिये अब हम निकले हैं। उस आनन्द का भोजन करने हम निकले हैं, माता! माँ, इनकार नहीं करना माँ! कहती है माँ, पुत्र! जा तेरे रास्ते। हमको (भी) यह रास्ता होओ। हमको भी यह रास्ता होओ। आहाहा! करने का तो यह है। यह तू करने जा, बापू! हमें भी यह रास्ता होओ, जा। ऐसा कहती हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **पुत्र-स्त्री आदि के साथ के वाणी-काया के व्यवहार में तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है,...** इसका त्याग किस प्रकार? इसका उत्तर देंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ४९

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह -

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥ ४९॥

देहात्मदृष्टीनां बहिरात्मनां जगत् पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो विश्वासस्यमवञ्चकं। च रम्यमेव रमणीयमेव प्रतिभाति। स्वात्मन्येव स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः॥४९॥

पुत्र-स्त्री आदि के साथ के वाणी-काया के व्यवहार में तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है, तो उसका (व्यवहार का) त्याग किस प्रकार योग्य है? वह कहते हैं —

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास।
स्वात्म-दृष्टि कैसे करे, जग में रति विश्वास॥ ४९॥

अन्वयार्थ - (देहात्मदृष्टीनां) शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को (जगत्) यह स्त्री-पुत्र-मित्रादि का समूहरूप जगत, (विश्वास्यं) विश्वास के योग्य (च) और (रम्यं एव) रमणीय ही मालूम पड़ता है परन्तु (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां) अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को (क्व विश्वासः) इन स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में कैसे विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कैसे आसक्ति हो सकती है? कभी भी नहीं।

टीका - देह में आत्मदृष्टिवाले बहिरात्माओं को पुत्र-स्त्री आदि प्राणीसमूहरूप जगत विश्वास करने योग्य अर्थात् अवंचक (नहीं ठगनेवाला) तथा रम्य ही अर्थात् रमणीय ही प्रतिभाषित होता है। स्वात्मा में ही अर्थात् स्वस्वरूप में ही आत्मदृष्टिवाले अन्तरात्माओं को विश्वास कहाँ है अथवा रति कहाँ? उनको पुत्र-स्त्री आदि में कहीं भी विश्वास अथवा रति प्रतिभासित नहीं होती — ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - जिसको देह में आत्मबुद्धि है, उसको स्त्री-पुत्र-मित्रादिरूप जगत् ही विश्वासयोग्य और रम्य-सुखदायक लगता है और इससे वह उनके साथ वाणी-काय का व्यवहार करने का विकल्प करता है।

ज्ञानी को स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि नहीं है, उसको उनमें वास्तविक सुख भासित नहीं होता और वे विश्वासयोग्य तथा रमणीय नहीं लगते; इसलिए ज्ञानी को उनके साथ वचन-व्यवहार और शरीर-व्यवहार का अभिप्राय में त्याग वर्तता है। उसको आत्मा ही विश्वास करनेयोग्य और रम्य, ज्ञात होता है और उसी में वास्तविक सुख भासित होता है; इसलिए वह जगत के पदार्थों में सुख होने का विश्वास कैसे करे? नहीं ही करता।

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानी, बाह्यपदार्थों के संयोग में सुख मानकर, उनका विश्वाास करता है परन्तु उन संयोगों के पलटने या उनका वियोग होने पर, उसके माने हुए सुख का अन्त आता है। इस प्रकार बाह्यसंयोगों के विश्वास से वह ठगाया जाता है। वास्तव में अनुकूल या प्रतिकूल लगनेवाले संयोगों में कहीं सुख नहीं है तो भी वह उनमें सुख मानकर ठगाया जाता है।

ज्ञानी को अपना आत्मा ही इष्ट है-प्रिय है। उसको जगत के पदार्थ प्रिय-सुखरूप नहीं लगते। समकिती चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज्य और हजारों रानियों इत्यादि का संयोग होता है परन्तु उनमें उसको सुख के लिए स्वप्न में भी विश्वास नहीं है। उसको तो अपने चैतन्य आत्मा का ही विश्वास है और उसी में सुख भासित होता है। उसको 'जगत् इष्ट नहीं, आत्म से॥४९॥'

पौष कृष्ण १४, रविवार, दिनांक ०९-२-१९७५, श्लोक-४९, प्रवचन-६१

समाधितन्त्र। ४९ श्लोक। शिष्य का प्रश्न है अथवा यह प्रश्न उठाया है। **पुत्र-स्त्री आदि के साथ के वाणी-काया के व्यवहार में तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है, तो उसका (व्यवहार का) त्याग किस प्रकार योग्य है?** ऐसा प्रश्न। उसका उत्तर।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥ ४९॥

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास।
स्वात्म-दृष्टि कैसे करे, जग में रति विश्वास॥ ४९॥

बहुत मर्म की बात की है। टीका ४९ की।

देह में आत्मदृष्टिवाले... यह शरीर, वही मैं हूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, रही है। ऐसे **बहिरात्माओं को पुत्र-स्त्री आदि प्राणीसमूहरूप जगत विश्वास करने योग्य अर्थात् अवंचक (नहीं ठगनेवाला) तथा रम्य ही अर्थात् रमणीय ही प्रतिभाषित होता है।** अज्ञानी को देहात्म की बुद्धि है जिसे, वह बहिरात्मा अर्थात् बाह्य चीज़ में प्रेम करनेवाला, ऐसा कहता है। यह पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब के साथ विश्वास करे कि यह मुझे अनुकूल है, यह मुझे सुख के कारण हैं—ऐसा विश्वास करता है। मर्म की बात है सूक्ष्म। पुत्र, पुत्रियाँ, दामाद, नौकर, उसके मुनीम। स्त्री आदि, काया का व्यापार और वाणी का व्यापार करता है, उसकी मिठास वर्तती है। आहाहा! क्योंकि उसने आत्मा में आनन्द है, यह देखा नहीं, जाना नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है—ऐसा भास हुआ नहीं, अनुभव नहीं, इसलिए वह देह को ही आत्मा माननेवाले ऐसी देह जो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार को देखकर उसके साथ प्रेम से बात करता है, विश्वास रखकर बात करता है। यह मुझे सब सुविधा के कारण हैं। मेरे समाधान के लिये यह सब कारण है, ऐसी प्रीति करके... आहाहा! पोपटभाई!

मुमुक्षु : ऐसा ही चल रहा है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : चल रहा है न। उसकी तो बात चलती है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार के साथ प्रेम से। क्योंकि वह देह को ही आत्मा मानता है और उसमें सुख की सुविधा के निमित्त उसे उसमें प्रेम से उसका अभिप्राय—वहाँ उसे विश्वास वर्तता है। समझ में आया? आहाहा! आचार्य ने बात तो ऐसी की है धर्म की। शान्तिभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : आपके पास तो ऐसा ही कहे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात ऐसी है, ऐसा इसे निश्चित जानना तो चाहिए न! आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा सुख का स्थान, आनन्द के लिये विश्वास करनेयोग्य तो भगवान आत्मा है। आहाहा! प्रियकर और आनन्द का धाम और विश्वास करनेयोग्य कि यह सुखस्वरूप आत्मा है। ऐसा जिसे विश्वास नहीं, उसे यह शरीर और शरीर की अनुकूलतावाले स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुत्र के प्रति प्रेम से बात करता है। आहाहा! यह मुझे सुख के साधन हैं, ऐसा उसे अन्दर विश्वास वर्तता है, अज्ञानी को। आहाहा!

मुमुक्षु : गहरे कुँए में उतरता जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गहरा उतरता जाता है। आहाहा! आचार्य ने भी काम किया है न! मिथ्यात्व के भाव का किस प्रकार जगत को ख्याल आवे, ऐसा स्पष्टीकरण किया है। उसे, आत्मा आनन्द और शान्तस्वरूप है, ऐसा अन्तर में विश्वास तो नहीं अनादि से। इसलिए उसे शरीर पर ही जिसकी बुद्धि है, इसलिए शरीर के अनुकूल सुविधावाले, विषय के लिये, इज्जत के लिये, खाने-पीने के लिये, भाषा की अनुकूलता बोलकर उसे प्रसन्न करने के लिये ये सब साधन हैं, यह सब। आहाहा! सेठ!

मुमुक्षु : त्याग न करे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समकिती और मिथ्यादृष्टि की बात है। फिर समकिती को आयेगा। अभी गृहस्थाश्रम में भी।

मुमुक्षु : मुनि नाम दिया है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहता हूँ न। यह मिथ्यादृष्टि ऐसा है और सम्यग्दृष्टि दूसरे प्रकार से है, ऐसा स्पष्ट कहते हैं। गृहस्थाश्रम में रहा हुआ भी समकिती, जिसे आत्मा में आनन्द है, ऐसा विश्वास आया है। उसे परपदार्थ के प्रति प्रेम से मुझे सुख होता है, यह बुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! समझ में आया? यह तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों की ही बात है। आहाहा! तीन लोक का नाथ आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अकेला शाश्वत् सुख का स्वरूप ही प्रभु है। ऐसी वस्तु का जिसे विश्वास नहीं आया। आहाहा! और जिसे देह

और देह की अनुकूलतावाली चीज़ में जिसे विश्वास है, ऐसा कहते हैं। वे मेरे सब विषयों के और सुख के कारण, साधन हैं वे सब। आहाहा! इससे उसके साथ बात करते हुए भी प्रेम से सुखबुद्धि से उनका विश्वास करके बात करता है, कहते हैं। आहाहा! पोपटभाई! चोट मारते हैं गहरी।

मुमुक्षु : बात करना कहाँ से?

पूज्य गुरुदेवश्री : करता ही नहीं, परन्तु यह तो कहे तो उसे प्रेम से और मिठास से करता है, ऐसा कहते हैं। करे कौन भाषा? आहाहा!

आचार्यों ने स्वयं का पहलू बदल दिया है। इसलिए जिसने पहलू बदला नहीं, उसकी कैसी दशा होती है, उसका वर्णन करते हैं। आहाहा! बहुत स्पष्ट बात है।

देह में आत्मदृष्टिवाले बहिरात्माओं को पुत्र-स्त्री (कुटुम्ब) आदि प्राणीसमूहरूप जगत विश्वास करने योग्य... है। यह ठगनेवाले हैं, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! समझ में आया? वे ठगनेवाले हैं, वे वंचक हैं। एक बार कहा था न, भाई! तुम्हारे नरभेराम वकील नहीं? नरभेरामभाई वकील। वकील थे न? ८७ में वींछिया से आये वहाँ राजकोट। आये, फिर कहते हैं महाराज! आप बात करते हो कि आत्मा ऐसा और आत्मा ऐसा।

मुमुक्षु : उनके भाई भगवानजीभाई वकील थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वकील नहीं थे? नरभेरामभाई। इनके पुत्र तो थे न। वह यह बेचारे थे भोलेभट्ट जैसे। कुछ नहीं होता।

उन्होंने ऐसा कहा, पूछा था। पहला प्रश्न रखा था। (संवत्) १९८७ की बात है। कहे, महाराज! आप कहते हो कि आत्मा ऐसा और आत्मा ऐसा और उसका विश्वास हो सके, ऐसा लगता नहीं। यह तुम कहते हो कि विश्वास हो सकता है परन्तु यह बात हमें जँचती नहीं। विश्वास किस प्रकार हो? आत्मा ऐसा है और वैसा है। ऐसे विश्वासवाला व्यक्ति तो हो सकता नहीं। मैंने कहा, ऐसा कहा, नरभेरामभाई! तुम यह जो स्त्री से विवाह किया जब, तब स्त्री की तुम्हें खबर नहीं थी। अब यह सब साथ में ले जाये। पहले तो कहीं कुछ नहीं था। सगाई उसका पिता कर आवे। अब तो पन्द्रह दिन महीने साथ में घुमावे

उसे। ऐसा सब करते हैं। यह सब लक्षण बदल गये न! परन्तु पहले तो खबर भी नहीं होती। माता-पिता कर आवे, फिर विवाह करे, तब ही उसे मिलाप होता है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ पहिचान भी नहीं होती। कहा, भाई! उस कन्या की तुमको खबर थी? कि यह ठग है या क्या है? यह विवाह कर अनजानी। कुछ जाना हुआ नहीं होता। परन्तु तुमको विश्वास आता था कि यह मुझे सुख का कारण। विश्वास आता था या नहीं? हाँ।

अनजानी बाई / कन्या १६ वर्ष की, १८ वर्ष की अनजानी कहीं कभी बातचीत का प्रसंग न मिला हो। उसे तुमने पहले दिन तुमको यह विश्वास था या नहीं कि यह मुझे सुख का साधन है। तुमने जाना नहीं और देखा नहीं और सुख का कारण माना? स्वरूपचन्दभाई! बापू! विश्वास हो सकता है। यह अनजानी चीज़ है, उसका विश्वास हुआ कि यह मुझे सुखरूप होगी और मुझे सुख देगी। तो यह तो जानी हुई चीज़ आनन्द का नाथ प्रभु है, जाणक चीज़ प्रसिद्ध है। उसका जिसे विश्वास आया, वह विश्वास नहीं बदलता। आहाहा! वह विश्वास ऐसा होता है कि अफर विश्वास होता है। ऐसे अनजाने का तुमको विश्वास आता है? आहाहा!

तो परिचित ऐसा भगवान आत्मा, जिसे ज्ञान में जानने में आवे, उसका विश्वास न हो, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! क्या कहा, पोपटभाई! यह ८७ की बात है। वींछिया से भाई आये थे न जब। नारणभाई चले गये न! मस्तिष्क अस्थिर हो गया था। बाद में आये नहीं। भाई भी थे। लाभुभाई थे। बहिन थीं। मंगलाबेन बाद में आयीं। परन्तु बात यह है। विश्वास ऐसा आत्मा का है, ऐसा त्रिकाली है, शुद्ध है, आनन्द है और यह क्या परन्तु तुम यह कहते हो? ऐसा विश्वासु व्यक्ति तो अविश्वास हो सकता ही नहीं। ऐई! स्वरूपचन्दभाई! अरे... भाई!

विवाह करके पहले दिन की रात, अनजानी बाई। बातचीत की नहीं। कदाचित मुख किसी समय देख लिया हो। पहले तो ऐसा कुछ नहीं था न! अब सब समझने जैसा। ऐसी बाई का तुमको विश्वास कि यह बाई मुझे ठगेगी नहीं। आहाहा! मुझे सुख के कारण में यह निमित्त होगी। निमित्त की तो खबर परन्तु कहाँ निमित्त की। यह सुख का कारण है। बिना देखे हुए, बिना उसका अनुभव किये हुए, उसका तुमको विश्वास और यह प्रभु

चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ, इसे देखकर, जानकर इसका विश्वास न आवे, यह बात नास्तिक कहते हैं। ऐ सेठ! आहाहा!

लड़का कहीं से आया हो। दुश्मन हो, वह तीसरे भव का। माता के गर्भ में आवे वहाँ उसकी माँ को स्वप्न भी ऐसे आते हों—दोहला-दोहला, कि इसे ऐसा करूँ। यह श्रेणिक राजा लो न, श्रेणिक राजा को जब कुणिक जो लड़का था, गर्भ में आया तो उसे कुणिक की (माँ को) विचार उसकी माँ को (आया कि)। श्रेणिक हैं उसके (कुणिक के) पिता, उनका कलेजा खाऊँ। आहाहा! शास्त्र में ऐसा पाठ है। ऐसा दोहला आया, उस लड़के को विचार हुआ। वह लड़का जन्मा, उसकी माँ ने कचरे में डाल दिया। कि जिसके गर्भ में रहा, उसके पिता का कलेजा (खाने क) भाव। और ऐसा किया वास्तविक दम्भ फिर। एक अभयकुमार था, दूसरा (पुत्र)। श्रेणिक राजा का पुत्र। ब्राह्मण का अभयकुमार। यह नहीं लिखते तुम्हारे? अभयकुमार की बुद्धि होओ। प्रवीणभाई! बहियों में लिखते हैं या नहीं? बाहुबली की बुद्धि होओ।

मुमुक्षु : बाहुबली का बल होओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहुबली का बल होओ। लड़ना होगा कहीं इसे। और शालिभद्र की ऋद्धि होओ। शालिभद्र की ऋद्धि। ९९ पेटी उतरती। आहाहा!

मुमुक्षु : कुबेर का भण्डार होओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुबेर का भण्डार।

यह अभयकुमार बहुत होशियार था। बहुत बहुत होशियार। एक बार उसकी माँ। यह दोहला होता है न? उसे उदास थी। उससे अभयकुमार ने कहा—क्यों माँ! दोहला माता! परन्तु यह तो वे लोग तो बहुत प्रेमभाव। माताजी! आप उदास क्यों हो? आपके मुख में कहीं... उत्साह दिखता नहीं। बेटा! मुझे दोहला आया है कि श्रेणिक राजा का कलेजा खाऊँ। अब यह माँ मैं किसे कहूँ, कहे। आहाहा! अभयकुमार की बुद्धि होओ, ऐसा कहते हैं न! इसलिए उसने बुद्धि घुमायी माँ! मैं करूँगा। तुम निश्चिन्त रहो। बैठाया, सुलाया, कहीं आगे। क्या कहा भाई! चेतना। चेलना-चेलना। सुलाया और श्रेणिक राजा को रखा आगे, ऊँचे और उनकी छाती पर दो सेर, पाँच सेर माँस लाकर लगाया। अभयकुमार

बुद्धिवाला है न ? इसलिए तुम बनिये लिखते हो न, अभयकुमार की बुद्धि होओ। श्रेणिक राजा को सुलाया और मास रखकर दो-चार और उसे दिखलाया। छुरी द्वारा काटने लगा। थोड़ा सा कटा ऊपर का माँस। वह मानो कि उनका कलेजा कटता है। इसलिए उसे देकर दिया, खाया। उनका दोहला शान्त हो गया। ऐसी बुद्धि उसने—अभयकुमार ने स्फुरित की थी। ... न पड़े यह कलेजा कटता है। स्वयं ऐसे-ऐसे करे छुरी को काटने लगे। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ख्याल है। परन्तु यह अभी... बात नहीं अभी। सब कृत्रिम किया था। ख्याल है न, कहते समय भी ख्याल है। परन्तु यह कृत्रिम किया था, ऐसा आता है। समझ में आया ? वह दोहला मिट गया। सवा नौ महीने में जन्म हुआ। अरेरे! गर्भ में था न यह लड़का... राजा को... अब यह बड़ा होकर क्या करेगा ? जन्म देकर तुरन्त कचरे में डाल दिया। उकरडा समझते हो न ? कूड़े का ढ़ेर। और उसमें डाला, साथ में मुर्गा आया मुर्गा। कूकड़ा नहीं ? कूकड़ा नहीं मुर्गा। वह एक दिन का बालक और राजकुमार। डाला साथ में ऐसा टच मारी और पीव निकले और शोर मचाये। रानी के पास आये। मैंने तो इस प्रकार से डाल दिया है। अरे! तेरा पहला गर्भ है और यह तूने क्या किया ? कि यह साहेब ऐसा हुआ है न! ऐसा नहीं होता। ऐसा कहकर उस श्रेणिक राजा ने जाकर कहाँ कचरे में डाला है ? कचरे में गये, वहाँ लड़का चिल्लाहट मचाता था, रोता था। एक दिन का था। उठाकर लेकर पीव निकालकर शान्त किया, लड़के को लाये। अब बराबर सम्हालना।

वह जब कुणिक (ने) उसके पिता को जब राज करने के लिये कैद में डाला। ...कैद में डाला। कैद में डालकर वह आया उसकी माँ के पास। माताजी! आज कैसे है तुमको ? माँ! मैं आज राज को प्राप्त हुआ हूँ। राज में बैठा। अरेरे! पुत्र! यह क्या किया ? यह तेरे पिता को तेरे प्रति जन्म के समय जो प्रेम था। वह पीव चूसकर निकालकर (तुझे शान्त किया था)। वह तेरा पिता, उन्हें तू ऐसा करता है ? तूने कैद में डाला। श्रेणिक समकिती थे। श्रेणिक राजा तो क्षायिक समकिती। क्षायिक समकिती। क्षण-क्षण में तीर्थंकरगोत्र बाँधते थे। उनके लड़के ने कैद में डाला।

मुमुक्षु : लड़के बाप को कैद में डालते होंगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब कैद में डालते हैं। हैरान करते हैं। हमारे लिये ऐसा करना पड़ेगा... हमारे लिये ऐसा... अधिक पैसा खर्च करने के लिये बापूजी! इतने अधिक पैसे नहीं खर्च किये जायें, हम हैं पीछे। लाख, दो लाख नोंधावे तो नहीं, परन्तु कदाचित् नोंधाये हों, पचास लाख की पूँजी हो तो पाँच-दस लाख नोंधावे कहीं ऐसी जगह कि अरे... पाप किये। लड़के के पास जाये। क्या किया बापूजी यह? हम हैं या नहीं पीछे? चार लड़के हैं, उनके लड़के सोलह व्यक्ति हैं। ऐसे नहीं दिया जाता। मैं भी कह आया हूँ न। कह आये नहीं, इनकार कर दो। दस लाख नहीं दिये जाते। पाँच-पच्चीस हजार दो। ऐसा करे कैद में डाला उसे। हाय... हाय... अब क्या करना? अधिक लोगों में बाप को कहा हो, उस बाप को लड़के इनकार करे अन्दर से। वह दूसरे प्रकार से भी ऐसे सब ठग अन्दर होते हैं। सब ठग ही है यह, हों! आहाहा! ठगों की टोली। ओहो! यह आजीविका के लिये सब ठगों की टोली इकट्ठी हुई है।

यह यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी को इस ठगों की टोली के प्रति प्रेम वर्तता है। उसके साथ बातचीत के भाव में भी अभिप्राय में सुखरूप है, इस प्रकार से वह बात कर रहा है, कहते हैं। आहाहा! आचार्य ने कहाँ डाला? देखो न! समझ में आया? यह अवंचक— नहीं ठगनेवाला, ऐसा माने। आहाहा! नहीं कहा एक राजा का? राजा की वह रानी थी। राजा बड़ा, करोड़ का तालुका। रानी को खबर पड़ी कुछ अन्तर पड़ा है राजा के साथ। और रानी का कुछ बोलने गये राजा। देखो! महाराजा! हम दो व्यक्ति हैं। एकान्त में कहती हूँ कि हम जमींदारनी हैं। जमींदार की पुत्री हैं, नागिन हैं, हमको क्या कहते हैं? छंछोड़ना नहीं। ऐई... स्वरूपचन्दभाई! हमें छंछोड़ना नहीं। यह बनिया डरपोक हम नहीं यहाँ। बनिया डरपोक जैसे ऐ.. ऐ.. ऐसे हम नहीं करते। जमींदारनी हैं और जमींदार की पुत्री हैं। यदि तुम हमें कुछ कहना चाहोगे तो तुम्हें विचार करना पड़ेगा। हाय.. हाय... बाहर में बहुमान दिखता है। राजा-महाराजा मानो। अन्दर में स्त्री ऐसी, ऐसा कहते हैं। ऐई..! आहाहा!

२० वर्ष की लड़की हुई हो और सम्बन्ध समुचि न बैठता हो, उसका पति। धीरे से जाकर कहे अन्दर। कुछ अकल नहीं तुमको यह? २२ वर्ष की बड़ी योद्धा जैसी हुई। उसका एक-एक दिन कठिन जाता है। तुमको अक्ल नहीं कुछ? हाँ। आहाहा! भाई! अब

व्यवस्थित करूँगा, ऐसा कहकर उसे धीरे-धीरे सब कहना पड़े। आहाहा! कहते हैं कि जगत (ने) ठगा है इसे। जगत के प्राणी का विश्वास करके अज्ञानी ठगाया है, ठगाया है। आहाहा! भाषा प्रेम से बातें करे, ऐसे और ऐसे मानो। आहाहा!

यह कहते हैं कि देखो! **अवंचक (नहीं ठगनेवाला) तथा रम्य ही अर्थात् रमणीय ही प्रतिभाषित होता है।** आहाहा! विस्तार करेंगे फिर, हों! **स्वात्मा में ही अर्थात् स्वस्वरूप में ही आत्मदृष्टिवाले...** परन्तु जिसे भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु है। आहाहा! मेरे सुख का स्थान, आनन्द का धाम तो मैं हूँ। आहाहा! ऐसी जिसे सम्यग्दृष्टि प्रगट हुई है। आहाहा! मेरे क्षण-क्षण परिणमन में आनन्द का प्रवाह बहे, वह मैं हूँ। आहाहा! मेरी शान्ति और मेरे आनन्द के लिये, मेरे सुख के लिये, मेरी स्वस्थता, स्वस्थता, निर्मलता बनी रहे, ऐसा साधन तो मैं आत्मा हूँ। ऐसी जिसे सम्यग्दृष्टि हुई है। आहाहा! ऐसा जिसे अन्तरात्मपना, अन्तर आत्मपना प्रगट हुआ है, बहिरात्मपना—बहिर में सुखबुद्धि जिसे उड़ गयी है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि जीव उसे कहते हैं... आहाहा! जिसे स्व आत्मा में, स्वस्वरूप में... स्व-आत्मा। स्व-स्वरूप। आनन्द का स्वरूप है, ज्ञान का स्वरूप है, शान्ति का स्वरूप है, प्रभुता की ऐसी उन शक्तियों का वह सागर है। आहाहा! ऐसी जिसे सम्यग्दृष्टि, सच्ची दृष्टि, सत्य को सत्यरूप से स्वीकार कर... आहाहा! मुझमें सुख, आनन्द और शान्ति, ऐसा सत्स्वरूप ही मैं हूँ—ऐसा जिसे अन्तर्दृष्टि में, सम्यग्दृष्टि को जहाँ स्वीकार हुआ है, उन **आत्मदृष्टिवाले अन्तरात्माओं को विश्वास कहाँ है अथवा रति कहाँ?** आहाहा! उसे कहीं बाहर में विश्वास और रति उत्पन्न नहीं होती। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार में कहीं विश्वास नहीं। ऐसा है। अरे... दुनिया कहाँ अटक कर पड़ी है!

धर्मी जीव, जिसकी सुखबुद्धि आत्मा में हुई है। क्योंकि उसमें कुछ है। आहाहा! जिसे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, ऐसी जिसे बुद्धि हुई है, ऐसी सत्यबुद्धिवाला वह अन्तरात्मा अन्तर है, ऐसा आत्मा उसे प्रतीति में आया। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, उसे विश्वास **पुत्र-स्त्री आदि में कहीं भी विश्वास...** आहाहा! विश्वास का स्थान तो प्रभु स्वयं है, ऐसा भासित हुआ है। देखो न! यह भाषा कैसी की आचार्य ने! आहाहा!

दिगम्बर आचार्यों ने करुणा करके जगत को उसकी भूल की भ्रमणायें कैसी हैं, वह उसे बताते हैं। आहाहा! भाई! तू भगवान को भूल गया है। तेरा महिमावन्त प्रभु अन्दर विराजता है। अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, उसे भूलकर तू कहाँ लगा अन्यत्र, भाई! आहाहा! किसका तुझे वहाँ विश्वास आया? ज्ञानी को कोई रति और विश्वास नहीं आता। आहाहा!

धर्मी जीव को अपने आत्मा के अतिरिक्त पर में विश्वास नहीं आता और पर में रतिपना नहीं मानता। आहाहा! दो बातें लीं। ओहोहो! है? **उनको पुत्र-स्त्री आदि में कहीं भी विश्वास अथवा रति...** दो बोल, हों! आहाहा! हमको यह स्त्री चक्रवर्ती की रानी हो, एक हजार देव जिसकी सेवा करे, उसके प्रति भी उसे विश्वास नहीं। वहाँ सुख कहाँ है? आहाहा! और उसके प्रति उसे रति का प्रेम नहीं। आहाहा! देखो, यह धर्मदृष्टि। यहाँ तो कुछ भान नहीं होता और हम धर्मी हैं। अरे! भाई! धर्मी की दृष्टि और धर्मी के मुख कोई अलग प्रकार के होते हैं। आहाहा! जिसे चैतन्यमूर्ति भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जहाँ पड़ा है, ऐसा जिसे विश्वास आया है। आहाहा! वह भले गृहस्थाश्रम में छह खण्ड के राज में दिखाई दे, परन्तु उसे कहीं परपदार्थ में यह ठीक है, ऐसा विश्वास उड़ गया है। यह ठीक है, ऐसा विश्वास उड़ गया है। आहाहा! समझ में आया?

शरीर भी ठीक है, यह विश्वास उड़ गया है। आहाहा! मिट्टी का पिण्ड जड़ मिट्टी, धूल, माँस और हड्डियाँ कब क्षण में दगा देंगे। आहाहा! यह देखो न, अभी नहीं हुआ बेचारे नटुभाई आये है न। जामनगर, नहीं? उनके बहनोई, पाँच-सात मिनिट में देह छूट गयी। सवेरे उठे, आठ बजे बैठे थे बेचारे। दु:खता है, ऐसा कहा वहाँ तो... डॉक्टर आये, वहाँ तो देह छूट गयी। अभी ५१ वर्ष की उम्र में। बहुत वर्ष से तो नहीं बुलाते थे। अलग रहते थे। दूसरे रास्ते चढ़ गये थे वे। दो-चार वर्ष से इकट्ठे रहते हैं, वहाँ ऐसा हुआ। आहाहा! यह तो बात है। आहाहा! आये थे बेचारे, नहीं? चुनीभाई का लड़का और चुनीभाई की लड़की। अपने अमृतलाल यहाँ नहीं छापखाना। उनके भाई। उनकी पुत्री। बात ऐसी। जरा दु:खता है, ऐसा कहा, वहाँ तो पाँच-सात मिनिट में। लो, यह विश्वास का स्थान इसे। आहाहा! ऐसा ही है। आहाहा!

हमारे यह लड़के देखो न भाई के। दोनों भानेज मर गये हैं। बेचारा मनहर। सूरत में

मनहर। और फावाभाई का लड़का। अब एक भानेज मर गया दीवाली के दिन, ४२ वर्ष की उम्र। यह लोग ठीक है, सबके पास आजीविका है, उसके पास अधिक पैसा। उसका मामा मनहर। ३० लाख से अधिक होगा। २५ तो मेरे पास स्वीकार किये थे। यह रामजीभाई ने स्वीकार कराये थे। रामजीभाई ने। २५-३० लाख। तीन महीने में दो भानेज मर गये। एक ४२ और एक ३८ (वर्ष का)। अरे... कहाँ का कहाँ? कैंसर हुआ है। कोई कहे कैंसर हुआ है। लीवर का कैंसर। कोई कहे गुदा का कैंसर। अरर... यह जगत के जड़ पदार्थ! किसका विश्वास कि कब यह छूटेगा और कब रहेगा?

धर्मी को शरीर और शरीर के सम्बन्धियों का विश्वास उड़ गया है। आहाहा! समझ में आया? यह प्रिय में प्रिय जिसे अर्धांगना कहे, उसके ऊपर भी धर्मी की विश्वास दृष्टि उड़ गयी है। आहाहा! देखो, यह एक चीज़! करवट बदल डाली है। पहलू बदल गया है। अज्ञानी का पहलू आत्मा के आनन्द के विश्वास में से छूटकर पर के शरीर पर प्रेम और शरीर की सुविधा के निमित्त, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, स्त्रियाँ सब। सब शरीर के रमानेवाले। उनका प्रेम अज्ञानी को रुक गया है वहाँ। आहाहा! ज्ञानी का प्रेम वहाँ से उड़ गया है। आहाहा! छह खण्ड के राज में समकिती दिखायी दे, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में दिखाई दे। कहीं सुखबुद्धि नहीं। सबसे सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! तो कहे सुखबुद्धि उड़ी हो तो क्या हुआ? छोड़कर बाबा नहीं होगा? ऐई..! सेठ!

मुमुक्षु : परपदार्थ को कौन छोड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन छोड़े बापू! यह बाबा है। मैं यह नहीं... यह नहीं... मुझे इससे सुख नहीं, ये मेरे नहीं, मैं इनका नहीं, मेरी किसी भी प्रीति की चीज़ यह नहीं।

मुमुक्षु : मान्यता में सुख नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान्यता में सुख नहीं। बात यह। आहाहा! बहुत बातें, बापू! यहाँ तो धर्म की बात है। यह कहीं बाहर का खाना, पीना और मजा आवे, ठीक पड़े, ऐसा जो विश्वास मार डालता है इसे। इसके चैतन्य के जीवन की जोखिम में जगत में सुख मानकर मर गया है यह। आहाहा! मेरा आनन्द और मेरा सुख, वह मैं स्वयं सुखरूप और आनन्दरूप हूँ, वहाँ यह आनन्द का झरना झरे, ऐसा जिसे आत्मा का विश्वास आया है। आहाहा! उसे

जगत की किसी चीज़ के प्रति प्रेम नहीं आता। आहाहा! कहीं उसका विश्वास नहीं आता और कहीं उसे रति नहीं होती। आहाहा! गजब! सुख भासित (नहीं होता) रति भासित नहीं होती। आहाहा! कठिन बात, भाई! आहाहा! समाधिशतक की। यह समाधितन्त्र है।

भावार्थ - जिसको देह में आत्मबुद्धि है, उसको स्त्री-पुत्र-मित्रादिरूप जगत् ही विश्वासयोग्य... यह अपने अतिरिक्त के परपदार्थ जिसे विश्वास योग्य दिखते हैं। समझ में आया? आहाहा! यह स्थान, यह क्षेत्र, यह भाव, यह वस्तु उसमें विश्वास, विश्वास मानो कि कहीं हम इसमें कुछ स्थिर होंगे। अज्ञानी को सब विश्वास वहाँ हो गया है। जगत पूरा उसे विश्वास के योग्य हो गया है। एक विश्वास के योग्य आत्मा उसे नहीं रहा। ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुण्य के भाव में उसे विश्वास कि यह सब टिकेगा। हम जियेंगे तब तक यह सब टिकेगा। आबादी रहेगी। देखो न, इसका विश्वास! आहाहा!

यह बिहार में जब भूकम्प हुआ न, वहाँ एक करोड़पति। घोड़ागाड़ी में बैठकर घूमने गया। उसके पास ऐसी आठ हजार की घड़ी होगी। घूमकर जहाँ आता है, वहाँ कुटुम्ब और करोड़ का मकान नीचे। बाबा। आहाहा! बापू! किसका विश्वास, भाई! मजबूत मकान बनाया है, उसका उसे विश्वास। आहाहा! क्या कहलाता है सीमेन्ट से। सीमेन्ट-सीमेन्ट। उसकी नींव में सीमेन्ट, ऊपर सीमेन्ट। विश्वास... विश्वास... यह भूकम्प का एक झटका आवे....

मुमुक्षु : भूकम्प ही चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चलता है न। कहीं आया था अभी। होता है, होता है। वह ऐसा होने के काल में होता है। वह वस्तु अनित्य है, उसमें उसे टिकाना चाहे, वह तो इसकी भ्रमणा है। जो वस्तु अनित्य है, भगवान नित्यानन्द का नाथ, ऐसा नित्यपना भासित नहीं हुआ, इसलिए जगत को नित्य करना चाहता है। उसे कायम रखने और कायम स्थिति में उसे रहना चाहता है। आहाहा! ओहोहो!

कहते हैं कि **उनके साथ वाणी-काय का व्यवहार करने का विकल्प करता है।** देखा! **जगत् ही विश्वासयोग्य और रम्य-सुखदायक लगता है और इससे वह उनके साथ वाणी-काय का व्यवहार...** आहाहा! देह की अनुकूलता की चेष्टा भी विश्वास

जगत के साथ विश्वास करता है और उसकी जगत की चेष्टायें उसे प्रिय लगती है। आहाहा! कठिन बात, भाई! वाणी के व्यापार में भी इसे पर में मिठास... मिठास... मिठास... लगती है। और इसकी स्त्री और पुत्र की वाणी भी इसे मीठी लगती है। आहाहा! कठिन बातें, भाई!

ऐसा तो बाबा हो, तब होता है—ऐसा कोई कहता था। वह भाई अपना नहीं? अमृतलाल। झरिया में है न? वह तुम कहो बाबा, परन्तु बाबा ही है। कहाँ था तुझमें कुछ? रजकण और जगत की चीज़ों का तेरी चीज़ में तीनों काल अभाव है। तीन से तो बाबा ही है पर से। माना है कि मैं इसमें हूँ। वह तो तेरी भ्रमणा है। कान्तिभाई! परन्तु ऐसे तीन लड़के, भरे हाथ का काम चले, पैसे पैदा हों। पचास हजार, लाख, दो लाख और पंकज जैसा लड़का हो तब तो... आहाहा!

भाई! आचार्य ने कैसी शैली ली है कि जिसे आत्मा का विश्वास करना चाहिए, वह विश्वास—प्रतीति की बात लेनी है। आहाहा! प्रभु आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से भरपूर प्रभु, जिसमें से ज्ञान और आनन्द के झरने झरें, उसका विश्वास न करके, प्रभु जो नाशवान चीजें, संयोग आकर वियोग में तुझे दगा देंगी। क्षण में दगा देंगी। आहाहा! उसका तुझे विश्वास, उसमें तुझे रति और यह स्त्री और पुत्र, पुत्री साथ में वाणी के व्यापार में तुझे मिठास लगती है, रति उपजती है, काया के व्यापार में तुझे रति दिखती है। आहाहा! आचार्य ने अन्तर के चोट की बातें की है। आहाहा!

कहे न हम धर्मी हैं! बापू! धर्मी कोई अलग चीज़। समझ में आया? ज्ञानी को। है? वह वाणी, काय का व्यापार करने का विकल्प करता है, हों! यह स्त्री। होगी दूसरे की स्त्रियाँ, परन्तु मेरी स्त्री तो... आहाहा! पागल के गाँव अलग होते हैं कहीं? ऐई... शान्तिभाई! यह तो सब संसार की पोल दिखती है। आहाहा! इन स्त्री को, पुत्र को, उनके साथ उसमें पुत्र की बहू और होशियार कहीं से अफ्रीका की पढ़कर आयी हो। उसे उघाड़े मुँह तो अभी बातें करे। ससुर और बहू जब... आहाहा! प्रेम से बात करते हों। ऐई! भले दूसरा राग नहीं परन्तु यह मेरे पुत्र की बहू! ऐसी होशियार! पुत्र भी भाग्यशाली है। ऐसा विश्वास अज्ञानी को पर का आता है। आहाहा! और उसमें उसे रति उत्पन्न होती है।

आहाहा! यह सब पर को अपना मानने के लक्षण हैं, कहते हैं। आहाहा! गजब भाई! आचार्यों ने संसार की सब पोल खुल्ली की है। आहाहा!

ज्ञानी, धर्मी जीव को... आहाहा! **स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि नहीं है,...** यह मैं नहीं, यह मुझमें नहीं, यह मुझे सुख के कारण नहीं। आहाहा! ओहोहो! प्रिय में प्रिय स्त्री, सुन्दर स्त्री, रूपवान स्त्री, कोमल शरीर, कहते हैं कि वह मुझे प्रियता करने जैसी मेरी चीज़ नहीं है। धर्मी को उसमें सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! सत्य है, वैसा सत्य का ज्ञान होने पर असत्य का भाव जो था, यह मेरे और प्रेम, वह उड़ गया है, कहते हैं। आहाहा!

उसको उनमें वास्तविक सुख भासित नहीं होता... आहाहा! **और वे विश्वासयोग्य तथा रमणीय नहीं लगते;...** दो बातें ली हैं न। '**क्व विश्वासः क्व वा रतिः**' दो बात है। आहाहा! धर्मी को आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी चीज़ में उसे विश्वास और रतिपना उड़ गया है। समझ में आया? आहाहा! यह तो लड़के अच्छे कमाऊँ हों और बापूजी... बापूजी! करके आवें तो वह हो गया चौड़ा और गली सकड़ी हो जाती है। आहाहा!

बहू विवाह कर आवे और ससुर को चरणस्पर्श करे। सौ वर्ष की होना और क्या कुछ कहते हैं। सौ पुत्रों की माँ होना, ऐसा कहते हैं। ऐसी बातें करते हैं। अपने को कहाँ... आहाहा! इसलिए यहाँ तक तू दुःखी होना। वृद्धावस्था करना और फिर मर जाना। आहाहा! वह बहुत प्रसन्न-प्रसन्न हो। पैर दबावे न इसलिए। आहाहा! यह जगत की दुःख की जंजाल। क्या कहलाता है? यह ठग... ठग करते हैं न, क्या कहलाता है? इन्द्रजाल। इन्द्रजाल, परन्तु इन्द्रजाल में यह नहीं बताते वे, कान्तिभाई! मायाजाल। कान्ति नहीं बताता कान्ति? के.लाल। के.लाल है न भाई? आया था, हमारे पास एक बार आया था, एक बार यहाँ आया था। वहाँ भी—राजकोट आया था। पाँच-पाँच हजार एक रात्रि के लेता है। फिर वहाँ हम थे तो आया था। महाराज! हम तो यह सब ठग हैं, यह कहे। ऐसा क्या कहा था?

मुमुक्षु : धतंग (ढोंग)।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, धतंग। यह सब धतंग है। परन्तु ऐसा बतावे, हों! स्त्री को

काट डाले। लकड़ी में दिखाई दे, वहाँ बुलावे ऐसे। देखे तो लोग तो... आहाहा! सब मायाजाल। वचन की और हाथ की चतुराई, वह स्वयं बेचारा ऐसा कहे, हम ठग हैं लुटेरे हैं। आहाहा! मर जाओगे अब ऐसे के ऐसे करके। भले दो लाख, दस लाख हुए होंगे। दो-दो लाख पैदा करता है। मर जायेगा इसमें, कहा। फिर आत्मसिद्धि दी थी। नरम व्यक्ति। यह पढ़ो... पढ़ो कुछ समझो बापू! यह मर जाये, लाख रुपये पैदा करे। पाँच-पाँच हजार एक-एक कुछ कितने लिये थे। चार-पाँच लाख। तीन घण्टे के पाँच लिये थे। ऐसा कुछ बताता है न?

मुमुक्षु : टेलीविजन।

पूज्य गुरुदेवश्री : टेलीविजन। पूरे जापान को सबको बताया था। तीन घण्टे, हों! पाँच लाख या ऐसा कुछ लिया। धूल भी नहीं, तेरे सब इन्द्रजाल हैं। पूर्व के पुण्य के कारण यह सब दिखते हैं। पूरा हो जायेगा जिस दिन पुण्य जायेगा उस दिन। आहाहा! धूल में भी कुछ नहीं। ... जादूगर-जादूगर। यह जादुगिरी करता है। इसी प्रकार यह सब संसारी की जादुगरी।

ज्ञानी को **वे विश्वासयोग्य तथा रमणीय नहीं लगते; इसलिए ज्ञानी को उनके साथ वचन-व्यवहार...** जगत को और स्त्री, कुटुम्ब के साथ वचन का व्यवहार बोले तथापि उसमें ऐसा प्रेम नहीं है, कहते हैं। आहाहा! दुश्मनों के साथ जैसे बातें करता हो, ऐसा उसे लगता है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें दिक्कत पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिक्कत ही है सदा। आहाहा! दिक्कतवाला घर है पूरा यह संसार। आहा! बापू! तू कहाँ था।

वह नहीं था? इस जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के रचनेवालवे गोपालदास बरैया। पण्डित व्यक्ति। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के (रचनाकार)। स्त्री ऐसी झगड़ालू। बातें करने बैठे होंगे पण्डित को सब इकट्ठे होकर। उसमें आयी। पहले तो कहा कि यह क्या कर बैठे हो? नहीं लाना, नहीं करना, ऐसा करना, बहुत बोली। बोलकर अन्दर जाकर जूठन का था न? ऐंठवाड का क्या कहलाता है वह? तुम्हारे नाम भूल गये। हण्डी-हण्डी। जूठन भरी

थी, वह पण्डित पर डाल दी। पण्डित कहे, भाई, देखो! गरजे, वह बरसे। अभी गरज गयी थी न, वह बरसी। क्या करे बेचारा? पण्डित नरम व्यक्ति था और मानो कि संसार तो ऐसा ही है। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका बनायी है न! दूसरे पण्डित बैठे थे। यह क्या? यह संसार। वह गरजी थी न अभी? गरजने के बाद बरसे। यह जूठन सिर पर डाली। अब हम धो डालेंगे। दूसरा क्या? यह संसार। सब ऐसा ही है, हों! एकान्त में उसे लाओ तो कहे हमारे घर से अच्छी है। यह सब नागिन है। ऐई... शान्तिभाई! ऐसा संसार! आहाहा!

विश्वासयोग्य तथा रमणीय नहीं लगते; इसलिए ज्ञानी को उनके साथ वचन-व्यवहार और शरीर-व्यवहार का अभिप्राय में त्याग वर्तता है। आहाहा! अभिप्राय में शरीर, वाणी भी मेरी नहीं और मैं उसके साथ बात करता ही नहीं। मैं तो जाननेवाला हूँ। ऐसी शरीर की क्रिया होते समय भी, मुझे उसमें सुख नहीं और मैं उसमें जाता नहीं। मैं तो वह क्रिया होती है, उसका जानने-देखनेवाला हूँ। आहाहा! कठिन बातें, भाई! ऐसा धर्म!

भाई! सत्यदृष्टि और असत्य दृष्टि का पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। समझ में आया? ऐसी ऐसा नहीं कि यह देखो हम धर्म करते हैं, इसलिए समकिती हैं। बापू! यह बात तो गहरी है। समझ में आया? आहाहा!

अभिप्राय में त्याग वर्तता है। अभिप्राय में त्याग वर्तता है, सेठ! वे मेरे नहीं। मुझे उनमें सुखबुद्धि नहीं। मुझे उनमें सुखबुद्धि से उनका प्रेम नहीं। आहाहा! ऐसे धर्मी की दृष्टि सत्य के ऊपर होती है, इसलिए पर के जगत का उसे विश्वास उड़ गया है और पूरे जगत से उसे रति उड़ गयी है। आहाहा! समझ में आया? **उसको आत्मा ही विश्वास करनेयोग्य...** उस धर्मी जीव को तो आत्मा ही विश्वास करनेयोग्य है, राग का भी विश्वास करनेयोग्य नहीं। आहाहा! वह कर्म के निमित्त के संग में कब क्या होता है? क्यों होता है? उसे यह विश्वास नहीं। विश्वास भगवान आत्मा का है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें। दिगम्बर सन्तों ने जगत की जंजाल को उकेलकर खुल्ला रख दिया है। ऐसी जगत की सब जंजाल है, भाई!

और उसी में वास्तविक सुख भासित होता है;... ज्ञानी को। **इसलिए वह जगत के पदार्थों में सुख होने का विश्वास कैसे करे?** क्या कहते हैं? आत्मा में ही सुख भासित

होता है, ऐसा कहते हैं। धर्मी को। **इसलिए वह जगत के पदार्थों में सुख होने का विश्वास कैसे करे? नहीं ही करता।**

अज्ञानी, बाह्यपदार्थों के संयोग में सुख मानकर, उनका विश्वास करता है... जरा स्पष्ट करते हैं। **अज्ञानी, बाह्यपदार्थों के संयोग में सुख मानकर, उनका विश्वास करता है परन्तु उन संयोगों के पलटने या उनका वियोग होने पर, उसके माने हुए सुख का अन्त आता है।** आहाहा! जब पति मर जाये न छोटी उम्र में फिर स्त्रियाँ रोवे। गहरे कुँए में उतारकर तुमने डोरी काट दी। क्या कुछ भाषा है?

मुमुक्षु : रस्सी काट ली।

पूज्य गुरुदेवश्री : रस्सी काट ली। आहाहा! यह सब हमारे सुना हुआ है, हों! बड़े भाई थे न, वे छोटी उम्र में गुजर गये। ४८... (संवत्) १९५७ के वर्ष में। नौ वर्ष का विवाह। स्त्री, पुत्र एक ही है। एक वर्ष का। वह मरने के समय हमारी उम्र उस समय ग्यारह वर्ष। वह महिला रोती थी, बड़े भाई की बहू। अरे... गहरे उतारकर रस्सी काटी। सब भ्रमणा की कल्पना है। आहाहा! कहते हैं कि अज्ञानियों को बाहर में विश्वास है, ज्ञानी को बाहर में विश्वास है नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष कृष्ण १५, सोमवार, दिनांक १०-२-१९७५, श्लोक-४९-५०, प्रवचन-६२

समाधितन्त्र है। ४९, उसमें विशेष।

अज्ञानी... आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की मूर्ति आत्मा है। ऐसा जिसे अनुभव नहीं, वह अज्ञानी आत्मा बाह्य पदार्थों—संयोगों में सुख मानता है। क्योंकि आत्मा जो शान्त और अनाकुल आनन्दस्वरूप है, उसका सम्यग्दर्शन में भान होना चाहिए, वह उसे हुआ नहीं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। ऐसा ज्ञानी को-धर्मी को अतीन्द्रिय आनन्द मुझमें है, ऐसा उसे वेदन हुआ है, इसलिए उसे आत्मा के अतिरिक्त कोई पुण्य और पाप के भाव या बाह्य पूरा जगत उसमें कहीं उसे सुख भासित नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

अज्ञानी को आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पूर्णानन्दस्वरूप है, ऐसा अनुभव नहीं; इसलिए **अज्ञानी, बाह्यपदार्थों के संयोग में सुख मानकर,...** अर्थात् बाह्य पदार्थों को ठीक मानता है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के भाव, इन सबको अज्ञानी ठीक मानता है। ठीक मानता है, इसका अर्थ कि उनमें सुख मानता है। उनमें ठीक मानता है, इसका अर्थ कि उनमें सुख मानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! समझ में आया? वह **सुख मानकर, उनका विश्वास करता है...** अज्ञानी को अनादि से यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय के भाव, दोनों विकारीभाव हैं, उनमें अज्ञानी को ठीकपना लगता है। अर्थात् उसमें उसकी सुखबुद्धि है। आहाहा! समझ में आया?

यह बाह्य में ही उसका विश्वास है। अन्तर की चीज़ की खबर नहीं। सम्यग्दर्शन बिना अन्तर के चीज़ का अनुभव नहीं हो सकता। आहाहा! और उस सम्यग्दर्शन बिना आत्मा का विश्वास, आनन्द है, ऐसा उसे प्रतीति में नहीं आता। इसलिए वह आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ें—बाह्य चीज़ें शरीर, वाणी, मन या बाह्य की अनुकूल सुविधा में वह सुख मानता है। सुख मानता है अर्थात्? वह ठीक है, वह मेरा हित है, वह मुझे आत्मा के सुख के लिये सब सुविधा है, ऐसा अज्ञानी बाह्य पदार्थ को मान रहा है। आहाहा! समझ में आया?

मुनिव्रत अनन्त बार धारण किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' क्योंकि मुनिव्रत के परिणाम जो पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, वह सब राग था, वह तो आस्रव था, दुःख था। आहाहा! उसमें इसने ठीक और हित माना। इसलिए इसे आत्मज्ञान जो पुण्य-पाप के रागरहित स्वरूप चिदानन्द प्रभु, उसका इसने स्पर्श और वेदन नहीं किया, इसके बिना यह सुखी नहीं हुआ। यह पंच महाव्रत के परिणाम पालता हुआ भी यह दुःखी है। क्योंकि वह राग है, आस्रव है और दुःख है। यह बात जगत को ... कहो, पोपटभाई! यह पैसे में, स्त्री में और पुत्र में जैसे सुख मानता है, वैसे अज्ञानी पुण्य और पाप के भाव में सुख मानता है। क्योंकि भगवान आत्मा आनन्द का स्वरूप है उसका तो। सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप प्रभु आत्मा का है। उसका इसे सम्यग्दर्शन तो नहीं। आहाहा! उसका इसे अन्दर आनन्द का वेदन तो नहीं, इसलिए यह पर में आनन्द माने बिना रहता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

वह पर में **सुख मानकर, उनका विश्वास करता है परन्तु उन संयोगों के पलटने या उनका वियोग होने पर, उसके माने हुए सुख का अन्त आता है।** आहाहा! शरीर ठीक हो, निरोग हो तो मुझे ठीक लगे, धर्म में मदद करे। आहाहा! ऐसी मिथ्यादृष्टि की अनादि की मान्यता है। समझ में आया? शरीर निरोगी रहे तो आत्मसाधन किया जा सकता है, ऐसी अज्ञानी की मान्यता शरीर के प्रति है। आहाहा! उसका उसे विश्वास है। यह संयोग बदलने पर, इनका वियोग होने पर उसने माने हुए सुख का अन्त आता है। अरे रे! इसमें तो कुछ मिलता नहीं। आहाहा! शरीर तो रोग में घिरता है, क्षय होता है, शरीर में जीर्णता आती है, माना हुआ, उसमें मुझे ठीक था, वह तो उड़ गया, बात इसकी। आहाहा!

इस प्रकार बाह्यसंयोगों के विश्वास से वह (अज्ञानी) ठगाया जाता है। आहाहा! समझ में आया? **वास्तव में अनुकूल या प्रतिकूल लगनेवाले संयोगों में कहीं सुख नहीं है...** यह सुख के साधन भी नहीं। आहाहा! **तो भी वह उनमें सुख मानकर ठगाया जाता है।** धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान से। **ज्ञानी को अपना आत्मा ही इष्ट है-प्रिय है।** आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं, समकिती उसे कहते हैं... आहाहा! जिसे अपना आत्मा इष्ट और प्रिय है। विकार के परिणाम समकिती को अनिष्ट लगते हैं। शुभभाव, शुभ उपयोग

वह भी समकिती को तो अनिष्ट लगता है, क्योंकि राग है और उसमें आस्रव है, वह दुःख है। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी को **अपना आत्मा ही इष्ट है-प्रिय है।** आहाहा! क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप प्रभु है, उसके अतिरिक्त के पुण्य और पाप के भाव, वे सब अनिष्ट और दुःखरूप लगते हैं समकिती को। समझ में आया? ऐसा मार्ग है। दुनिया बाहर में मानती है, वह मार्ग नहीं है। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की आज्ञा में तो ऐसा आया... आहाहा! जिसे भगवान आत्मा प्रिय, आनन्द के स्वरूप से प्रिय लगा है। आहाहा! उसे एक आत्मा के आनन्द के प्रति ही समकिती को प्रियता वर्तती है। आहाहा! उसे पुण्य और पाप में भी प्रियता नहीं। हो, परन्तु उनका उसे प्रेम नहीं और एकत्वबुद्धि नहीं। आहाहा! समझ में आया? शरीर अनुकूल हो, वाणी अनुकूल हो, वह तो जड़ है, मिट्टी है, अजीवतत्त्व है। उसमें धर्मी को कैसे कुछ ठीकबुद्धि होगी? आहाहा! समझ में आया? वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर का कहा हुआ सन्त मार्ग, वह अलग प्रकार है। आहाहा!

कहते हैं, **उसको जगत के पदार्थ प्रिय-सुखरूप नहीं लगते।** आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे गुणस्थान में उसे राग का-पुण्य का भाव भी सुखरूप नहीं लगता। आहाहा! समझ में आया? पुण्य के फलरूप से जो संयोग, पैसे, धूल, राग, देवपना इत्यादि मिले, उसमें तो सम्यग्दृष्टि को सुखबुद्धि होती ही नहीं। सेठ! यह बँगले बड़े छह-छह लाख के। धूल में भी कहीं ठीक नहीं। यह तो पूर्व के कोई शुभभाव किये हों, उसका पुण्यबन्धन हुआ, उस पुण्यबन्धन के फल में यह संयोग आये। यह पूर्व का शुभभाव, वह दुःखरूप है। आहाहा! उसके बन्धरूप से प्रकृति पड़ी, वह अजीव है, उसके फलरूप से संयोग, वे पर हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी (सुख) मानता है। अनादि से मूढ़ जीव जैन का दिगम्बर साधु हुआ, नग्न मुनि वनवासी अट्ठाईस मूलगुण पालनेवाला, तो भी उसे उस राग की क्रिया से, महाव्रत की क्रिया हितकर है, ऐसा उसने माना है। आहाहा! क्योंकि

रागरहित भगवान अन्दर, विकल्परहित (का) उसे ज्ञान नहीं है। आहाहा!

यह गाथा समाधिशतक की। पूज्यपादस्वामी। कि जिन्हें... यहाँ तो सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। यह समाधि का अधिकार है न? तो समाधि की व्याख्या? सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन में समाधि होती है। आहाहा! आधि, व्याधि, उपाधि तीन रहित, वह समाधि। आहाहा! उपाधि, यह संयोग; व्याधि—शरीर का रोग; आधि—संकल्प और विकल्प शुभ-अशुभराग। इन आधि, व्याधि, उपाधि तीन से रहित आत्मा का सम्यग्दर्शन, वह समाधि। आहाहा! सेठ! कठिन बातें, बापू! अन्तर की वस्तु को कभी इसने स्पर्श नहीं किया और उसकी दरकार नहीं की। बाहर में मानकर ऐसी की ऐसी जिन्दगी व्यतीत की। आहाहा! ऐसे तो अनन्त अवतार हुए।

कहते हैं कि जगत के पदार्थ में धर्मी को प्रियता और सुखरूप लगते नहीं। आहाहा! समकिती चक्रवर्ती हो, भरतादि छह खण्ड के स्वामी, छियानवें हजार स्त्रियाँ, वह छह खण्ड का राज और हजारों रानियाँ संयोग हो। सुख के लिये स्वप्न में भी उनका विश्वास नहीं। आहाहा! यह छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ गाँव, छियानवें करोड़ सैनिक, इन्द्र जिनके मित्र, परन्तु पर में कहीं सुख भासित नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि की स्वभाव सुख की दृष्टि होने से पर में से उसकी सुखबुद्धि उड़ जाती है। आहाहा! समझ में आया? **उसको सुख के लिए स्वप्न में भी विश्वास नहीं है।** एक स्त्री की हजार देव तो सेवा करे। ऐसी स्त्री रत्न एक चक्रवर्ती को होती है। दूसरी छियानवें हजार। कहीं उसे आत्मा के आनन्द का अनुभव है न! आहाहा! सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के अतीन्द्रिय का स्वाद लिया है न। आहाहा! इसलिए सम्यग्दृष्टि को कहीं अपनी जाति के अतिरिक्त कहीं ठीकपना, सुखपना भासित नहीं होता। उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! ऐसे देव-गुरु-शास्त्र को माने और नव तत्त्व को माने, इसलिए समकिती है, (यह) मिथ्या बात है। वह समकित है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

छह खण्ड के राज में... आहाहा! श्मशान में जैसे मुर्दा अकेला पड़ा हो और जलता हो। आहाहा! उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में छह खण्ड के राज में दिखाई दे, परन्तु जैसे श्मशान में मुर्दा भिन्न चीज़ है, वैसे भगवान आत्मा राग और पर से तो मर

गया होता है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानानन्द प्रभु चिदानन्दस्वरूप के भान की भूमिका में समकिती को पर में कहीं सुख दिखाई नहीं देता। कहो, यह स्थिति है। कहीं भी पुण्य और पाप के भाव में ठीकपना लगे, उसमें सुखबुद्धि हो गयी है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

उसको तो अपने चैतन्य आत्मा का ही विश्वास है... करोड़ अनुकूल हो, देव-गुरु-शास्त्र की अनुकूलता हो, तो भी वह तो परपदार्थ है। और उनकी मान्यता करना, वह भी एक राग है वह तो। आहाहा! उस राग में भी दुःख है, ऐसा कहते हैं। आता है, होता है परन्तु मानता है दुःख। आहाहा! स्व-चैतन्य के पदार्थ के आश्रय के अतिरिक्त उसे कहीं सुख भासित नहीं होता। भले वह समकिती चौथे गुणस्थान में हो। समझ में आया? आहाहा! तैतीस सागर का आयुष्य सर्वार्थसिद्धि के देव को। एकावतारी, एक भवतारी है। अरे... सौधर्म का इन्द्र अभी है, वह एकभवतारी है। सौधर्म और उसकी रानी दोनों एक भवतारी हैं। एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं। तथापि करोड़ों अप्सरायें, असंख्य देव, बत्तीस लाख विमान, वहाँ नहीं; उसे अन्तर में सुखबुद्धि भासित होती है। मेरा आनन्द का नाथ प्रभु, मेरा सच्चिदानन्द प्रभु में आनन्द है। उस स्वरूप में आनन्द के अतिरिक्त कहीं मुझे आनन्द भासित नहीं होता। वह समकिती ऐसे छह खण्ड के राज में पड़ा हो तो भी उसे पर में शान्ति दिखाई नहीं देती। आहाहा!

'जगत इष्ट नहीं आत्म से।' है न शब्द? रखा है न? यह श्रीमद् का वाक्य है न? 'जगत इष्ट नहीं आत्म से।' प्रवचनसार में आता है। प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य (रचित)। वह अपना स्वभाव जो आनन्द है, वही उसे इष्ट लगता है। आहाहा! और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी ज्ञानी को अनिष्ट लगते हैं। क्योंकि राग है, आस्रव है, आकुलता है, बन्ध का कारण है। आहाहा! कठोर बातें गजब भगवान की! वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ यह वस्तु का स्वरूप है, वैसा परमात्मा गणधरों और इन्द्रों के बीच यह कहते थे। आहाहा!

भगवान महाविदेह में विराजते हैं सीमन्धर परमात्मा। केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ परमेश्वर हैं। अरिहन्तपद में हैं। पूज्यपादस्वामी वहाँ दर्शन के लिये गये थे। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। आठ दिन भगवान के पास रहे थे। यह सुनकर, आकर यह शास्त्र रचे हैं।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार। यह पूज्यपादस्वामी भगवान के दर्शन के लिये गये थे। साक्षात् जीवन्त स्वामी विराजते हैं। जीवन्त केवली। सिद्ध हो गये, वे तो अशरीरी हुए हैं। चौबीस तीर्थंकर तो कहीं अभी तो विद्यमान है नहीं। वे तो सिद्ध हो गये। उनके पास (विदेहक्षेत्र) जाकर, (वापस) आकर यह बात करते हैं, भाई! वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है।

जो प्राणी आत्मा के आनन्द के पक्ष में-रास्ते चढ़ा नहीं, उसे राग का पक्ष छूटा नहीं। आहाहा! पुण्य और पाप के विकल्प, उनका पक्ष वह उनकी दिशा छूटी नहीं और जिसकी दिशा पुण्य और पाप के विकल्प से दिशा छूटकर दशा स्वभाव की ओर उन्मुख हुई है। आहाहा! उसे आत्मा के आनन्द का वेदन है। आहाहा! समझ में आया? चौथे गुणस्थान में (वेदन है)। अरे! बापू! ऐसा मार्ग है, भाई! उसके आनन्द के समक्ष चौदह ब्रह्माण्ड में कोई विकल्प और कोई देह या कोई पदवी उसे ठीक नहीं लगती। और अज्ञानी को आत्मा के आनन्द का भान नहीं। आहाहा! इसलिए जहाँ-तहाँ बड़ी पदवी दे, कुछ हो, तो वह प्रसन्न होता है। सेठ! प्रमुख की पदवी दे। पहली कुर्सी रखे। आहाहा! अरे... उसमें क्या हुआ भाई? आनन्द का नाथ तो तुझे हाथ आया नहीं और इस बाहर की पदवी में सुख मानता है। आहाहा! पुण्य का फल तो विष्टा का ढ़ेर है। आहाहा! पुण्य अर्थात् शुभभाव। उसे तो भगवान ने समयसार में जहर कहा है। मोक्ष अधिकार में। विषकुम्भ। शुभभाव— दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा आदि भाव को भगवान ने विषकुम्भ कहा है, वह राग है। वह जहर का घड़ा है। आहाहा! भगवान आत्मा तो अमृत का कुम्भ है। अमृत के कुम्भ के स्वादिया को वह जहर का स्वाद उसे अच्छा नहीं लगता, कहते हैं। समझ में आया?

जिसे दूधपाक का स्वाद आया, उसे लाल ज्वार के छिलके की रोटियाँ अच्छी नहीं लगती। लाल ज्वार होती है न? लाल ज्वार होती है, लाल। वह बहुत हल्की होती है। उसके छिलके होते हैं न, छिलके? वे तो बहुत हल्के होते हैं। आहाहा! उसकी रोटी बनावे। कहाँ दूधपाक का स्वाद और कहाँ यह? आहाहा! सम्यग्दृष्टि को अपने स्वभाव के आनन्द का स्वाद आया है। आहाहा! भले अव्रती हो, अभी चारित्र न हो। स्वरूपाचरणचारित्र हों। चौथे गुणस्थान में स्वरूप में स्थिरता का अंश। अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का नाश हुआ तो स्वरूप के अनुभव की आंशिक स्थिरता होती है। आहाहा! कहते हैं कि **जगत इष्ट नहीं आत्म से।** समकिती को पूरा जगत इष्ट नहीं लगता। आहाहा!

श्लोक - ५०

नत्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह -

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यारर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥ ५०॥

चिरं बहुतरं कालं बुद्धौ न धारयेत्। किं तत्? कार्यं। कथम्भूतम् परमन्यत्। कस्मात्? आत्मज्ञानात्। आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः परमपि किञ्चिद् भोजनव्याख्यानादिकं वाक्कायाभ्यां कुर्यात्। कस्मात्? अर्थवशात् स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात्। किंविशिष्टः? अतत्परस्तदनासक्तः॥५०॥

इस प्रकार होवे तो आहारादि में भी अन्तरात्मा की प्रवृत्ति कैसे होती है? वह कहते हैं —

आत्मज्ञान बिन कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय।
कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहाँ जोय॥ ५०॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा को चाहिए कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्मज्ञान से भिन्न, दूसरे (कार्यं) कार्य को (चिरं) अधिक समय तक (बुद्धौ) अपनी बुद्धि में (न धारयेत्) धारण नहीं करे। यदि (अर्थवशात्) स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश (वाक्कायाभ्यां) वचन और काय से (किंचित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े, तो उसे (अतत्परः) अनासक्त होकर (कुर्यात्) करे।

टीका - चिरकाल तक अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बुद्धि में धारण नहीं करता। क्या वह? कार्य। कैसा (कार्य)? पर अर्थात् अन्य। किससे (अन्य)? आत्मज्ञान से (अन्य)। आत्मज्ञानरूप कार्य को ही लम्बे काल तक धारण रखता है — ऐसा अर्थ है, परन्तु अन्य किञ्चित् अर्थात् भोजन, व्याख्यानादिरूप कार्य को वचन-काय द्वारा करे। किससे? प्रयोजनवश अर्थात् स्व-पर के उपकाररूप प्रयोजनवश (करे)। कैसा होकर (वह करे)? अतत्पर होकर अर्थात् उसमें अनासक्त होकर करे।

भावार्थ - ज्ञानी, अपने भावमन को-उपयोग को आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है; आत्मज्ञान से अन्य किसी व्यावहारिक कार्य में लम्बे समय तक नहीं

रोकता। कदाचित् प्रयोजनवशात् अर्थात् स्व-पर के उपकारार्थ अस्थिरता के कारण, वचन-काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे तो उसमें ज्ञानी को अतन्मयभाव वर्तता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है। वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है। कदाचित् लम्बे समय तक स्वरूप में स्थिर न रह सके और प्रयोजनवशात् आहार-उपदेशादि का विकल्प आवे, तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से) होते हैं। उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है, भावना नहीं है। कार्य के लिए शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है, उसमें उसको एकताबुद्धि या कर्ताबुद्धि तो है ही नहीं, परन्तु वह क्रिया करने के विकल्प को भी भला नहीं मानता। 'मैं इस विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर, कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ' — ऐसी भावना उसको निरन्तर होती है। इसी भावना के बल से उसका उपयोग, बाहर की क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता; वहाँ से छूटकर शीघ्र ही स्वसन्मुख झुकता है।

ज्ञानी को निचली भूमिका में अस्थिरता के कारण, राग होता है और वचन -काय की क्रिया के प्रति लक्ष्य जाता है परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को भूल जाए, वैसी आसक्ति उनमें नहीं होती।

ज्ञानी को बाह्य वचन-काय की प्रवृत्ति होने पर भी, उसके अन्तरङ्ग में दृढ़ मान्यता है कि —

'मैं देह-मन-वाणी नहीं, मैं उनका कर्ता नहीं, उनका करानेवाला नहीं और अनुमोदक भी नहीं.....मेरे कर्ता हुए बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं; इसलिए उनके कर्तापने का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा १६० व टीका)

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी ज्ञानचेतना का निरन्तर परिणमन होता है; इससे वह खाने-पीने में, पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने में, व्यापार में, युद्ध आदि संसार के कार्यों में बाह्यदृष्टि से रुका हुआ लगने पर भी, समस्त बाह्यप्रवृत्ति में वह जल-कमलवत् न्याय से रहता है॥५०॥

श्लोक - ५० पर प्रवचन

इस प्रकार होवे तो आहारादि में भी अन्तरात्मा की प्रवृत्ति कैसे होती है ? अब ऐसा प्रश्न करता है (कि) तुम जब कहते हो, समकिती आहार करता है, विहार करता है, चलता है, बोलता है, उसका क्या समझना ? ऐसा प्रश्न करता है। ५०।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यारर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥ ५०॥

यह ५०वीं गाथा।

टीका - **चिरकाल तक अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बुद्धि में धारण नहीं करता।** समकिती, आहाहा! अन्तरात्मा। बहिरात्मा, वह पुण्य और पाप के भाव में सुखबुद्धि, वह बहिरात्मा है। बहिर् अर्थात् जो स्वभाव में नहीं, ऐसे भाव को अपना माने, उसे बहिरात्मा कहा जाता है। आहाहा! और जो अन्तर में है, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान, ऐसे स्वभाव को जो जानता और वेदन करता है, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया ?

वह अन्तरात्मा **चिरकाल तक अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बुद्धि में धारण नहीं करता। क्या वह ? कार्य। कैसा (कार्य) ? पर अर्थात् अन्य। किससे (अन्य) ? आत्मज्ञान से (अन्य)।** आहाहा! आत्मा का ज्ञान, आनन्द का ज्ञान, वह आत्मा का कार्य। आहाहा! आत्मा का ज्ञान। स्वसन्मुख होकर हुआ आत्मा का ज्ञान, शास्त्र ज्ञानादि की यहाँ बात नहीं है। शास्त्रज्ञान, वह आत्मज्ञान नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति प्रभु, उसका जिसे अन्तर ज्ञान है, स्वसन्मुख होकर जिसने आत्मा का अनुभव किया है, ऐसे आत्मज्ञानी को... आहाहा!

आत्मज्ञानरूप कार्य को ही बुद्धि में लम्बे काल तक धारण रखता है... आहाहा! जानना-देखना, वह मेरा कार्य। यह शुभ-अशुभभाव आवे, तो भी जानना-देखना, वह कार्य। कि आत्मज्ञानी का कार्य यह। आहाहा! वह **आत्मज्ञानरूप कार्य को ही बुद्धि में लम्बे काल तक धारण रखता है — ऐसा अर्थ है, परन्तु अन्य किञ्चित्...** आहाहा!

भोजन, व्याख्यानादिरूप कार्य... देखो भाषा! आहार का विकल्प आवे, व्याख्यान करने का विकल्प आवे, वह भी राग है। समझ में आया? वाणी का उपदेश हो, उसमें विकल्प है। आहाहा! राग है। सुनने के काल में भी जो सुनने का लक्ष्य जाता है, वह भी राग है। भगवान! वीतरागमार्ग अलग है, प्रभु!

कहते हैं कि आत्मज्ञानी, सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान के कार्य के अतिरिक्त लम्बे काल दूसरी चीज़ को लक्ष्य में नहीं रखता। आहाहा! समझ में आया? है? **आत्मज्ञानरूप कार्य को ही...** कार्य को ही, ऐसा है। **बुद्धि में लम्बे काल तक धारण रखता है...** है। जानना-देखना आनन्द, वह मेरा कार्य है। समकिती का दूसरा कार्य नहीं। आहाहा! देखो, सन्तों की वाणी तो देखो! दिगम्बर मुनि केवलज्ञान के पथानुगामी, केवलज्ञानी का मार्ग जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

कहते हैं, सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है कि मैं आनन्द और शान्त और स्वच्छ और प्रभुत्व स्वभाव से भरपूर हूँ। आहाहा! मुझमें राग-द्वेष तो नहीं, परवस्तु तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा! क्योंकि जिस भाव से तीर्थंकर (प्रकृति का) बन्ध पड़ता है, वह भाव राग का आस्रव है। आहाहा! यह कहते हैं कि समकिती जीव ऐसा विकल्प आवे, परन्तु लम्बे काल हृदय में नहीं रखता।

लम्बे काल तो आत्मा के शुद्धस्वरूप का शुद्ध परिणमन का कार्य। आहाहा! मार्ग भारी सूक्ष्म, भाई! इसलिए लोगों को कुछ का कुछ अवरोधक हो और उससे यह सुने इसलिए उन्हें ऐसा लगता है, यह वह बात! यह तो निश्चय का मार्ग। निश्चय का अर्थात् सच्चा। व्यवहार का अर्थात् उपचारिक खोटा। आहाहा! समझ में आया? '**ववहारोऽभूदत्थो**' (समयसार) ११वीं गाथा में कहा है। व्यवहार तो असत्यार्थ कथन करता है। सत् की बात वहाँ नहीं होती। आहाहा!

भगवान आत्मा **भोजन-व्याख्यानादि...** आहाहा! दूसरे के साथ वचन के व्यापार में आने पर वह वचन और काय द्वारा दिखता है परन्तु मन में उसका आदर नहीं होता। आहाहा! मार्ग बहुत... अनन्त काल में नहीं किया, ऐसा मार्ग तो अपूर्व ही होगा न! और

उसके फलरूप से अनन्त शान्ति और आनन्द, सादि-अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, उसका उपाय भी अलौकिक ही होगा न! आहाहा!

कहते हैं, धर्मी जीव... आहाहा! पाठ है न? '**आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।**' समकिती आत्मज्ञानी जीव अपने आत्मज्ञान के कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को बहुत लम्बे काल चित्त में नहीं रखता। आहाहा! कायर का तो कलेजा कांप उठे, ऐसा है। यह पूज्यपादस्वामी कहते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हुए, उसके बाद २००-५०० वर्ष हुए। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९, यह तीन तीसरी, चौथी, पाँचवीं (शताब्दी में)। परन्तु आकाश के स्तम्भ सन्त यह भी। ओहोहो! मुनि अर्थात् क्या? जिन्हें पौन सेकेण्ड की तो निद्रा होती है। इसके अतिरिक्त निद्रा अधिक नहीं होती। आहाहा! यह दशा तो देखो, बापू! मुनि किसे कहा जाये, भाई! पौन सैकेण्ड के अन्दर निद्रा, छठवाँ गुणस्थान हो, वहाँ यह जरा निद्रा आ जाती है। पिछले पहर में। नहीं आता छहढाला में?

'पिछली रयन में शयन एकाशन।' एक करवट में रहे ऐसे। आहाहा! छहढाला में आता है। 'पिछली रयन...' आहाहा! जिन्हें भाव अन्तर आनन्द प्रगट हुआ है। आनन्द तो चौथे (गुणस्थान) में प्रगट होता है, परन्तु इन्हें तो चारित्र का आनन्द प्रगट हुआ है। आहाहा! प्रचुर स्वसंवेदन, ऐसा शब्द है, (समयसार) पाँचवीं गाथा में। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, हमको तो प्रचुर स्वसंवेदन—आनन्द प्रगट हुआ है। आहाहा! पाँचवीं गाथा। संस्कृत टीका है। हमें प्रचुर आनन्द। चौथे गुणस्थान में प्रचुर आनन्द नहीं होता। आनन्द होता है परन्तु प्रचुर—बहुत नहीं होता और मुनि को तो प्रचुर आनन्द जिन्हें आनन्द का ढ़ेर... आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का अभाव होकर आनन्द की धारा बहती है... आहाहा! उन्हें रात्रि में निद्रा पौन सेकेण्ड के अन्दर आती है। एक सेकेण्ड की निद्रा आ जाये तो मुनिपना नहीं रह सकता। ऐसी तो वस्तु है, बापू! आहाहा! यह तो सम्यग्दृष्टि से लेकर बात है।

मुमुक्षु : यह तो चौथे काल के मुनि....

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे काल या पाँचवें काल में मार्ग तो एक ही है। दूसरा मार्ग है नहीं। हलुवा चौथे काल में दूसरे प्रकार से होता है? शीरो-शीरो क्या कहते हैं? हलुवा। और पाँचवें काल में हलुवा दूसरे प्रकार से होता है? आटा, गुड़ और घी। तीन का होता

है। चौथे काल में भी ऐसा होता है, और पाँचवें काल में भी ऐसा ही होता है। कहीं पाँचवें काल में घी के बदले पेशाब डालते होंगे हलुवा में ?

मुमुक्षु : शक्कर के बिना गुड़ तो डाला जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शक्कर और गुड़ दोनों एक ही चीज़ हुई और घी के बदले तेल डाले। गरीब मनुष्य हो वह तेल का हलुवा बनाता है। हलुवा। कोळी हो न हमारे, तेल का हलुवा बनावे। परन्तु क्या तेल के बदले पानी डाले ? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा की बात सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। मार्ग यह है, प्रभु! तू मान, न मान। इससे कहीं मार्ग दूसरा नहीं हो जायेगा। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव... आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर जिन्हें एक समय में तीन काल का ज्ञान वर्तता है। उन्हें इच्छा बिना वाणी निकलती है। उन्हें इच्छा नहीं होती। इच्छा बिना वाणी। क्योंकि वीतराग, बारहवें गुणस्थान में वीतराग होते हैं, पश्चात् तो केवलज्ञान होता है। इच्छा तो नाश हो गयी है। सर्वज्ञ होने के पश्चात् ॐ ध्वनि। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।' आहाहा! भगवान के श्रीमुख से सम्पूर्ण देह में से ॐकार की आवाज आती है। आहाहा! परमात्मा महाविदेह में विराजते हैं। इन्द्र सुनने जाते हैं, सिंह, बाघ और नाग सुनने जाते हैं। आहाहा! उस वाणी में से जो सार था, वह यहाँ आचार्यों ने शास्त्र में रचा है। दिगम्बर सन्तों ने... आहाहा! यह वीतराग की वाणी का सार था, वह शास्त्र में रचा है। समझ में आया ? आहाहा! करुणा का विकल्प आया है, है विकल्प बन्ध का कारण; परन्तु आता है। तब यह शास्त्र रच गये हैं। इन शास्त्र में भगवान की वाणी ऐसा कहती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान अर्थात् धर्मदशा सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, ऐसे आत्मज्ञानी, उसे भले शास्त्रज्ञान थोड़ा हो, उसे दूसरे को समझाना आवे या न आवे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु विराजता है, उसकी जिसे दृष्टि हो गयी है। उसका जिसे साक्षात्कार, स्व के आश्रय से राग का, मन का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन... समकित की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन कहते हैं, ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

लोगों को सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं है। बाह्य त्याग की कीमत है। जो अनन्त बार किया और अनन्त बार छोड़ा। जो आत्मा में बाह्य त्याग-ग्रहण का स्वभाव ही नहीं। आत्मा बाह्य त्याग-ग्रहण शून्य है। ऐसा आत्मा में गुण है। अनादि का एक ऐसा गुण है कि बाह्य त्याग-ग्रहणरहित ही यह आत्मा है—पर-जड़ को क्या ग्रहण करे और जड़ को क्या छोड़े? आहाहा! अब यह पर का त्याग हो, तब लोगों को ऐसा लगता है कि आहाहा! इसने कुछ त्याग किया। परन्तु मिथ्यात्व का त्याग किस प्रकार होता है, इसकी खबर नहीं होती। समझ में आया? क्योंकि बन्ध के कारण में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें पहला तो मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। अब इसका—बन्ध का त्याग नहीं, वहाँ उसे अव्रत का त्याग कहाँ से हो गया उसे? आहाहा!

यहाँ आचार्य महाराज यह कहते हैं। सब दिगम्बर सन्त वनवासी थे। जरा सूक्ष्म बातें हैं, भाई! मुनि तो वन में रहते थे। समझ में आया? वनवासी थे। फिर यह सब फेरफार हो गया। वस्त्र रखकर साधु माने, वह वस्तु सब विपरीत है। वह वीतरागमार्ग की वस्तु नहीं। अरेरे! क्या हो? जगत को सत्य मिलता नहीं। मिले बिना सत्य के रास्ते जाये कहाँ से? आहाहा!

कहते हैं, समकिती जीव भोजन, व्याख्यान, लिखना आदि कार्य होता है न? ऐसे कार्य को **वचन-काय द्वारा करे।** करे अर्थात् वचन काय द्वारा होता है, ऐसा। आहाहा! वचन-काय को करे, वह आत्मा यह बिल्कुल कर नहीं सकता। वाणी जड़ है, काया जड़-मिट्टी अजीवतत्त्व है। उस अजीवतत्त्व को आत्मा कुछ नहीं कर सकता, स्वतत्त्व में परत्तव का एकपना माने तो करे, ऐसा माने। आहाहा! है? **भोजन, व्याख्यानादिरूप कार्य को वचन-काय द्वारा करे।** अर्थात् वचन-काय द्वारा, विकल्प आया तो वचन-काय द्वारा वह हो गया।

किससे? प्रयोजनवश अर्थात् स्व-पर के उपकाररूप प्रयोजनवश (करे)। विकल्प आया है जरा। आहाहा! **कैसा होकर (वह करे)? अतत्पर होकर...** यह वाणी और देह में अनासक्त होकर करे। आहाहा! वाणी और देह तो जड़ की दशा है। वाणी और देह तो अजीव की अवस्था है, मूर्तदशा जड़ की, मिट्टी की है। आहाहा! उसमें समकिती,

उसमें यह मैं करता हूँ, ऐसा उसे नहीं होता। आहाहा! यह श्लोक बहुत ऊँचा है। भाई बहुत बोलते, भाई! पोपटभाई, वढवाणवाले। यह गाथा, पोपटभाई यह बहुत बोलते थे। ग्रेजुएट पोपटभाई नहीं? गुजर गये। '**आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।**' है खबर हिम्मतभाई? पोपटभाई ऐसा बहुत बोलते थे। एक पोपटभाई थे ग्रेजुएट, वढवाण में। भाई ने, सेठ ने नहीं देखा होगा। बहुत वर्ष पहले। यहाँ आते थे। आहाहा!

कहते हैं कि वचन और काया, वह तो अजीव है। उनका कार्य समकिती नहीं करता। आहाहा! वह वाणी और काया की क्रिया होती है, उसमें वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। है? स्व-पर के उपकार प्रयोजनवश विकल्प आवे, ऐसा कहते हैं। **कैसे होकर?** स्व का उपकार अर्थात्? कोई सुनने का भाव आवे, देव के पास, गुरु के पास, समकिती को भी (भाव आवे)। समझ में आया? तथापि वह वाणी और सुनने में वाणी में तत्पर नहीं होता, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : करना....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता है नहीं।

'करे कर्म सोहि करतारा जो जाने सो जाननहारा।' यह वाणी और काया मैं करता हूँ काम वह 'करे कर्म सोहि करतारा।' वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! 'जो जाने सो जाननहारा।' ज्ञानी जानता है कि यह होता है। मेरा कार्य नहीं। आहाहा! अजीव को अजीवरूप से जानने से, जीव की अजीव की कोई क्रिया को मेरी वह नहीं मानता। आहाहा! **कैसा होकर (वह करे)? अतत्पर होकर अर्थात् उसमें अनासक्त होकर करे।** आहाहा!

भावार्थ - ज्ञानी, अपने भावमन को-उपयोग को आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है;... आहाहा! है? धर्मी अर्थात् ज्ञानी समकिती जीव अपने उपयोग को जानने-देखने का उपयोग, वह भावमन, और संकल्प-विकल्प लेना नहीं। जानने-देखने का जो उपयोग, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा जो ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय का उपयोग, वह **आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है;...** आहाहा! फिर यह कब करना तब फिर यह बीड़ीवाले का, टाईल्स का? भाई! कहाँ कर सकता है? एक अंगुली ऐसी फिरे, उसे आत्मा कर नहीं सकता, भाई! वह तो जड़ है। यह जड़ का उत्पन्न काल जब ऐसा होने का हो, तब उत्पन्न

काल के कारण से होता है। आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! ऐसी भाषा ज्ञान, वर्गणा जो भाषा की है, तब भाषारूप परिणमने का उसका उत्पन्न काल है। वह भाषारूप परिणमती है। आत्मा उसे परिणमाता नहीं। आहाहा! ओहोहो! ऐसा मार्ग! मार्ग तो ऐसा है, भाई!

अपूर्व—पूर्व में अनन्त काल में नहीं किया हुआ, ऐसा मार्ग कैसा होगा? आहाहा! अरे... इसे सुनने को भी मिलता नहीं कि यह देह के कार्य और वाणी के कार्य, प्रभु! तेरे नहीं। आहाहा! विशाल मन्दिर बनाना और यह बड़ा क्या कहलाता है? परमागम बना बड़ा, लो। २६ लाख का। यह आत्मा करता होगा इसे? आहाहा! भाई! वह तो पुद्गल की पर्याय उस काल में उस प्रकार से उत्पन्न होकर परिणमने के काल में परिणमती है। आत्मा उसे नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : उसके पास पुद्गल है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। पुद्गल यह शरीर, वाणी इसके कारण से। यह इसके कारण से पुद्गल चलता है। उसके पास पुद्गल है उसे यह बनावे? ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, पोपटभाई! कठिन काम, भाई! यह तो एकान्त निश्चय हो जाता है, कहते हैं। अरे... भगवान! तुझे खबर नहीं, बापू! निश्चय, वही सत्य है। व्यवहार से बोला जाता है, वह तो एक ज्ञान करने के लिये बोला जाता है। आहाहा!

धर्मी अपने **आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है; आत्मज्ञान से अन्य किसी व्यावहारिक कार्य में लम्बे समय तक नहीं रोकता।** आवे विकल्प, कहते हैं। राग शुभ-अशुभ आदि। लम्बा काल उसमें राचता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग है, तब तक अन्दर लक्ष्य है, तथापि राग का ज्ञान करे। राग होता है, उसमें साथ में ज्ञान होता है। भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान करना नहीं पड़ता। ऐसी बात।

अन्दर राग आता है, उसमें रुकता नहीं। अर्थात् रुकता है ज्ञान में, ऐसा कहते हैं। उसे जानना है, जाननेवाला, वह मेरी दशा है। राग मेरा कार्य नहीं है। आहाहा!

कदाचित् प्रयोजनवशात् अर्थात् स्व-पर के उपकारार्थ अस्थिरता के कारण,...

देखा! समकिती को अस्थिरता होती है। उसके कारण **वचन-काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे...** वृत्ति उठे, परन्तु इससे कार्य करे आत्मा उपदेश का... अरेरे! ऐसी बातें भारी कठिन, भाई! आहाहा! उसे विकल्प होता है। वह भी विकल्प का जाननेवाला ही है।

मुमुक्षु : बहुत स्पष्टीकरण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत स्पष्टीकरण है। पाठ भी ऐसा है।

'**आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।**' ज्ञानी दूसरे कार्य के विकल्प को दीर्घ काल रखता नहीं। कर नहीं सकता, यह तो प्रश्न ही नहीं। आहाहा! पर को तो कर सकता ही नहीं। आहाहा! एक अक्षर लिखना, वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। अरेरे!

मुमुक्षु : इतनी अधिक पुस्तकें तो प्रकाशित की न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने प्रकाशित की? रामजीभाई ने की होंगी। हिम्मतभाई ने किया, हिम्मतभाई ने। हिम्मतभाई ने किया है। यह सब बातें हैं। यह सब व्यवहारनय कथन हैं।

वह तो जो रजकण का जो स्कन्ध है, अनन्त रजकण का स्कन्ध-पिण्ड, उसकी भी जिस समय जो पर्याय स्वकाल में होनेवाली है, वह उससे होती है। आहाहा! द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वस्तु है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल से नहीं। सप्तभंगी है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल... काल अर्थात् पर्याय। अपने काल से है और पर के काल से नहीं। आहाहा! यह तो पहली सप्तभंगी है। यह तो जैनदर्शन का मूल तत्त्व है।

मुमुक्षु : परन्तु ऐसा रहस्य समझाया किसने?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो समझने का काल आवे तो आवे ही ऐसा। आहाहा!

काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे तो उसमें ज्ञानी को अतन्मयभाव वर्तता है। देखा! वह राग आवे, उसमें वह तन्मय-एकपना नहीं है। राग के साथ एकपना हो, तब तो मिथ्यादृष्टि हो गया। आहाहा! क्योंकि राग है, वह आस्रवतत्त्व है; भगवान आत्मा ज्ञायकतत्त्व है। दोनों को एक माने, तब तो अन्तरात्मा रहा नहीं। वह तो बहिर् में चला गया। आहाहा! अतन्मय वर्तता है, लो!

विशेष - धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है। देखा! भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, वह तो ज्ञानस्वरूप ही है। 'ज्ञ' स्वरूप भगवान आत्मा विराजता है। उसका कार्य तो ज्ञान का कार्य है जानना, बस। आहाहा! **स्वसंवेदन...** है न? स्व अर्थात् अपना, सं अर्थात् प्रत्यक्ष, राग और मन के अवलम्बन बिना, स्वयं अपने को वेदता है, वह संवेदन कार्य आत्मा का है। भारी कठिन! कल तो यहाँ जैतपुर जानेवाले हैं। कल अन्तिम है न? यह श्लोक अच्छा आया, ५०। आहाहा!

धर्मी को... सम्यग्दृष्टि को **मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है।** गौणरूप से ऐसे विकल्प आवे, उनमें अतन्मय होकर रहता है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। जगत को जँचे, न जँचे, इससे कहीं वस्तु बदल नहीं जाती। वस्तुस्थिति तो यह है। तब कहे कि ऐसा मार्ग भी बहुत लाखों और करोड़ों को न समझ में आये। न समझ में आये अर्थात्? समझ में आये, उसे समझ में आये; न समझ में आये, उसे तो अनादि से है। आहाहा!

उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है। सम्यग्दृष्टि तो आत्मसंवेदन के कार्य में अपने उपयोग को लगाता है। आहाहा! **कदाचित् लम्बे समय तक स्वरूप में स्थिर न रह सके और प्रयोजनवशात् आहार-उपदेशादि का विकल्प आवे, तो वे कार्य अनासक्तिभाव से...** यह अनासक्ति अलग, हों! वह यह गाँधीजी अलग जो कहते हैं, अनासक्त से काम करना, वह मिथ्या बात है और यह दूसरी बात है। वे तो कहते हैं कि अनासक्ति से कार्य करना। यहाँ कार्य करने की बात नहीं। गीता का अनासक्तियोग कहते हैं न? वह तो अनासक्ति से काम करना, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो काम करना नहीं, परन्तु काम करने के काल में जो विकल्प उठा, उसमें तन्मय न होना, इसका नाम अनासक्ति है। आहाहा! भाई! यह तो मार्ग अलग है। जगत के साथ कुछ (मिलान खाये, ऐसा नहीं है)। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करने का अर्थ क्या? कहा, सुना नहीं? करना, ऐसा नहीं। करते हैं, तब उसे राग आता है। उसमें तन्मय न होना, ऐसा इसका अर्थ किया। करे क्या? धूल करे? लो, इतना आया, लो। अब विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

माघ शुक्ल ७, सोमवार, दिनांक १७-२-१९७५, श्लोक-५०, प्रवचन-६३

समाधितन्त्र। इसका विशेष। जब से स्वभाव की दृष्टि की मुख्यता हटती नहीं। जिससे **धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है।** आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है—ऐसी दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहा जाता है। इस आत्मदृष्टि बिना जो कुछ शुभ-अशुभभाव करे, वह उसे बन्ध खाते एकान्त बन्ध है। इसलिए कहते हैं कि धर्मी को अबन्धस्वभावी आत्मा... शरीर, कर्म से तो बन्ध नहीं, सम्बन्ध कहो या बन्ध कहो। राग के साथ सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध-बन्ध नहीं उसके साथ। वस्तु है, वह राग के सम्बन्ध-बन्ध से भिन्न है। आहाहा! इससे **धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है।** आहाहा! आत्मा का वेदन करना ज्ञान का अर्थात् कि निजस्वभाव का। वही धर्मी का या ज्ञानी का... एक ही शब्द है। ज्ञानी अर्थात् कोई बहुत जानकारी वाला हो तो ज्ञानी, ऐसा कुछ नहीं है।

धर्मी को आत्मसंवेदन, वही मुख्य कार्य है। आहाहा! अज्ञानी का मुख्य कार्य विकार का करना और विकार का भोगना, वह है। पर का करना और भोगना, वह तो है नहीं। आहाहा! **वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है।** अज्ञानी अपने ज्ञान के व्यापार को, राग और विकल्प में जोड़ता है, इतना उसका कार्य। इससे आगे आकर कहीं शरीर का या पर का करे, ऐसा तो है नहीं। उसमें बोलते थे। निकला न वह धर्मचक्र। बाबूभाई है न छोटा बाबू? फतेपुर में तीन बाबूभाई। महावीर का सन्देश। लोग... लोग... लोग... उमड़ पड़े। जूनागढ़ में पहले होगा दिगम्बर में। इतने लोग। सेठ! ढाई हजार लोग तो अपने। दूसरे गाँव का। महावीर का सन्देश। आत्मा किसी को अपने अतिरिक्त कर नहीं सकता। थोड़ा तो चले। सुने तो सही लोग। लोगों के झुण्ड-झुण्ड। पीछे और आगे और चारों ओर।

सब आत्मा समान है, कोई छोटा-बड़ा नहीं। यह तो अपने भाई भी कहते थे, नहीं? जशु। उनका पाँच वर्ष का लड़का जशु। वह भी अभी पढ़ा नहीं परन्तु यह बोलता था, कहता था... सभी आत्मा समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं, ऐसा कल बोलता था। आत्मा

भगवान हो सकता है, ऐसा। यहाँ कहते हैं... आहाहा! ऐसा कल बोला। भले व्यक्ति अन्यमति हो परन्तु सबको आत्मा शब्द एक ही है। कान में तो पड़े यह बात यह क्या? तीन लोक का नाथ चैतन्यस्वरूप।

वास्तव में तो यह वस्तु वीतरागस्वरूप आत्मा है। जिनस्वरूप कहो या वीतरागस्वरूप कहो और उसका आश्रय ले तो ही वीतराग पर्यायदृष्टि प्रगट होती है। यह वीतराग दृष्टि, वीतराग स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होती है। कहीं पर के अवलम्बन से निमित्त के-राग के-पर्याय के अवलम्बन से वह प्रगट नहीं होती। क्योंकि उस पर्याय में वीतरागता नहीं। राग में वीतरागता नहीं, निमित्त में वीतरागता नहीं। वीतरागता तो पूर्ण स्वरूप है। आहाहा!

वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है। क्योंकि वह वीतरागमूर्तिस्वरूप चैतन्य अनादि सनातन सत्य है वह। उसका उपयोग वहाँ लगा है। भले काय-वचन से काय काम हों, कहते हैं। काम होते हैं। इसमें अर्थ में तो ऐसा लिखा न, वचन-काय द्वारा करे। भाषा तो ऐसी है न। '**कुर्यादर्थवशात्किं**' प्रयोजनवशात कार्य करे। करे क्या, परन्तु होते हैं। उसका ऐसा अर्थ है। वचन और काया की क्रिया होती है। राग होता है, उसके प्रमाण में देह की, वाणी की क्रिया होती है, परन्तु वह लम्बा काल उसके ऊपर लक्ष्य नहीं रहता। आहाहा! धर्मी का यह लक्षण है।

यह धर्मचक्र निकला था तो लोगों में जरा छाप पड़ गयी। कल जूनागढ़ में एक लाख रुपये की मोटर। एक मोटर के एक लाख रुपये हुए हैं। पूरी बिकती हुई लेकर फिर सब शृंगार किया। काँच में अक्षर और वह चक्र और बाबूभाई से छोटे बाबूभाई, उसमें से वे बोले। पूरे गाँव में लोग, वे लोग कहीं समाये नहीं। आगे-पीछे, दुकान, मकान। प्रत्येक आत्मा भगवान हो सकता है, ऐसा बोले। ऐई! ऐसी तो बात आवे तब तो फिर... आहाहा! और लोगों के झुण्ड वे कितने? आहाहा! धर्मचक्र में मैं बैठा था। वहाँ गये थे न मन्दिर दर्शन करने गये थे। वहाँ यह आये। वहाँ से उन्हें शुरु करना था। बाबूभाई कहे, लोगों के झुण्ड चरणवन्दन करने और वे बोले ऊपर से। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। चला तो है अब बाहर। यह तो कल सवा चार से पाँच। पूरा गाँव उमड़ा था। पौन घण्टे। हमारे तो पाँच बजे तो आहार करना। वहाँ पाँच को ही पूरा हो गया। जहाँ

पाँच हुए वहाँ उनका पूरा हो गया। मन्दिर से लिया मन्दिर में आया। वहाँ यह बात थी। अब तो चारों ओर निकलते हैं। व्याख्यान में दो हजार, ढाई हजार लोग। इतने लोग। छठी गाथा थी।

बापू! मार्ग तो यह है, भाई! ऐसा मनुष्यपना मिला और यदि द्रव्यदृष्टि न हुई... क्योंकि पर्याय पर लक्ष्य अनादि का है और उस पर्याय को ही इसने रुचि में लेकर इतना और यह मैं हूँ, ऐसा माना है। वह कोई नयी चीज़ नहीं। एक पर्याय के अंश की रुचि छोड़कर, ज्ञायकभाव जो द्रव्यस्वभाव... वहाँ तो छठवीं (गाथा) में यह आया था न। द्रव्यस्वभाव, शुभाशुभभावरूप परिणमता नहीं। यह धर्मी की दृष्टि है। क्या कहा यह? शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध का भाव, उस भाव से वस्तु जो ज्ञायकभाव, वह द्रव्यस्वभाव उस भाव से परिणमता नहीं। अर्थात्? कोष्ठक में लिखा है वह पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है। अर्थात् शुभाशुभभावरूप ज्ञायकभाव होता नहीं, परिणमता नहीं। अर्थात् जड़रूप होता नहीं। है न कोष्ठक में। यह वापस भाई थे न धन्नालाल। तुम कहते हो कि ऐसा कहा। यह तो स्पष्ट करने के लिये। किसने लिखा है, यह कहा। इसका अर्थ ही यह है कि शुभ और अशुभभाव, वह अचेतन है। ऐई... बाबूभाई! शुभ-अशुभभाव में ज्ञानस्वरूप का अंश उसमें आया नहीं, इसलिए वह शुभ और अशुभभाव हों, परन्तु है वह अचेतन। यह चेतन उस अचेतनरूप; चेतन, वह जड़रूप; ज्ञायक उस जड़रूप नहीं होता। आहाहा! वजुभाई! आहाहा! तो फिर यह शरीररूप, स्त्रीरूप, यह मेरे और यह मेरे। कहाँ गया यह?

वस्तुस्वरूप ज्ञायक चैतन्यरस 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।' जिन अर्थात् वीतरागस्वरूप वह आत्मा और रागादि वह सब कर्म अर्थात् अचेतन जड़। आहाहा! ऐसा स्वरूप तो वीतरागमार्ग में होता है। अन्यत्र कहाँ हो, भाई? आहाहा! यह वस्तु है, उसकी जहाँ दृष्टि हुई, इसका अर्थ द्रव्यदृष्टि हुई, इसका अर्थ कि स्वभावदृष्टि हुई, इसका अर्थ कि ज्ञायकभाव है, उसरूप परिणमित हुआ। शुभाशुभभावरूप द्रव्य परिणमित नहीं हुआ, इसलिए दृष्टिवन्त भी शुभाशुभरूप परिणमता नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, भाई! वस्तु तो ऐसी है। माने चाहे जिस प्रकार।

इसलिए यहाँ कहते हैं, **धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है।** ज्ञायकभाव जो

पुण्य-पापभाव को उत्पन्न करनेवाले शुभ-अशुभभाव... यह है न वहाँ? पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले शुभ-अशुभभाव, उसरूप से वस्तुस्वरूप हुआ नहीं। बाबूभाई! आहाहा! यह तो कुछ! तो अब यह शरीर और वाणीरूप हो। आहाहा! यह जो शुभ-अशुभभाव अचेतन है, उसरूप चैतन्य ज्ञायकभाव वह अचेतनरूप कैसे हो? ऐसी वहाँ वस्तु की दृष्टि हुई है। कान्तिलाल! कल आया था न? यह वहाँ सब पैसे बोले थे। पाँच-छह हजार रुपये सोनगढ़वालों की ओर से थे वहाँ। दो मूर्तियाँ इनने लीं, पन्द्रह हजार की ली थी। अपने हरिभाई ने साढ़े सात सौ का एक धर्मध्वज लिया था। पहला यह। वहाँ इनकी बहिन का दो हजार का (की ओर का) अभिषेक, ऐसे करते हुए पाँच हजार हुए।

यह बात होती है। विकल्प के काल में विकल्प होता है, क्रिया हो तो उसके कारण से—पर के कारण से हो। परन्तु विकल्परूप परिणमन हो जाना... आहाहा! वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा। शुभाशुभभाव जिससे पुण्य-पाप का स्वरूप बँधता है, उस शुभ-अशुभभाव से स्वभाव में एकता नहीं होती। आहाहा! कहते हैं कि ऐसा जो दृष्टि का स्वरूप, जिसे द्रव्यस्वभाव दृष्टि में आया, उस धर्मी को स्वसंवेदन मुख्य कार्य है। आहाहा! ऐसे तो कार्य एक ही है। परन्तु वचन-काया से क्रिया होती है न, इसलिए उसे मुख्य शब्द प्रयोग किया है। नहीं तो कार्य ही यह है। शुभ-अशुभभाव और उसकी क्रिया जड़ की, वह कार्य उसका है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

वह धर्मी जिसकी दृष्टि द्रव्य, अर्थात् वास्तविक वीतरागस्वरूप विराजमान ऐसा जो तत्त्व—स्व, उसकी जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है, उसके वेदन में तो अकेला ज्ञान और आनन्द का वेदन होता है। आहाहा! वहाँ मुख्य वेदनरूप से ऐसा गिना जाता है। मुख्य कार्य ठीक, परन्तु मुख्य वेदन वहाँ ठीक है। वजुभाई! समझ में आया इसमें? मुख्य कार्य नहीं। कार्य तो एक ही है, परन्तु उसका मुख्य वेदन यह है। समझ में आया?

वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है। क्योंकि ज्ञायकस्वरूप, चैतन्यस्वरूप दृष्टि में आया है, उस पर जिसकी जवाबदारी है अथवा वही मैं हूँ, ऐसा जहाँ अनुभव में आया है, उसे उसकी ओर ही झुकाव उपयोग का मुख्यरूप से रहता है। उपयोग मुख्यरूप से रहता है, यह दिक्कत नहीं। कार्यरूप से जरा अन्तर है। समझ में आया? आहाहा!

कदाचित् लम्बे समय तक स्वरूप में स्थिर न रह सके... धर्मी जीव को द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, स्वभावदृष्टि और स्वभाव का परिणमन, वेदन हुआ; तथापि स्वरूप में लम्बे काल नहीं रह सके तो **प्रयोजनवशात्...** आहार-उपदेश आदि का विकल्प आता है। मुख्यपने मुनि का लिया है न। समाधि। अर्थात् आहार का और उपदेशादि का विकल्प आता है। आहाहा! उपदेश का विकल्प है, वह तो राग है।

उपदेशादि... वाँचन करना, कुछ शास्त्र लिखना आदि। ऐसा विकल्प उठे **तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से) होते हैं।** अर्थात् कि राग और स्वभाव की एकता किये बिना, राग और स्वभव की एकता किये बिना वह कार्य होता है। आहाहा! समझ में आया? **अनासक्तिभाव से...** वह अनासक्ति यह गाँधीजी कहते हैं, वह नहीं, हों! गाँधीजी कहते हैं वह तो करना, परन्तु आसक्ति नहीं करना। यहाँ तो कहते हैं कि कर सकता ही नहीं। करे क्या? ऐसी बात है। है ऐसा। गीता का ऐसा वाक्य है सही न! यह तो वीतराग का मार्ग अलग, बापू! कर सकता ही नहीं देहादि पर की क्रिया। राग का कार्य भी निश्चय से तो है ही नहीं। परन्तु स्वरूप में दृष्टि होने पर भी स्थिरता में, रमणता में लम्बे काल नहीं रह सकता, इसलिए उसे ऐसे विकल्प शुभ-अशुभभाव के आते हैं। यहाँ तो अशुभ की (बात) ली ही नहीं। आहारादि, उपदेश। मुनि की प्रधानता से बात है।

आहारादि का विकल्प आवे, उपदेश का विकल्प आवे, लिखने का या कोई शास्त्र रचने का विकल्प आवे। मुनि को तो यह है न! मुनि को कहीं अशुभभाव है नहीं? आहाहा! चौथे-पाँचवें में अशुभभाव आता है, होता है, तथापि उसे कर्तव्यरूप से स्वीकार कर उसमें सुखबुद्धि होती नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! **तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से)...** इसका अर्थ यह बराबर है। अतन्मय अर्थात् राग के साथ एक होकर वह राग का कार्य होता नहीं। भिन्न रहकर राग का कार्य होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है, भावना नहीं है। यह करनेयोग्य है, ऐसी उसे भावना नहीं है। आहाहा! राग की भावना हो तो वह दृष्टि मिथ्यात्व हो गयी। आहाहा! स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप की भावना होने पर भी ऐसा रागभाव आवे, हो, परन्तु मन में उसकी भावना (कि) यह होओ और ठीक होता है, ऐसी भावना ज्ञानी को

नहीं होती। ऐसा मार्ग जगत को पचना (कठिन है)। आहाहा! इसलिए उसे लगे न यह सब, सोनगढ़ में तो अकेला निश्चय का ही चलता है। व्यवहार का तो लोप कर दिया है। नहीं? सब यह कहते हैं। श्रीमद् के भक्त ऐसा कहते हैं। सम्प्रदायवाले ऐसा कहते हैं। कहे, बापू! क्या हो? सत्य ही ऐसा है। वहाँ व्यवहार के विकल्प जो उठे भक्ति का, वह कर्तव्यरूप से है—ऐसा ज्ञानी स्वीकार नहीं करता। आहाहा!

अतन्मयरूप से वह राग आता है। अतन्मय अर्थात् उसमय हुए बिना स्वरूप की ज्ञान-दृष्टिरूप से होकर और रागरूप हुए बिना राग आता है। आहाहा! उस कार्य की उसकी भावना नहीं कि यह शुभभाव हो, शुभभाव हो। आहाहा!

कार्य के लिए शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है,... यह शरीर और वाणी की क्रिया तो होती है। जिस काल में, वह तो अपने आ गया है न १०२ गाथा (प्रवचनसार) नहीं? जन्मक्षण। देह की जो पर्याय का उत्पत्ति क्षण है, उस क्षण में उत्पन्न होगी ही। जो शरीर की अवस्था / पर्याय यह हालत, उसकी उत्पत्ति क्षण का काल है, वह होगा ही। उसे करे तो होता है और न करे तो होता है, ऐसा कुछ है नहीं। होगा ही। आहाहा!

शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है, उसमें उसको एकताबुद्धि या कर्ताबुद्धि तो है ही नहीं,... देखा! अतन्मय नहीं अर्थात्? राग के साथ स्वभाव की एकता तो नहीं। राग होने पर भी धर्मी को—सम्यग्दृष्टि को राग के साथ एकताबुद्धि नहीं। भिन्नताबुद्धि से राग वर्तता है। आहाहा! अब पूरे दिन यह शरीर और वाणी, ऐसी क्रियायें करे और कहता है कि जब हम करते हैं, तब होती है या नहीं यह? भाई! क्या करते हो? तुझे खबर नहीं। तुझे विकल्प, राग कर और उसमें तन्मय हो, इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया उसके काल में होने में तू उसका अधिकार तेरा बिल्कुल नहीं है। आहाहा!

जो क्रिया होती है, उसमें उसको एकताबुद्धि या कर्ताबुद्धि तो है ही नहीं,... दो बातें। एकताबुद्धि नहीं है। राग आवे उपदेशादि का, आहारादि का, उसमें स्वभाव वस्तु और राग की एकताबुद्धि धर्मी को नहीं है, तथा कर्ताबुद्धि नहीं है। एकताबुद्धि नहीं तो कर्ताबुद्धि नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश अब लोगों को क्या करना? वह इच्छामि पडिक्कमयुं इरियावहियाये विराहणाये, यह करते थे, कहे। तस्स मिच्छामिदुक्कडम जीवियाओ ववरोईया

तस्स मिच्छामि दुक्कडम। नहीं? और उस तस्सउत्तरी में। ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामी। कहो, सीधा सट्ट कुछ है उसमें समझना? पहाड़े बोलना है। आहाहा! जिन्दगी गँवा दी है अज्ञान में।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! जिसे धर्म होता है, उसे धर्मी की दृष्टि होती है। जिसे धर्म होता है, उसे धर्मी की दृष्टि, वस्तु की दृष्टि होती है, तब उसे धर्म होता है। यह क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति और इच्छामि पडिक्कमणुं, नमोत्थुणं और अरिहंताणं भगवंताणं आईगराणं। ऐसा किया है या नहीं रविचन्दभाई! नमोत्थुणं नहीं किया? सामायिक तो की होगी या नहीं? पहाड़े रूप से। पाठ-पाठ आता है या नहीं? णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं, दूसरा तिकखुतो, तीसरा इच्छामि पडिक्कमियुं, चौथा तस्स उत्तरी करणेणं, पाँचवाँ लोगस्स, छठवाँ करेभिभंते, सातवाँ नमोत्थुणं। यह तो दस वर्ष की उम्र से किया है हमने तो। जैनशाला में पढ़ते थे न। पढ़ते थे। सोमचन्द मास्टर पढ़ाते थे। अन्ध थे। सोमचन्द भगत थे न? कुंवरजीभाई के काका के पुत्र। अन्ध जन्म से छोटी उम्र से। वह सब सिखावे। परीक्षा लेते थे।

यहाँ कहते हैं उस ज्ञानी को शरीर और वाणी की क्रिया होती अवश्य है, क्योंकि शरीर और वाणी जो जड़ है, उसके उत्पत्तिकाल की क्रिया हो, उस काल में वह होती है, परन्तु धर्मी को उसमें एकत्वबुद्धि नहीं है। इसलिए उसे यह करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि नहीं है। आहाहा! कठिन! कठिन शर्तें! वह तो आठ वर्ष की लड़की हो और पाँच सामायिक करे। एक आसन में पाँच सामायिक करे। जाओ, फिर एक-एक रुपया दो सबको। लो! इसलिए उसे अनुमोदन हुआ। उसको धर्म हुआ, इसको अनुमोदन का धर्म हुआ। धूल भी धर्म नहीं। यह धर्म कहाँ था वहाँ? राग की क्रिया शुभ की हो तो। अशुभ के भाव में (न) आया हो तो। अशुभभाव में रहता हो तो मिथ्यात्व है। यहाँ भी मिथ्यात्व है, शुभ में रहना, वह क्रिया मेरी है, ऐसा माना है, वह (मिथ्यात्व है)। आहाहा!

कहते हैं कि **उसमें उसको एकताबुद्धि...** से नहीं करता परन्तु वह क्रिया करने के विकल्प को भी वह भला नहीं मानता। अर्थात् क्या कहा? कि वाणी और देह की क्रिया तो होती है, उस काल में उसे आत्मा नहीं करता। अज्ञानी भी नहीं करता वाणी और जड़

की (क्रिया)। परन्तु उसे विकल्प आया है, उस काल में वह क्रिया क्रिया के काल में होती है, (उसकी) उसे एकताबुद्धि नहीं है, कर्ताबुद्धि नहीं है। और जो विकल्प आया है, उसे भला नहीं मानता। ओहोहो! कठिन शर्तें भाई! धर्म बहुत सरल था, उसे महँगा कर दिया ऐसा कितने ही लोग कहते हैं। लो! नहीं? ...भाई! गाँव में कहाँ था ऐसा तुम्हारे वहाँ? सामायिक करना, प्रोषध करना, प्रतिक्रमण करना, व्रत पालना अष्टमी और पूर्णिमा का। आहाहा! यह विकल्प / शुभवृत्ति आवे, उपदेश की, आहार की। आहाहा! उसके साथ एकमेक तो नहीं, कर्ताबुद्धि नहीं, इसलिए उसे भला नहीं मानता। आहाहा! इतनी जवाबदारी है। ऐसा वस्तु का स्वरूप ही है। आहाहा! समझ में आया?

विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर,... यह जो आहार, उपदेशादि का विकल्प आया, उससे भी रहित होकर... भाषा उपदेश में तो ऐसी आवे न, तोड़कर, अर्थात् कि आत्मा में एकाग्र होकर, उसका उत्पन्न होना नहीं, उसे तोड़ना, ऐसा कहने में आता है। स्वरूप में विकल्प को तोड़कर, **स्वरूप में स्थिर होकर, मैं कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ...** ऐसी धर्मी की बारम्बार रुचि वहाँ स्वभाव की ओर काम करती है। ऐसा सब संसार में रहकर कैसे होगा? संसार अर्थात् क्या? उदयभाव राग। राग में रहकर यह नहीं होगा परन्तु राग से भिन्न पड़कर राग की क्रिया हो, यह हो सकता है। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती, छह खण्ड का राज था। छियानवें हजार तो स्त्रियाँ थीं, छियानवें करोड़ तो सैनिक थे। परन्तु वह था, वह तो उसके अस्तित्व से था। उसकी सत्ता से था। मेरी सत्ता के कारण वह था? इसी प्रकार उस सत्ता का मैं धनी / मालिक हूँ? ऐसा भरत नहीं मानते थे। छियानवें करोड़ सैनिकों में रहना, छियानवें हजार स्त्रियों में रहना, वह कहीं मैं उसे नहीं मानता। तब किसलिए इकट्ठे रहते थे? अरे... सुन न भाई! तुझे संयोग में है, ऐसा दिखता है, परन्तु ज्ञानी संयोग में नहीं है। आहाहा!

तथा वह विकल्प को करना नहीं चाहता परन्तु हो जाता है। उससे रहित हुआ, रहित हूँ, ऐसी भिन्नपने की भावना हमेशा होती है। विकल्प से भिन्न पड़ूँ, भिन्न तो है। भिन्न का भान तो है, परन्तु उससे रहित होकर कब अन्दर में स्थिर होऊँ?—ऐसी समकिती की, धर्मी की भावना होती है। इसलिए फिर यह दूसरों को लगता है, हों! यह तो सब ....

मानस्तम्भ को वहाँ देखो तो कितनी-आठ तो मूर्तियाँ स्थापित कीं। चार ऊपर खड़ी प्रतिमा, हों! नीचे बैठी (प्रतिमा)। आठ और पाँच दूसरी नहीं? धातु की। प्रद्युमन कैसे? प्रद्युमन और नन्दी को ऐसे सब नीचे। पैसे बहुत खर्च किये। अकेली धमाल-धमाल करे। नेमिनाथ भगवान की इतनी विशाल प्रतिमा। एक नीचे स्थापित की। पैसे तो बहुत। पति-पत्नी दो हैं। कोई है नहीं करनेवाला। मकान-बकान बेचकर पैसा इकट्ठा किया। यह इतना शुभभाव है। यह मुझसे यह होता है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ... क्योंकि जिसने आत्मरस चखा है, धर्मी ने आत्मरस चखा है। आहाहा! तुम्हारे नहीं कहता था पूनमचन्द? बापू को पैसे का रस कहाँ था? पैसे कहाँ थे इनके पास? यह तो २५-३० हजार इतने तो थे। पैंतीस हजार कहते थे। छोटे भाई के बापू नारणभाई के पास। पैंतीस हजार। तब तो ३५ हजार इतने थे। यह तो करोड़पति। पाँच करोड़। एक बार अहमदाबाद में बात हुई कि बापू ने कहाँ पैसे का रस देखा है? उसने पैसे का रस देखा है। अहमदाबाद में। आहाहा!

इसी प्रकार धर्मी ने आत्मा का रस देखा है। अज्ञानी ने रस कहाँ देखा है? आहाहा! उस रस के प्रेमी धर्मी आत्मरस के प्रेमी, रसिक। आहाहा! कोई कृष्ण लो रे कृष्ण। नहीं आया था वह गोपी में आता है न? गोपियाँ दही बेचने निकले। दही की मटकी। कोई कृष्ण लो रे। हृदय में कृष्ण का प्रेम है न, इसलिए यह आया ऐसा। है तो दही बेचने निकले। यह गोपियों में आता है... कोई कृष्ण लो रे कृष्ण। जिसका जिसे रस, उसकी उसे वाणी निकलती है, कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा का आनन्दरस लो प्रभु! उस आनन्द के रस से भरपूर भगवान है। आहाहा! जिसमें छलाछल अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर पदार्थ है। उसकी नजर में तुझे रस आवे और वह नजर, उस रस में ही कायम रहती रहे, ऐसी भावना धर्मी को होती है। आहाहा! यह सब क्रियाकाण्डियों को तो ऐसा लगता है।

हमारे हीराजी महाराज बेचारे। बहुत... सम्प्रदाय की अपेक्षा उनकी क्रिया आहार लेने की (कड़क), उनके लिये आहार बनाया हो, (उसे) प्राण जाये तो भी ले नहीं। हीराजी महाराज थे। (संवत्) १९७४ में। और शान्त, कषाय मन्द, ब्रह्मचारी थे परन्तु दृष्टि में कुछ खबर नहीं होती। जिन्दगी में सुना हुआ नहीं कि पर की दया पाल नहीं सकता।

यह शब्द सुना हुआ नहीं। आहाहा! ५८ वर्ष। ४६ वर्ष की दीक्षा। १२ वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी। खीमचन्दभाई ने देखे होंगे, नहीं? हाँ, देखे। नागनेश और राणपुर रहे न! बारह वर्ष की उम्र से बेचारे ब्रह्मचारी, हों! बालब्रह्मचारी, परन्तु उनके कान में यह शब्द नहीं पड़े कि यह परजीव की दया आत्मा पालन नहीं कर सकता। पर की दया पालूँ, इसका नाम ही धर्म है, ऐसा कहते थे। आहाहा!

वीतराग तो कहते हैं कि पर की दया की, जीवन का आत्मा कर सकता ही नहीं। पर की पर्याय की दया किस प्रकार पालन करे? आहाहा! ५८ वर्ष में काल कर गये थे (स्वर्गस्थ हो गये थे)। याद नहीं कुछ? ७४ हुए। तुमको तो याद है? नहीं? यह कांप का वह नाला है। कांप का नाला नहीं? वहाँ नीचे जलाये थे, चैत्र कृष्ण ७४ के चैत्र कृष्ण अष्टमी को गुजर गये थे। ७४ के चैत्र कृष्ण नवमी को वहाँ जलाया था। पुल के नीचे। हम आये थे। फिर पाँच, साढ़े चार कोस दूर थे।

मुमुक्षु : बहुत बड़ी श्मशानयात्रा निकली थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बहुत बड़ी। रायचन्द गाँधी जैसे पाँच-पाँच लाख के आसामी उस दिन। और ५०-५० हजार की आमदनी, वस्त्र ऐसे खुल्ले, वह सूखड़ का लेकर। क्या कहलाता है? सूखड़-सूखड़ की लकड़ियाँ। सामने आये थे। हम जहाँ उपाश्रय में घुसे। चैत्र कृष्ण नवमी की बात है। (संवत्) १९७४ की चैत्र कृष्ण नवमीं। कितने वर्ष हुए? ५७। हम जहाँ अन्दर घुसे, उसमें पालकी उठाई। तैयार रखी थी। और उठाकर तो लोग रोवे। बीस वर्ष का लड़का मर गया हो, ऐसे लोग रोते थे। अरे... मेरा हीरा जाता है। अरे... इतना प्रेम लोगों को। वस्तु की कुछ खबर नहीं होती। धर्मदृष्टि की कुछ खबर नहीं, परन्तु सम्प्रदाय के लोगों की क्रिया है, उसकी अपेक्षा उनकी दूसरी ऊँची थी।

मुमुक्षु : ....गुरु है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे गुरु। आतमा के दूसरे थे। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि ऐसे जीव को भी ऐसी बात सुनने मिली नहीं। जिसके मरण के समय जहाँ उठायी कांप में वह पालकी, दरवाजे के बाहर। उपाश्रय के बाहर नहीं? ओहोहो! आर्यिका रोवे, साधु रोवे, गृहस्थ रोवे, महिलायें रावे। रोवे... रोवे... रोवे...

इतना प्रेम। हीराजी महाराज हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे। इतना प्रेम। अरेरे! परन्तु यह आत्मा पर का कर नहीं सकता, यह शब्द कान में पड़ा नहीं। आहाहा! आत्मा वह तो 'अहिंसा समयम् चेव ऐतावतम्' बहुत शान्ति से बोले। भाई! भगवान ऐसा कहते हैं कि... हजार स्त्रियों का झुण्ड बैठा हो। नजर कहीं नहीं। ऐसी नजर रखे ऐसे। भगवान ऐसा कहते हैं प्रभु! ऐसा बोले। 'अहिंसा समयम् चेव।' परजीव की दया पालना, वह पूरे सिद्धान्त का सार है। 'ऐतावतम् वीयाणीयं' इतना जाना उसने सब जाना, ऐसा कहते थे। कहो, वजुभाई!

यहाँ तो अभी आठ-आठ वर्ष के लड़के और सुनने को मिले ऐसी बात। आहाहा! जूनागढ़ में आठ-आठ वर्ष के लड़के कूदकर जाते थे। सर्वत्र घूमे। ऊपर जाये, वापस सहस्त्रावन में, वापस आये, फिर दूसरे दिन और पाँचवीं टोंक में आये, वापस नीचे उतरे। आठ-आठ वर्ष के लड़के। बात तो यह थी हमारी न्याय तो उपदेश में तो। बापू! मार्ग तो यह है, भाई! दुनिया प्रसन्न हो, न हो, उसके साथ तत्त्व को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! जगत को भला दिखाने के लिये अनन्त बार किया है। आता है? श्रीमद् में। जगत को भला दिखाने के लिये ऐसे दया के, सत् के, ब्रह्मचर्य के भाव किये, वह तो शुभभाव है। वह कहीं धर्म नहीं है। उससे भला हुआ नहीं। है उसमें? मोहनभाई! 'जगत को भला दिखाने के लिये अनन्त बार किया, परन्तु इससे जीव का भला हुआ नहीं।' आहाहा!

भगवान आत्मा का भला तो तब होता है कि यह दया, दान, व्रत के विकल्प हैं, उन्हें भला न जाने और उनसे भिन्न स्वरूप के आनन्द के रस को भला जाने। आहाहा! तब उसे समकित सन्मुख होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा! चारित्र तो कोई दूसरी बात है पूरी। वह तो चारित्र तो हिन्दुस्तान में अभी कहीं है नहीं। चारित्र किसे कहना? यह चारित्र किसे कहना, इसकी खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, वहाँ चारित्र कहाँ से आया? यह दीक्षा लेकर मुँडाते हैं न! सब मिथ्यात्व की दीक्षा है। आहाहा! जगत को कठिन बातें (लगे), बापू!

यहाँ ऐसा कहते हैं कि जिसे धर्मी कहा जाता है, उसे तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का रस जिसने चखा है, उस आनन्द का रसिया हुआ है। आहाहा! उसे जगत के पुण्य और पाप के भाव का अन्तर में से रस जिसे उड़ गया है। आहाहा! मोहनभाई! परन्तु

कठिन बातें, भाई! यह कब मैं शुद्धात्मा को अनुभव करूँ? **ऐसी भावना उसको निरन्तर होती है।** देखा! आहाहा! **इसी भावना के बल से उसका उपयोग, बाहर की क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता;...** बाहर का लक्ष्य लम्बे समय टिकता नहीं, ऐसा कहते हैं। क्रिया करता नहीं, परन्तु उपयोग जो बाहर में जाता है, वह लम्बे काल में उसमें टिकता नहीं। आहाहा! ऐसा वीतरागस्वरूप, परमेश्वर त्रिलोकनाथ, तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा और ऐसा स्वरूप है। सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। वे भगवान यह कह रहे हैं, इस प्रकार यहाँ सन्त वहाँ जाकर यह लाये और जगत को कहा, बताया। बापू! मार्ग तो यह है। तुम मानो कि हम दया पालते हैं, व्रत पालते हैं और अपवास करते हैं, इसलिए धर्म होता है। यह तीन काल में धर्म नहीं होता। आहाहा! इस क्रिया में जो शुभराग है, यदि शुभराग हो तो। वह भी पुण्य है। उसे भी भला मानना, वह भी मिथ्यात्व है।

कहते हैं, **बाहर की क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता; वहाँ से छूटकर शीघ्र ही स्वसन्मुख झुकता है।** आहाहा! जिसे आत्मा के आनन्द की मौज जिसने मानी है। आहाहा! समकिती अर्थात् यह। भले गृहस्थाश्रम में हो, राज में दिखता हो। उसके आनन्द के रस को एक बार देखा है-अनुभव किया है, उसे बारम्बार उसकी ओर के अनुभव का झुकाव रहा करता है। आहाहा! इसका नाम समाधि। समकित दर्शन, वह समाधि है। वे बाबा समाधि करें, वह नहीं, हों! वे बाबा करें न ऐसे। यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर ने कहा हुआ आत्मा, उसे जिसने लक्ष्य में लिया, उसे समाधि होती है। आहाहा! अर्थात् कि उसे शान्ति होती है।

'चित्त समाधि हुए दस बोले', ऐसा श्वेताम्बर में आता है। दशांगसूत्र। (संवत्) १९७८ में यह बोटाद में शुरु किया था। 'चित्त समाधि हुए दश बोले।' उसमें सम्यग्दर्शन की पहली समाधि कही है। दस बोल हैं। दशांगसूत्र नहीं? उसमें है। परन्तु उसके अर्थ करनेवाले को नहीं मिलता। करनेवाला स्वयं सच्चा नहीं था। आहाहा! उसने तो धारणा की बातें जगत को कीं। आहाहा! वह कहीं भगवान की वाणी नहीं है। आहाहा! यह तो भगवान त्रिलोकनाथ वीतराग के पेट की वाणी है यह तो अन्दर। आहाहा! **क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता; वहाँ से छूटकर शीघ्र ही स्वसन्मुख झुकता है।**

ज्ञानी को निचली भूमिका में अस्थिरता के कारण, राग होता है... धर्मी को चौथे गुणस्थान में, पाँचवें में और छठवें में आत्मा का वेदन, संवेदन होने पर भी उसे राग आता है, उसे राग होता है **और वचन-काय की क्रिया के प्रति लक्ष्य जाता है...** इतना लक्ष्य जाता है, हों! लिखा है, अच्छा लिखा है। वचन और काया की क्रिया करता है, ऐसा नहीं, परन्तु लक्ष्य जाता है। अस्थिरता का उपयोग है, इसलिए वहाँ लक्ष्य जाता है।

परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को भूल जाए, वैसी आसक्ति उनमें नहीं होती। पर में लक्ष्य जाने पर भी, मैं ज्ञान और आनन्द हूँ, यह भूलकर लक्ष्य नहीं जाता। आहाहा! समझ में आया? अपना ज्ञानस्वभाव ज्ञाता-दृष्टा वह आत्मा है। यह राग और देह की क्रिया, यह आत्मा नहीं है। देह की क्रिया और वाणी की क्रिया, वह तो जड़-अजीव, रूपी अजीव और पुण्य और पाप का विकल्प उठता है, वह अरूपी अजीव। आहाहा! इन दोनों अजीव से भिन्न चैतन्य है। आहाहा! उसका ज्ञानी को ज्ञान कायम रहता है। आहाहा! **अपने ज्ञानस्वभाव को भूल जाए, वैसी आसक्ति उनमें नहीं होती।**

ज्ञानी को बाह्य वचन-काय की प्रवृत्ति होने पर भी,... शरीर और वाणी की जड़ की-अजीव की क्रिया बोलना, चलना—ऐसी क्रिया होने पर भी, धर्मी को **उसके अन्तरङ्ग में दृढ़ मान्यता है।** आहाहा! उसे अन्तरंग में आत्मा के ज्ञान का अंग जो अवस्था—पर्याय उसमें दृढ़ मान्यता है कि... यह दी है प्रवचनसार की गाथा १६०। **मैं देह-मन-वाणी नहीं,...** आहाहा! यह स्त्री, पुत्र और पैसा और बँगला कहाँ डालना?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। वे तो उसके हैं जड़ में। आहाहा!

धर्मी जीव ऐसा मानता है कि मैं देह नहीं, मैं मन नहीं, मैं वाणी नहीं। प्रवचनसार की गाथा है १६० (गाथा)। **मैं उनका कर्ता नहीं,...** देह, मन और वाणी का रचनेवाला मैं नहीं। आहाहा! **उनका करानेवाला नहीं...** यह होता और मैं कराऊँ, यह नहीं। आहाहा! **और अनुमोदक भी नहीं...** आहाहा! शरीर, वाणी और मन यह जड़ है, इसका मैं कर्ता नहीं, इसका मैं करानेवाला नहीं और होवे तो ठीक होता है—ऐसा अनुमोदन करनेवाला नहीं। आहाहा! ऐसी वीतराग की वाणी है। अरेरे! जगत को सत्य सुनने को मिलता नहीं, वह

सत्य कब पावे और कब समझे ? आहाहा ! और एक तो २०-२२ घण्टे उसे संसार के होते हैं। पूरे दिन। खाने-पीने का होता है, नींद में जाता है, थोड़ा कमाने में जाये, थोड़ा भोग में जाये। घण्टा भर बचे, वहाँ सुनने जाये तो वाणी मिले जड़ की सब। यह करो और यह करो और यह करो। आहाहा ! अरेरे !

श्रीमद् कहते हैं न कि कुछ थोड़ा समय मिले। बाकी तो उसे उसमें सब समय संसार में जाता है। कमाने में और उसमें, भोग में, विषय में, नींद, में, प्रमाद में, कथा-विकथाओं में। थोड़ा समय मिले, सुनने जाये तो इसे कुगुरु लूट लेता है। श्रीमद् में आता है। एक घण्टे सुने तो कुगुरु लूट लेता है। अर्थात् ? तुम यह करो... यह करो... ऐसी दया पालन करो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो, अपवास करो तुम्हारे धर्म (होगा)। उस बेचारे को कुगुरु उसका घण्टा ऐसा लूट लेता है। अब उसे कहाँ जाना ? शान्तिभाई ! आता है। श्रीमद् में आता है। आहाहा !

मेरे कर्ता हुए बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं;... मैं उसे रचूँ तो हो वाणी और मन और देह—ऐसा नहीं है। देह, वाणी और मन अपने आप वह रचना जड़ की हो रही है। आहाहा ! कैसे जँचे ? लोग कहते हैं मुर्दा क्यों नहीं बोलता ? आत्मा निकलने के पश्चात् शरीर क्यों नहीं चलता ? इसलिए आत्मा हो, वह बोले और वह आत्मा हो, वह शरीर को चलावे। सुन रे सुन, भाई ! तेरे कुतर्क यहाँ काम नहीं आते ... में।

यहाँ तो कहते हैं कि देह, वाणी और मन जड़, उसकी अवस्था का जो समय है, उस अवसर में जड़ की अवस्था होती है, उसका मैं कर्ता, मेरे कर्ता बिना वह की जाती है। देखा ! यह चलना ऐसा, यह अँगुली चले, वह मेरे कर्ता बिना यह होता है, कहते हैं। आहाहा ! जड़तत्त्व है न जगत के अजीव ? उस अजीवतत्त्व की क्रिया मैं करूँ तो उसने अजीव को जीव माना। मिथ्यात्व सेवन किया। अनन्त पाप, महापाप। आहाहा ! प्रतिक्रमण में बोले, जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व। आता है न ? अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व, कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व, साधु को कुसाधु, धर्म को अधर्म माने तो मिथ्यात्व। पहाड़े बोले। एक भी अर्थ की (खबर नहीं है)। तुम्बड़ी में कंकड़। कंकड़ है या बीज है या चाँदी है, सोना है। खड़-खड़ होता है कुछ। वे बीज सूखें, तब खड़खड़ होता

है। वहाँ कंकड़, वहाँ कहाँ घुस गया था अन्दर? कुछ खबर नहीं होती। आहाहा!

यहाँ वीतराग कहते हैं कि वाणी-मन का मैं कर्ता बिना, वे किये जाते हैं। उसमें मेरी उपस्थिति है। इसलिए शरीर और वाणी की दशा होती है, ऐसा नहीं है। ऐसा कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : परतन्त्रता चली गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : परतन्त्रता चली गयी? ऐसा कि मैं कर्ता बिना कार्य। भाई! अन्दर उपस्थिति है आत्मा की, इसलिए शरीर ऐसे चलता है, यह वाणी बोली जाती है। कहते हैं, नहीं।

भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर, ऐसा कहते हैं कि तेरे कर्ता बिना वे किये जाते हैं। क्योंकि वह भी जड़ तत्त्व है, उसकी पर्याय उससे होती है, इसलिए तेरे कर्ता बिना वह की जाती है, तू कर्ता हो तो वहाँ होता है, इच्छा करे तो हाथ ऊँचा होता है, ऐसा नहीं है। कहो, रविचन्दभाई! ऐसा कहाँ वहाँ है सुनने को? मोहनभाई और सुनते थे यहाँ बैठे। बेचारे चले गये। आहाहा! अरे! मनुष्यपना मिला उभरने का अवसर ऐसे काल में भगवान की वाणी सुनने को मिली, परन्तु इसे सत्य सुनने को न मिले। क्या करे? कहाँ जाये? जिन्दगी व्यर्थ जाती है। आहाहा!

इसलिए उनके कर्तापने का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। आहाहा! धर्मी की ऐसी दृष्टि होती है कि शरीर, वाणी और मन की क्रिया मेरे किये बिना होती है। उसके कारण से होती है, वहाँ मैं मध्यस्थ हूँ। मैं यहाँ हूँ और इसलिए यह सब होता है, ऐसा है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ शुक्ल ८, मंगलवार, दिनांक १७-६-१९७५, श्लोक-५०-५१, प्रवचन-६४

समाधिशतक, ५० गाथा। ५० गाथा में प्रश्न है।

इस प्रकार होवे तो आहारादि में भी अन्तरात्मा की प्रवृत्ति कैसे होती है ? अर्थात् क्या ? कि अन्तरात्मा को अपने अतिरिक्त अन्यत्र विश्वास और रति नहीं होती। यह ४९ में कहा गया। अज्ञानी को जगत इष्ट और रति आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ में उसे- अज्ञानी को विश्वास होता है। और ज्ञानी को आत्मा के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ का विश्वास और रति नहीं होती। तब प्रश्न उठा कि जब दूसरे पदार्थ पर विश्वास और रति ज्ञानी को नहीं है तो आहार ले, व्याख्यान करे, उसका क्या समझना ? यह प्रश्न है। समझ में आया ? है ? **आहारादि में भी अन्तरात्मा की प्रवृत्ति कैसे होती है ?** आहार, वह परपदार्थ है; व्याख्यान, वह परपदार्थ है। जब परपदार्थ का ज्ञानी को विश्वास और रति नहीं तो वह परपदार्थ में आहारादि, व्याख्यान में प्रवर्तता क्यों है ? समझ में आया ? इसका यह प्रश्न है।

इसका उत्तर है। यह गाथा भाई बहुत बोलते थे। पोपटभाई-पोपटलाल।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यारर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

नीचे थोड़ा हरिगीत किया है। अन्यत्र इसमें कहीं नहीं होगा।

आत्मज्ञान बिन कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय।
कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहाँ जोय॥ ५० ॥

यह हिन्दी में डाला है गुजराती।

टीका - चिरकाल तक अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बुद्धि में धारण नहीं करता। क्या वह ? कार्य। कैसा (कार्य) ? पर अर्थात् अन्य। किससे (अन्य) ? आत्मज्ञान से (अन्य)। आत्मज्ञानरूप कार्य को ही लम्बे काल तक धारण रखता है— ऐसा अर्थ है,... आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का जो ज्ञान हुआ, उस आत्मज्ञान को लम्बे काल धार रखता है। **परन्तु अन्य किञ्चित् अर्थात् भोजन, व्याख्यानादिरूप...** यह तो... समाधि का अधिकार है न! भोजन करना, यह विकल्प, व्याख्यान का विकल्प, ऐसे **कार्य**

को वचन-काय द्वारा करे। अर्थात् कि वचन और काय द्वारा होता है, ऐसा। करने का विकल्प। आहाहा!

व्याख्यान, भोजन आदि। शास्त्र लिखना, कहना, यह सब विकल्प है, परन्तु वह विकल्प बहुत काल नहीं रखता, कहते हैं। ऐसा कहते हैं। **कार्य को वचन-काय द्वारा करे।** अर्थात् वचन और काया द्वारा होता है, उसे वह जानता है। उसका कर्ता नहीं होता। आहाहा! **किससे? प्रयोजनवश...** कैसे हो? यह **स्व-पर के उपकाररूप प्रयोजनवश (करे)।** ऐसे भाव-विकल्प होते हैं। वचन और कायारूप क्रिया उसकी स्वतन्त्र जड़ की क्रिया है। उसका कहीं आत्मा कर्ता नहीं है। अज्ञानी भी कर्ता नहीं है और ज्ञानी भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं हूँ तो यह होता है। ज्ञानी (मानता है कि) वह है तो उसकी क्रिया-जड़ की होती है। वाणी की (होती है)। आत्मा की नहीं। आहाहा!

स्व-पर के उपकाररूप प्रयोजनवश... विकल्प आता है। अपने हित के लिये भी कुछ कहना-सुनना आदि ऐसा विकल्प आता है, और दूसरे के हित के लिये उपयोग में विकल्प आता है। **कैसा होकर (वह करे)? अतत्पर होकर...** पाठ तो यह है न? अतत्पर। अतत्पर का अर्थ अनासक्त किया है संस्कृत में, इसलिए नीचे किया है। अतत्पर अर्थात् उसमें अनासक्त होकर। अनासक्त की जो यह व्याख्या लोग करते हैं, ऐसा यह नहीं है।

मुमुक्षु : करना और अनासक्ति से करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : करना और अनासक्ति से करना, ऐसा नहीं है। करना, यही अनासक्तपना नहीं है। आहाहा! कहते हैं न गीता के वाक्यों को। अनासक्तभाव से करना। परन्तु पर का करना, वह अनासक्त नहीं है। वह तो मिथ्यात्वभाव है। हो नहीं सकता, उसे अनासक्त कहते हैं। समझ में आया? ऐसा कि देखो! यह हमारे अनासक्तिरूप से करना, ऐसा आया। गीता में ऐसा कहा है। गाँधीजी ऐसा कहते थे एक बार (कि) अनासक्ति से करना। अनासक्ति से करना अर्थात् क्या? वाणी और देह की क्रिया तो कर सकता ही नहीं। और कर सकता है, ऐसा मानता है, वह अनासक्ति नहीं, वह तो मिथ्यात्वभाव है। अनासक्ति का अर्थ यहाँ कितना? कि अस्थिरता होती है, उसमें एकत्वबुद्धि नहीं करता, इसका नाम अनासक्ति है। समझ में आया?

अनासक्ति आता है न? संस्कृत में अर्थ किया है। अतत्पर। पाठ में है न? **'वाक्कायाभ्यां अतत्पर'** अर्थात् कि उसमें तत्पर अर्थात् कर्ताबुद्धि जिसे नहीं है, ऐसा। उसका स्वामीपना नहीं है। विकल्प आवे, उसका स्वामीपना नहीं है। और देहादि की क्रिया और वाणी की क्रिया है, उसके कारण जड़ के समय जड़ की क्रिया होती है। उसमें तो अनासक्ति ऐसा शब्द वहाँ कोई आवश्यक नहीं है। वह तो उसके कारण से होती है। आहाहा! अनासक्ति का अर्थ यहाँ राग में अतत्पर रहे। अनासक्ति अर्थात् उसमें एकपने की बुद्धि न करे। बस इतनी बात। कठिन बात, भाई! यह गाथा बहुत ऊँची सरस है।

भावार्थ - ज्ञानी, अपने भावमन को-उपयोग को आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है;... 'आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।' ऐसा शब्द है न? आता है, विकल्प आता है। अशुभ भी विकल्प आता है। परन्तु वह **कार्य में ही रोकता है; आत्मज्ञान से अन्य किसी व्यावहारिक कार्य में लम्बे समय तक नहीं रोकता।** ऐसा। आया। हुआ। स्वामीरूप से रहित, सहित छूट गया। स्वामीपने का अर्थ यह है कि वह कार्य मेरा है और मैं कर्ता। इसका नाम स्वामीपना। परन्तु यह कार्य मेरा नहीं। परन्तु मैं उसका जाननेवाला हूँ, इसका नाम अनासक्तिरूप से कहा जाता है।

मुमुक्षु : एक बार आप कहते थे कि ऐसे कार्य किये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? किये जाते हैं अर्थात् व्यवहार आता है। व्यवहार के विकल्प आते हैं। व्यवहारनय से उसे कहा जाता है। पंच महाव्रत पालना। यह तो कथन की शैली है। पंच महाव्रत पालना, रक्षा करना, अतिचार लगने नहीं देना, अतिचार लगे तो उसका प्रायश्चित लेना, ऐसा आता है। यह व्यवहार शब्द की शैली है। बाकी राग का करना, यह पालना, वह वस्तु में है ही नहीं। सूक्ष्म बात है। आहाहा! श्रावक को और साधु को, सम्यग्दृष्टि को आचरण के विकल्प आवे, बारह व्रत के, पंच महाव्रत के। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी, तो भी वह उसे स्वामीरूप से नहीं करता। समझ में आया?

मुमुक्षु : करना और वापस....

पूज्य गुरुदेवश्री : करे नहीं। करे क्या? होता है। करना और होता है, दोनों में बड़ा अन्तर है। नहीं कहा था ७३ गाथा में, नहीं कहा था? ७३। तुम्हारे आज ७३ चली है? ...

कहते हैं ७३। ... कैसे तुम्हारे भोगीभाई। भोगीभाई तो सामने आये थे उस समय। और व्याख्यान में तो दोनों आये थे। पिता-पुत्र दोनों। बकुभाई और दोनों। यह गाथा। ७३ वहाँ पढ़ी थी।

मुमुक्षु : .... तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भोगीभाई को प्रेम है। भोगीभाई को। परन्तु अभी... बकुभाई के घर में चरण कराये थे। ऐसा कि बकुभाई को प्रेम हो इसलिए। किया। भोगीभाई ने। कभी किया नहीं था। इस बार रास्ते में आते थे। किसे करे? आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्ज्ञान हुआ, तब से राग का कर्तापना, कर्ता और कर्मपना टला, उसे राग आता अवश्य है, तो वह करनेयोग्य है और कर्ता है—ऐसी बुद्धि नहीं है, तथापि कर्ता होता है, कर्ता अर्थात्? परिणमना। राग का परिणमन है, इसलिए कर्ता होता है, परन्तु करनेयोग्य है—ऐसी कर्ताबुद्धि उड़ गयी है। यह वस्तु है। समझ में आया?

स्व-पर के उपकारार्थ... देखो भाषा। **कदाचित् प्रयोजनवशात् अर्थात् स्व-पर के उपकारार्थ...** उपकारार्थे ऐसा विकल्प आवे। उपकार करूँ, ऐसा कुछ नहीं। **अस्थिरता के कारण,...** अस्थिरता है न अन्दर अभी? सम्यक्त्व हुआ, ज्ञान हुआ। अरे... चारित्र होता है लो न! तो भी अभी अस्थिरता है न? व्याख्यान सुनने की, व्याख्यान करने की, यह सब अस्थिरता है। आहाहा!

वचन-काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे... देखी न भाषा! वचन और काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे **तो उसमें ज्ञानी को अतन्मयभाव वर्तता है।** एकपना उसमें वर्तता नहीं, ऐसा। आहाहा! राग आता है, होता है, परन्तु वह तन्मयरूप से अर्थात् कि एकाकार होकर वह कार्य मेरा, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ९९ में आया न समयसार, नहीं? पर का कर्ता हो, तो पर के साथ तन्मयपने का प्रसंग आवे। ९९ (गाथा) में है। इसलिए पर का कर्ता तो नहीं, परन्तु पर का निमित्त से होता है, निमित्त होना, ऐसा भी द्रव्य में नहीं है। द्रव्य जो है आत्मा, वह पर का कर्तापना तो उसमें नहीं। यदि पर का कर्ता हो तो पर के साथ एकमेक हो जाये अर्थात् दो द्रव्य एक हो जाये। ऐसा तो कभी होता नहीं। एक बात।

तब कहे, उसका—पर का कार्य तो उस काल में होता है, उस काल में आत्मा उसे निमित्त होता है, ऐसा भी नहीं है। अर्थात् ? आत्मा द्रव्य वस्तु यदि निमित्त हो तो जहाँ-जहाँ कार्य हो वहाँ उसे रहना पड़े। आत्मा तो नित्य है। कार्यकाल तो उसके काल में ही होता है। उसका कहीं आत्मा कर्ता नहीं है। यह एक बात। परन्तु वह कार्य जड़ और दूसरे चैतन्य का कार्य का काल, उस काल में उसका कार्य होता है। उसमें द्रव्य को—आत्मा को... निमित्त कहना। निमित्त कहना अभी, हों! यह तो तीनों काल में पर में निमित्त। जहाँ-जहाँ ऐसे कार्य हों, वहाँ-वहाँ उसे उपस्थित रहना पड़े। कसाईखाने का काम हो, वहाँ भी उसे निमित्तरूप से रहना-खड़ा रहना (पड़े)। ऐसी वस्तु होवे तो सदा ही विकार का कर्ता ही आत्मा होगा। छूट नहीं सकेगा। आहाहा!

मात्र परद्रव्य के कार्यकाल में अज्ञानी योग और राग का कर्ता होता है, इसलिए वह योग और राग उसके परद्रव्य के कार्यकाल में तो वह ही है। उसमें इसे निमित्त कहा जाता है। योग और कषाय। १०० (गाथा) में आता है न! आहाहा! द्रव्य तो नहीं, परन्तु द्रव्यदृष्टिवन्त भी उसका निमित्त नहीं। आहाहा! पर का उपादान कर्ता तो नहीं, परन्तु द्रव्य वस्तु जो है ज्ञायक, वह पर को निमित्त है, ऐसा भी नहीं है। तो वास्तव में तो द्रव्य निमित्त है, ऐसा नहीं है, तो सम्यग्दृष्टि भी द्रव्यदृष्टिवन्त है, इसलिए पर के कार्यकाल में वह भी निमित्त नहीं है।

मुमुक्षु : योग और कषाय....

पूज्य गुरुदेवश्री : योग और कषाय इसके हैं ही नहीं, इसलिए फिर निमित्त नहीं। योग और कषाय का जो कर्ता हो, ऐसे अज्ञानी के योग और कषाय उसके कार्यकाल के समय। कार्यकाल तो वही है। यह आया इसलिए हुआ, ऐसा भी नहीं है। यह हुआ वह तो हुआ ही है। अब उसे निमित्त किसे कहना ? कि वस्तु जो है त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसे निमित्त नहीं कहा जा सकता। अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि भी उसे निमित्त नहीं कहा जा सकता। तब वस्तु स्वयं निमित्त नहीं तो उसकी दृष्टिवन्त जो है, वह भी उसके कार्यकाल में निमित्त भी नहीं है। चेतनजी!

कब ? कि उसका कार्यकाल तो वही है वहाँ, परन्तु उसे निमित्त किसे कहा जाये ?

कि जो कम्पन और राग का कर्ता होता है, ऐसा जो अज्ञानी। क्योंकि राग को अपना स्वरूप मानता है, ऐसा जो अज्ञानी, उस कार्यकाल में उसे निमित्त उन योग और राग को कहा जाता है। आहाहा! आत्मद्रव्य नहीं। कहो, समझ में आया? कहो, कानजीभाई! क्या यह समझ में आता है या नहीं? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि वचन और और काय द्वारा तो क्रिया आदि काल है, उसका वहाँ होता है, परन्तु उस काल में जो विकल्प उठा, उस विकल्प को करने का, उसमें भी अतन्मय है। अर्थात् कि विकल्प का स्वामी नहीं है तथा विकल्प को तन्मयरूप से कर्ता और कार्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें।

धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है। सम्यग्दृष्टि को तो आत्मा का जो ज्ञानानन्द कार्य है, वही कार्य मुख्य है। उसका कार्य मुख्य-गौण है, ऐसा नहीं है। कार्य होता है। विकल्प का कार्य होता है, उस कार्य का कर्ता नहीं। यह मुख्य कार्य है और दूसरे कार्य गौण हैं। कार्यरूप से गौण हैं, ऐसा नहीं है। यह रागादि का कार्य होता है, उसका वह कर्ता नहीं। आहाहा! कठिन बातें, भाई! अभी तो यह दूसरे का कर दूँ, सुधार करना, लोगों की बड़ी सभा भरी और उपदेश देना, जिससे वे लोग समझें, सुधरें। कौन सुधरे? मैं दूसरे को मोक्ष करा दूँ। कहते हैं कि उसके वीतरागभाव के अतिरिक्त उसका मोक्ष नहीं होता। उसमें तू किस प्रकार करा दे, उसे? उसका वीतरागभाव हो, उसे तो ही मोक्ष होता है, ऐसा है। अब वीतरागभाव तो वह करे, तब होता है। तू उसका मोक्ष करा दे...

मुमुक्षु : भगवान।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भी कुछ नहीं कर सकते। इच्छा बिना वाणी निकलती है। कर्ता भी नहीं और कुछ नहीं। वे तो केवलज्ञानी हैं।

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि भी जो विकल्प के काल में सामने कार्यकाल तो जड़ का हो, उसके कारण से तो कार्यकाल तो उसके कारण से है। उसमें विकल्प का जो कर्ता होता है, वह कार्यकाल में निमित्त कहलाता है। आहाहा! धर्मी को तो वह कार्य जो होता है, वहाँ ज्ञान में निमित्त होता है। उसके कार्य के निमित्त में तो ज्ञानी है नहीं, परन्तु ज्ञानी के ज्ञान में स्वयं से ज्ञान हुआ है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकल्प का और अपना, ऐसा स्व - परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से हुआ है। उसमें विकल्प का वह कार्य है, (वह) ज्ञान को निमित्त

होता है। स्वयं उसे निमित्त न हो परन्तु ज्ञान को निमित्त होता है। आहाहा! ऐसी बात है। १००वीं गाथा में आ गया है सब।

धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है। आत्मा के आनन्द का कार्य होना, वही मुख्य है। ज्ञाता-दृष्टा के ज्ञान-दर्शन के पर्यायरूप होना, वह उसका कार्य है। रागरूप होना या पररूप होना, वह तो है नहीं। **वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है।** उपयोग अर्थात् ज्ञान का व्यापार तो वास्तव में तो अपनी ओर ही झुकाव है। **कदाचित् लम्बे समय तक स्वरूप में स्थिर न रह सके...** उपयोगरूप से अन्दर में रह नहीं सके, **और प्रयोजनवशात् आहार-उपदेशादि का...** उपदेश आदि। लिखना, सुनना इत्यादि। उसका **विकल्प आता है...** भारी सूक्ष्म! **तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से)...** अर्थात् कि स्वामीरूप से नहीं करता। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई!

उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है,... आहाहा! राग का रचना, उसे तो नपुंसकता कही है। इतनी निर्बलता है तो आता है। परन्तु उसका स्वामीपना नहीं अर्थात् कि उसका कर्ताकर्मपना नहीं। आहाहा! उपदेश का विकल्प आवे, उसका वह कर्ताकार्यपना नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे (ज्ञानी को) सदा आत्मा ज्ञातारूप से परिणम रहा है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग मार्ग है। पर से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न ऐसी वीतरागी दृष्टि होने पर वह जैनशासन है। आहाहा! उसमें शुभभाव आवे, तो कहते हैं कि वह तन्मयरूप से नहीं करता अर्थात् मेरेपने नहीं करता। परन्तु होता है, उसे ज्ञातारूप से जानता है। आहाहा! ऐसा है।

उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है, भावना नहीं है। राग भावना होओ। समझ में आया? शुभराग को करने का उत्साह नहीं। आहाहा! तथा वह करनेयोग्य है, ऐसी भावना भी नहीं। करता हूँ, करो भाई करो। कोई कहता था या नहीं? वहाँ इन्दौर। सीढ़ी। अशुभ में से शुभ में आवे और शुभ में से... यह धर्म का क्रम है। वहाँ कहा था न?

मुमुक्षु : यह मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो वहाँ दूसरी बात है। अशुभ से शुभ होता है, तो शुभ से शुद्ध होता है। ऐसा नहीं। अशुभ से शुभ हुआ नहीं और शुभ से शुद्ध हुआ नहीं। (परन्तु) अन्त मु शुभ होता है, उसकी रुचि छोड़कर शुद्धता का अनुभव करे, वह अपने अन्यत्र कहीं प्रश्न चला था। कोई मन्दिरमार्गी नहीं, मन्दिरमार्गी प्रश्न श्वेताम्बर...

मुमुक्षु : मुम्बई में रात्रि में रुकने में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

मुमुक्षु : मोटाणी के मकान में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न किया। ऐसा होता है और ऐसा होता है। सीढ़ी है, ऐसा कहे। अशुभ से छूटे और शुभ हो। अशुभ के बाद शुभ से शुद्ध होता है। बीच में शुभ आगे बढ़ने के लिये शुभ आता है।

यहाँ तो वहाँ आगे गृहस्थ थे नहीं? पैसेवाले करोड़पति। वहाँ प्रश्न हुआ। वहाँ शान्तिलाल मास्टर लिखे। गृहस्थ, वह भी पैसेवाला व्यक्ति। वह भी पूरे दिन क्रिया करे। बस यह प्रतिक्रमण और यह सामायिक और यह सूर्यास्तपूर्व भोजन और यह अमुक। उसमें लवलीन। जवाहरात का बड़ा धन्धा है। स्वयं बहू नहीं। लड़के करे। यह कहे, यह करे तो ही उसका कल्याण का मार्ग है। शुभभाव करना और आत्मा का करना, यही कल्याण का मार्ग है। शुद्ध में कोई एकदम जाया जाता होगा? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध को शुभ के राग की कोई अपक्षा ही नहीं है। आहाहा! शुद्धता के परिणमन के स्वकाल में परिणमन होता है, उसमें शुभराग था, इसलिए होता है, यह ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। निरपेक्ष अपना परिणमन स्वतन्त्र है। तब कहे, भाव आता है न! हो, परन्तु स्वामीपने, तन्मयपने उसे नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात अब शीघ्र जँचे नहीं। वह यह तुम्हारा एकान्त है रे एकान्त है, ऐसा कहते हैं न? व्यवहार से भी होता है तो अनेकान्त कहलाये। यहाँ तो कहते हैं कि निश्चय से होता है और व्यवहार से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! ऐसी बात है। तो दोनों को विरोध नहीं रहा। दोनों का विरोध कहा है। चौथा (कलश) नहीं? दो नय (उभय) विरोध ध्वंसिनी। निश्चय और व्यवहार दो में विरोध है। दोनों के कार्य भिन्न हैं, दोनों के फल भिन्न हैं, दोनों के आश्रय भिन्न

हैं। निश्चय का आश्रय स्व है और व्यवहार का आश्रय पर है। अन्य आश्रय तो यह है न अध्यवसाय। अन्य आश्रय अर्थात् विपरीत आश्रय है। निश्चय है, उसका स्व आश्रय है और उससे अन्य आश्रय अर्थात् उससे विपरीत आश्रय। पर का आश्रय है, ऐसा कहना। अन्य आश्रय है। आहाहा!

आहार-उपदेशादि का विकल्प आवे, तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से) होते हैं। उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है, भावना नहीं है। कार्य के लिए शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है,... कार्य के कारण **शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है, उसमें उसको एकताबुद्धि या कर्ताबुद्धि तो है ही नहीं,...** वह तो स्वतन्त्र उसकी पर्याय उस काल में होती है। उसका कार्यकाल है तो यह हिलना, बोलना उसके काल में होता है।

परन्तु वह क्रिया करने के विकल्प को भी भला नहीं मानता। वाणी, देह की क्रिया तो उसकी अपनी मानता नहीं और उसका कर्ता है नहीं। परन्तु विकल्प जो उठा, उसे भी भला जानता नहीं। आहाहा! अब ऐसी सरस बात। उपदेश देना उसमें यह ... लाभ होता है, अपने को भी लाभ होता है। आहाहा! ऐसा नहीं है। विकल्प आवे, उसके स्वामीपने नहीं रहता। आहाहा! उसमें उत्साह नहीं होता। यह भावना रहना (ऐसी) विकल्प की भावना नहीं होती।

परन्तु वह क्रिया करने के विकल्प को भी भला नहीं मानता। 'मैं इस विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर,... विकल्प का नाश होकर स्वरूप में स्थिर होकर **कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ...** भावना तो अन्दर शुद्ध आत्मा की है। आहाहा! समाधिशतक है न? समाधि—शान्ति कैसे दे वह? विकल्प उठे, वह तो अशान्ति है। आता है, परन्तु वह अशान्ति है। और उस अशान्ति का स्वामी जीव नहीं है। जीव जिसे ज्ञान में ज्ञात हुआ आत्मा जिसे ज्ञान में ज्ञात हुआ वह आत्मा राग का स्वामी नहीं है। राग का वह कर्तव्य नहीं, उसे भला जानता नहीं। आहाहा! उपदेश का विकल्प आया, भला है, बारम्बार आना, ऐसी भावना होती है? आहाहा! प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई!

चैतन्यस्वभाव ज्ञाता—दृष्टा और आनन्द। यह लड़कों ने उसमें लिखा था।

जादवजीभाई! तुम्हारे लड़को ने। दिलीप-दिलीप। उसने गायन बनाया है न उसमें? ज्ञान से सर्व को जानना, दर्शन से भेद पाड़े बिना अभेद से देखना, परन्तु हमारा प्रयोजन आनन्द है। ऐसा गायन में आया था। पुस्तक आयी न कल? हमारा ज्ञान जानने का काम करे, दर्शन देखने का काम करे, हमारा प्रयोजन तो आनन्द है, ऐसा भाई ने लिखा है। वह जरा पूछते थे तलकशीभाई! कि इसमें कोई अन्तर नहीं। प्रयोजन तो आनन्द का है न? वे कोटा में आये थे। तलकशीभाई। वे बोलते आहार के समय एक-एक लाईन बोलते। कोटा में तो बहुत चलता था। सवेरे से शाम। सवेरे से पाँच बजे से ठेठ रात्रि के नौ, साढ़े नौ (बजे तक)। परन्तु यह ऐसा कहे कि साधु के आचार और श्रावक के आचार कहाँ? व्यवहार हों, व्यवहार। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति, व्यवहार, श्रावक के बारह व्रत। परन्तु वह विकल्प है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....भाव धर्म है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म नहीं। षट् धर्म कहा न छह आवश्यक, नहीं? गुरु, देव-गुरु सेवा, दान, संयम आते हैं न छह बोल? वह तो उसे विकल्प आता है, उसको बतलाया है। बाकी उस विकल्प का कर्ता है और विकल्प उसका कार्य है, ऐसा नहीं है। वह कार्य जाने और मेरा कर्तव्य जाने, तब तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! बापू! मार्ग का बहुत अन्तर है। तुम्हारे यहाँ आयी है न पुस्तक? लड़कों ने बनायी है, वह पुस्तक आयी है? नहीं, लो। यहाँ नहीं।

मुमुक्षु : यहाँ पर तो रखी है। चार-पाँच रखी होगी....

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो है नहीं। यहाँ तो तुम्हारे यहाँ हुई है। वहाँ तो भाई ने बहुत सब बनाया है। एक के बाद एक बोले २००-३००-४००। परन्तु साथ में यहाँ कहाँ रखे? वापस दे दी।

यहाँ कहते हैं कि भाई! वस्तु तो ऐसी है। विकल्प आवे, होवे और कार्यकाल में जड़ के कार्य तो... चलने के देह के, उसके कार्यकाल में जड़ के कार्य होते हैं, उसका तो आत्मा कर्ता भी नहीं। और राग का कर्तापन जहाँ नहीं, वहाँ फिर? तथापि परिणमन की अपेक्षा से ज्ञान जानता है कि यह मेरा कर्तव्य है। कर्तव्य अर्थात् मेरा परिणमन है, इतना। आहाहा!

मुमुक्षु : ....योग्य है, ऐसा न जाने ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्तव्य अर्थात् मेरा परिणमन है और वह मेरा कर्तव्य है। करनेयोग्य है, ऐसा नहीं। बहुत अन्तर। यदि यह व्यवहार के आचरण को धर्म न माने तो दिगम्बर धर्म का नाश हो जायेगा। दिगम्बर धर्म का नाश करने खड़े हुए हैं। ऐई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : .... क्या करे ? उसकी एक ही जाति है। यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है।

वह क्रिया करने के विकल्प को भी भला नहीं मानता। आहाहा! साधु और श्रावक के जो व्यवहार आचरण के विकल्प हैं, कहो, उसे भला नहीं मानता। आहाहा! यह सब विद्यानन्दजी को यह सिद्ध करना है। यह आचरण है, इनसे धर्म टिकता है। **विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर,...** यह भावना वह होती है। राग की भावना नहीं होती कि यह भाव रहना। **कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ—ऐसी भावना उसको निरन्तर होती है।** शुद्ध स्वभाव में एकाग्र होने की भी भावना होती है।

इसी भावना के बल से उसका उपयोग, बाहर की क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता;... आवे, राग आता है। शुभ हो, अशुभ हो। परन्तु लम्बा काल उसमें टिकता नहीं। **वहाँ से छूटकर शीघ्र ही स्वसन्मुख झुकता है।** मुनि को तो छठवें गुणस्थान में विकल्प आवे, परन्तु तुरन्त ही सातवाँ आता है। आहाहा! देखो न! आचरण का, व्यवहार का, पंच महाव्रत का, समिति-गुप्ति का, भगवान के विनय का वह विकल्प आवे, परन्तु उस विकल्प को जगपंथ कहा है। वह जगपंथ—संसारपंथ है। आहाहा!

मुमुक्षु : समयसार नाटक में।

पूज्य गुरुदेवश्री : समयसार नाटक। जगपंथ। वह इस ओर ढला है। संसार की ओर ढला है। आहाहा! जिसके व्यवहार आचरण शुभराग (है, वह) संसार की ओर ढला है, झुक गया है। समयसार नाटक स्वयं, ऐसा कहते हैं बनारसीदास। है यहाँ समयसार नाटक ? यह तो कलश है। ओहोहो! निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टि के स्वभाव का...

मुमुक्षु : राग हो, वह जगपंथ ही होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगपंथ ही है। आहाहा! केवली को भी संसारस्थ कहा। संसारस्थ कहा है। चौदहवें गुणस्थान तक संसारस्थ। आहाहा! इतनी भी चार घाति के भाव की .... इतना संसारस्थ है। तो यहाँ शुभराग है, वह तो संसार है ही। आहाहा! उस शुभराग को भला कैसे जाने कि जो संसार में प्रवेश करावे? वहाँ यह तो शब्द आया है। शुभभाव तो संसार में प्रवेश करता है। आहाहा! अभी श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता। और यह करूँ... यह करूँ... हमारे धर्म का लाभ होगा। था कब? आहाहा!

ज्ञानी को निचली भूमिका में अस्थिरता के कारण, राग होता है... स्पष्टीकरण बहुत अच्छा किया है। धर्मी को निचलीदशा में अस्थिरता के कारण राग होता है। **और वचन-काय की क्रिया के प्रति लक्ष्य जाता है...** लक्ष्य जाता है, हों! विकल्प से। **परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को भूल जाए, वैसी आसक्ति उनमें नहीं होती।** ज्ञाता-दृष्टा के भाव को भूले, ऐसी आसक्ति ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा!

ज्ञानी को बाह्य वचन-काय की प्रवृत्ति होने पर भी, उसके अन्तरङ्ग में दृढ़ मान्यता है कि— आधार देते हैं। प्रवचनसार, गुजराती आवृत्ति, गाथा १६० टीका।

मैं देह-मन-वाणी नहीं,... आहाहा! है न? **मैं देह-मन-वाणी नहीं,... मैं उनका कर्ता नहीं।** वाणी और देह का मैं कर्ता नहीं। आहाहा! **उनका करानेवाला नहीं...** हो, उससे और मैं कराऊँ, ऐसा भी नहीं। आहाहा! और **अनुमोदक भी नहीं...** यह ठीक होता है। यह ठीक है, यह अनुमोदना की तो उसके कारण से होता है, उसे मैं अनुमोदन क्या करूँ? मैं **कर्ता हुए बिना भी...** अर्थात् मेरे कर्ता हुए बिना भी **वे वास्तव में किये जाते हैं;...** वाणी और देह की क्रिया आत्मा के कर्ता सिवाय भी उसके कारण से हो रही है। आहाहा!

इसलिए उनके कर्तापने का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। आहाहा! जाननेवाला-देखनेवाला ऐसा जीव का—आत्मा का स्वभाव। ऐसे जानने-देखने के परिणाम हों, वह मेरा कार्य और कर्ता। परन्तु बीच में ऐसा जो राग आवे, वह मेरा कार्य और मैं कर्ता, करानेवाला और अनुमोदन करनेवाला, ऐसा नहीं है। मेरे कर्ता सिवाय, उसके कारण से वे सब हो रहे हैं। आहाहा! **उनके कर्तापने का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।** यह गाथा है, हों! प्रवचनसार की १६० (गाथा)।

प्रत्येक द्रव्य का जो—उस पर्याय का उत्पन्न का काल है, तो होती है। उसमें आत्मा को करे किस प्रकार ? आत्मा को अपने ज्ञान और दर्शन की पर्याय का स्वकाल उत्पन्न है, उसे जानने-देखने की पर्याय का जन्मक्षण उत्पन्न करे। आहाहा! शशीभाई! ऐसा सूक्ष्म है। **सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी ज्ञानचेतना का निरन्तर परिणमन होता है;...** भाई ने स्पष्टीकरण किया है। **सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी ज्ञानचेतना....** अर्थात् स्वरूप में एकाग्रता। ज्ञान का चेतना, ज्ञान में एकाग्रता, वह सदा होती है। आहाहा! **इससे वह खाने-पीने में, पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने में, व्यापार में, युद्ध आदि संसार के कार्यों में बाह्यदृष्टि से रुका हुआ लगने...** बाह्य दृष्टि से रुका हुआ लगने, **पर भी, समस्त बाह्यप्रवृत्ति में वह जल-कमलवत् न्याय से रहता है।** आहाहा! बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

खाने-पीने में, पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने में,... उस समय तो विकल्प आवे। **व्यापार में, युद्ध आदि संसार के कार्यों में बाह्यदृष्टि से रुका हुआ लगने पर भी, समस्त बाह्यप्रवृत्ति में वह जल-कमलवत् न्याय से रहता है।** आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा के कार्य सिवाय उसका दूसरा कार्य है नहीं। आहाहा! यह एक तो बात पकड़ना कठिन और परिणमाना कठिन।

मुमुक्षु : अनन्त जीव उसे परिणमाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आगे कहेंगे कि शुरुआतवाले को मुश्किल जैसा लगता है। ऐसा कहेंगे। योग का साधन मुक्ति दुर्लभ है और इसलिए अन्तर में जाने में उसे दुःख लगता है। दुःख लगे इसका अर्थ मुश्किल लगता है। और बाहर में जरा सरलता लगती है, इसलिए सुख लगता है। भाषा तो ऐसी है। बाहर में सुख लगे अभी शुरुआत और अन्दर में-अन्तर में जाना, वह दुःख लगता है। धर्मी जीव को अन्तर के ध्यान के समय भी अन्तर में जाना, वह मुश्किल जैसा लगता है। अर्थात् दुःख लगता है, ऐसा उसका अर्थ किया, और बाहर में रहना वह सरल लगता है, इसलिए उसे सुख जैसा लगता है, ऐसा कहा। ५१ में कहेंगे।

श्लोक - ५१

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिकमित्याह -

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥ ५१॥

यच्छरीरादिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति मदीयं रूपं तन्न भवति। तर्हि किं मम रूपम् ? तदस्तु ज्योतिरुत्तमं ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा सानन्दं परम-प्रसत्तिसमुद्भूतसुख-समन्वितम्। एवं विधं ज्योतिरन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु किंविशिष्टः पश्यामि ? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः॥५१॥

अनासक्त (अन्तरात्मा) आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण करता है; शरीरादि को नहीं — ऐसा कैसे होता है ? वह कहते हैं —

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि॥ ५१॥

अन्वयार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि (यत्) जो कुछ शरीरादि बाह्यपदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ। (तत्) वे (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं हैं किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोककर, स्वाधीन करता हुआ (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञानप्रकाश को (अन्तः) अन्तरङ्ग में (पश्यामि) देखता हूँ-अनुभव करता हूँ, (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्वरूप (अस्तु) हो।

टीका - जो अर्थात् शरीरादि को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ, वह मेरा नहीं है अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो मेरा रूप क्या ? वह उत्तम ज्योति हो-ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय तथा आनन्दमय अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त है। इस प्रकार की जिस ज्योति को (ज्ञानप्रकाश को) अन्तरङ्ग में मैं देखता हूँ-स्वसंवेदन से मैं अनुभव करता हूँ, वह मेरा स्वरूप अस्तु — हो। मैं कैसा होकर देखता हूँ ? इन्द्रियों को संयमित करके (इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोककर और स्वयं स्वाधीन होकर) अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखकर (मैं देखता हूँ)।

भावार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि :— 'इन्द्रियों द्वारा जो शरीरादि बाह्यपदार्थ दिखते हैं, वे मैं नहीं हूँ, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; मेरा स्वरूप तो परम उत्तम अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानज्योति है। जब मैं भावइन्द्रियों को नियन्त्रित करके अर्थात् बाह्यविषयों से हटाकर, अन्तर्मुख होता हूँ, तब मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा को देख सकता हूँ-स्वसंवेदन से अनुभव कर सकता हूँ।'

विशेष स्पष्टीकरण -

जो इन्द्रियों द्वारा दिखता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह तो जड़ का-पुद्गल का स्वरूप है; वह आत्मा नहीं है; अनात्मा है। ज्ञानी, आत्मा-अनात्मा के भेदविज्ञान द्वारा शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षा करके, उपयोग को वहाँ से हटाकर, स्वसन्मुख करता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान होने से, वह आत्म विषय में ही रमने की भावना करता है; बाह्यविषयों में विचरण करना पसन्द नहीं करता।

इसलिए अन्तरात्मा को शरीरादि बाह्यपदार्थों में अनासक्ति होती है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है॥५१॥

श्लोक - ५१ पर प्रवचन

अनासक्त (अन्तरात्मा) आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण करता है; शरीरादि को नहीं—ऐसा कैसे होता है ? वह कहते हैं— अब ५१। अनासक्त। यह अनासक्त शब्द प्रयोग किया है न! उसमें आया है अन्तिम। अतत्पर—अनासक्त। संस्कृत। अर्थात् अनासक्त अर्थात् अन्तरात्मा ऐसा। **आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण करता है; शरीरादि को नहीं—ऐसा कैसे होता है ? वह कहते हैं—** ५१।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥ ५१॥

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि॥ ५१॥

आहाहा! परमार्थ मार्ग यह है।

५१ की **टीका - जो अर्थात् शरीरादि को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ,...** कहना ऐसा चाहते हैं कि जो यह दिखता है इन्द्रियों से, वह चीज़ मैं नहीं हूँ। इन्द्रिय से जो देखने में आता है, वह मैं नहीं। आहाहा! इन्द्रिय से देव-गुरु और शास्त्र देखने में आते हैं। इन्द्रिय से वाणी और भगवान, भगवान का शरीर, वह इन्द्रियों से जानने में आता है। यह इन्द्रियों से ज्ञात हो, वह मैं नहीं। आहाहा! **शरीरादि को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ,...** शरीर को देखता है, इन्द्रिय से देखता है न! वह कहीं अनीन्द्रिय से देखे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक भाई बहुत वर्ष पहले कहे, ऐसा कि यह दिखता है, वह सब पुद्गल की पर्याय है। आहाहा! बहुत वर्ष की बात है। नागनेश में... नागनेश-नागनेश। ऐई! कहाँ गये नागनेश? है न उस ओर .... वहाँ बहुत वर्ष पहले ७८ के वर्ष। कहा, यह सब जो दिखता है तो वैभाविकपर्याय दिखती है। उसके गुण-द्रव्य नहीं। यहाँ कहते हैं कि जो इन्द्रिय से दिखता है, वह मैं नहीं। आहाहा! शरीर इन्द्रिय से दिखता है। शरीर इन्द्रियों से ज्ञात होता है, वह अनीन्द्रिय से नहीं।

कलश टीका में तो ऐसा कहा है कि पानी गर्म है। यह उसका ज्ञान स्वरूपग्राही ज्ञानी को होता है अर्थात् जिसे स्व का ज्ञान होता है, उसे यह पानी गर्म है, उसका स्वभाव शीतल है, ऐसा पर का ज्ञान स्वरूपग्राही को होता है। अकेला परप्रकाशक ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहाहा! जिसे स्वभाव का ज्ञान हुआ है स्व का, उसे पर का यथार्थ ज्ञान होता है। अकेले अपना ज्ञान नहीं और यह पर का ज्ञान उसे कहा जाये, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

आता है न, स्वरूपग्राही ज्ञान, दो जगह। उसका अर्थ यह कि पर का ज्ञान वास्तव में तो परप्रकाशक का ज्ञान... स्व का ज्ञान हो, उसे परप्रकाशक ज्ञान यथार्थ। बाकी तो इन्द्रियों से जो ज्ञात हो, वह सब पर है। अब पर का ज्ञान हो, ज्ञान। वह भी स्व को जिसका ज्ञान हुआ है, उसे पर का ज्ञान यथार्थ होता है। आहाहा! समझ में आया? वास्तव में तो वह पर का ज्ञान नहीं, ज्ञान अपना है। स्व को-पर को जानने का ज्ञानभाव अपना है। परन्तु उसमें पर ज्ञात हो गया, इस अपेक्षा से पर को जानता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

यह तो कोई कहे, यह तो भाई! ऊँचे नम्बर की बात है। वे कहते नहीं थे, वे? कोटा में वह पण्डित। सामने नहीं बैठते थे? कहे, जानते हैं। महाराज! यह ऊँचे प्रकार की बात है। जानकर कहते हैं। वे पण्डित नहीं? नाम भूल गये। वहाँ पण्डित तो बहुत इकट्ठे हुए थे। यह स्पष्टीकरण करने के लिये। वे पण्डित थे। वे सामने नहीं बैठते थे?

मुमुक्षु : इन्दौर....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ के? इन्दौर? हाँ, वे। हाँ, वे। किसी समय कहते थे कि महाराज! यह तो ऊँचे... कोटा में कहा। कहा, ऊँचे की अर्थात्? यथार्थ की है। यह तो यथार्थ तत्त्व की बात है। उसे ऊँचा कहो या पहला कहो, जो कहो वह तो यह है। आहाहा! लोगों को अपने स्वभाव का सामर्थ्य कितना है, उसकी उन्हें खबर नहीं। यह पर को जानने का सामर्थ्य स्वयं से स्वयं में है। यह अस्तित्व पर है, इसलिए यहाँ जानता है—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

लोकालोक है तो केवलज्ञानी उसे केवलज्ञान में जानते हैं, उसका अस्तित्व है तो वे जानते हैं, ऐसा भी नहीं है। वह ज्ञान की पर्याय ही ऐसी है कि अपने को और पर को स्वयं से स्वत: जाने, परिणमे—ऐसा उसका स्वभाव है। उसका अस्तित्व है, इसलिए यहाँ ज्ञान में उस सम्बन्धी का अस्तित्व जानने में आया, ऐसा नहीं है। पण्डितजी! जरा सूक्ष्म है। वह ज्ञान का ही स्वभाव, सर्वज्ञ अर्थात् आत्मज्ञ। ऐसा कहा है न शक्ति में? ४७ शक्तियाँ। यह सर्वज्ञ अर्थात् पर का, ऐसा नहीं। सर्व का, अपना ऐसा पर्याय में जानने का सामर्थ्य है, उस सर्वज्ञपने को आत्मज्ञ कहा है। वह आत्मज्ञ दशा है। आहाहा! कठिन बात!

शरीरादि को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ, वह मेरा नहीं है अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो मेरा रूप क्या? वह उत्तम ज्योति हो-ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय... ऐसा। ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय। **तथा आनन्दमय अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त है। इस प्रकार...** आहाहा! मेरा ज्ञान तो सुख से उत्पन्न हुआ, आनन्द के साथ उत्पन्न हुआ, वह मेरा ज्ञान है। आहाहा!

फिर से। **ज्योति अर्थात्...** है न? ज्योति है न अन्तिम शब्द? ५१ का अन्तिम। **'ज्योतिरुत्तमम्।' 'अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्।'** अब ज्योति की व्याख्या

करते हैं। **ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय तथा आनन्दमय अर्थात् परम प्रसन्नता...** परम प्रसन्नता आनन्दमय अतीन्द्रिय। अतीन्द्रिय ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द के साथ **परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त है।** आहाहा! मेरा जो ज्ञान, वह परम आनन्द के साथ उत्पन्न हुआ है। आहाहा! उसे ज्ञान कहते हैं। कठिन बातें! है?

ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय... यह तो इतना शब्द हुआ। '**ज्योतिरुत्तमम्म्।**' परन्तु '**पश्यामि सानन्दं तदस्तु**' यह तीसरा पद है। **परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न...** आहाहा! जिस ज्ञान में परम प्रसन्नता अर्थात् आनन्द, उससे उत्पन्न हुआ वह **सुख से युक्त (ज्ञान) है।** आहाहा! मेरी ज्योति उत्तम है जो ज्ञान की ज्योति, वह ज्ञान अतीन्द्रिय है। ज्योति अर्थात् ज्ञान है, उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय के साथ प्रसन्नता सुख की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ है। आनन्द की धारा उसके साथ होती है। आहाहा! उसे ज्ञान कहा जाता है। आहाहा!

इस प्रकार की जिस ज्योति को (ज्ञानप्रकाश को) अन्तरङ्ग में मैं देखता हूँ- उसे अन्तरंग में मैं देखता हूँ यहाँ। विशेष व्याख्या आयेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ शुक्ल ९, बुधवार, दिनांक १८-६-१९७५, श्लोक-५१-५२, प्रवचन-६५

भगवान को वाणी... देखने में आवे, तो भी वह तो बाह्य स्वरूप है। **अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो मेरा रूप क्या ? वह उत्तम ज्योति...** अर्थात् **ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय...** इन्द्रिय से ज्ञात हो, वह नहीं। मैं तो अतीन्द्रिय स्वरूप ज्ञात हो, ऐसी चीज़ हूँ। **अतीन्द्रिय तथा आनन्दमय...** ज्ञानज्योति अतीन्द्रिय और आनन्दमय। उससे उत्पन्न प्रसन्नता से उत्पन्न हुए सुख से सहित हूँ। आहाहा! अणीन्द्रिय ऐसा आत्मा अर्थात् ज्ञानज्योति। उत्तम अर्थात् अणीन्द्रिय। आहाहा! इन्द्रिय से ज्ञात, वह सब चीज़ तो पर है। अणीन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा जो उत्तम आत्मा। आहाहा!

बाहर से देखना उसे, तो बाहर से देखना चीज़ मेरी नहीं और उसे देखने से तो राग और दुःख होता है। एक जगह कहा है न, भाई! बाह्य चीज़ों को देखने के लिये अन्ध हो जा। ऐसा आता है। अन्दर देखने के लिये हजार नेत्र खोल। आहाहा! ज्ञान नेत्र की दशा ऐसी उग्र कर कि अन्दर आत्मा ज्ञात हो, ऐसा कहते हैं। ऐसा कथन आता है। हजार नेत्र से अन्दर देख। बाहर को देखने में अन्ध हो जा। आहाहा! क्योंकि वस्तु तो अन्दर है। बाह्य में वह वस्तु नहीं। बाह्य में देखना बन्द करके... यह कहते हैं।

आनन्दमय अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त है। इस प्रकार की जिस ज्योति को (ज्ञानप्रकाश को) अन्तरङ्ग में मैं देखता हूँ... आहाहा! ज्ञान-ज्योति उत्तम अर्थात् अणीन्द्रिय। और सुख की उत्पत्ति सहित है। उस अतीन्द्रिय को देखने से आनन्द आवे, ऐसा कहते हैं। इन्द्रिय से देखने पर परवस्तु वह मेरी नहीं, ऐसा दुःख होता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप ही ऐसा है। इन्द्रिय से देखने पर प्रतिमा भगवान, वाणी लो। इन्द्रिय से देखा जाता है। इसलिए कहा है कि इन्द्रिय से जो दिखता है, वह इन्द्रिय है, ऐसा कहा है। (समयसार) ३१वीं गाथा। द्रव्येन्द्रिय इन्द्रिय; भाव इन्द्रिय, इन्द्रिय और भावेन्द्रिय से ज्ञात हो जो सामने चीज़, वह भी इन्द्रिय। भगवान और भगवान की वाणी भी इन्द्रिय है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान को इन्द्रिय बना दिया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके हिसाब से इन्द्रिय, उनके हिसाब से भले हो। क्योंकि इन्द्रिय से दिखता है, वह अपना स्वरूप नहीं है। भगवान की वाणी सुनाई दे, वह भी अपना स्वरूप नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

स्वसंवेदन से मैं अनुभव करता हूँ,... कहते हैं कि मैं तो स्व—अपने से संवेदन अर्थात् प्रत्यक्ष। यह आत्मा प्रत्यक्ष मति-श्रुतज्ञान में होता है, वह मैं हूँ। यह भारी कठिन भाई! लोग तो बाहर की इन्द्रिय से दया पाले। वे उसे धर्म मानते हैं। आहाहा! यहाँ तो इन्द्रियों से जो चीज़ ज्ञात होती है, वह चीज़ इस आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! भगवान की वाणी सुने, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं। आहाहा! भगवान को इन्द्रिय से देखने पर भाव हो विकल्प, परन्तु देखने से राग ही होता है, तो फिर जिनप्रतिमा को देखना किसलिए?

मुमुक्षु : अशुभ में से बचने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अशुभ से वंचनार्थ ऐसा शुभभाव आवे। परन्तु है वह इन्द्रिय से देखने में... आहाहा! राग की उत्पत्ति होती है, वह दुःख है। अणीन्द्रिय ऐसा जो आत्मा ज्ञानज्योति। सामने इन्द्रिय, वहाँ अणीन्द्रिय डाला है। चैतन्य ज्योति जो अणीन्द्रिय। उसे देखने से स्वसंवेदन से उसे सुख होता है। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! ऐसा मार्ग लोगों को... और कहे भी व्यवहार करते-करते होगा न! इस प्रकार से सीधे होता होगा? ऐसा कहे। आहाहा!

अणीन्द्रिय को अन्दर यह बात, यह देखना बाहर से। यहाँ तो यह आया कि बाह्य इन्द्रिय से देखने पर ज्ञानी को भी वह स्वरूप नहीं, इसलिए उसे देखने से राग होता है और दुःख होता है। आहाहा! भगवान को देखने से और सुनने से राग होता है और दुःख होता है। मात्र अणीन्द्रिय प्रभु स्वयं है, उसे देखने से अराग होता है और सुख होता है। ऐसा मार्ग है, भाई! इस प्रकार देखने से वह स्वरूप मेरा नहीं, ऐसा देखने से यह स्वरूप मेरा है। ऐसा देखने से राग होता है, दुःख होता है, ऐसा देखने से अराग और सुख होता है। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : बात तो बराबर है परन्तु अन्दर ... प्रयत्न करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे प्रयत्न करना पड़े। यह कहेंगे आगे। (श्लोक) ५२ में कहेंगे।

बाहर में इसने जरा अनुकूलता शुरुआत की उसे अनुकूलता लग गयी और अन्तर में जाना मुश्किल जैसा लगता है। शुरुआत में ऐसा आयेगा। मुश्किल अर्थात् वह अन्दर जाने में उसे बहुत प्रयत्न चाहिए, इसलिए उसे मुश्किल लगे और बाहर में उसे जरा ठीक लगे, ऐसा। अर्थात् बाहर में सुख लगे, यह तो प्रश्न है। ऐसा जरा सुख। आहाहा! यह तो समाधितन्त्र है। समाधि—शान्ति कैसे प्रगट हो? और असमाधि कैसे टले? तो इन्द्रिय से देखने की चीज़ में से तो असमाधि होती है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! तब वापस कितने ही कहते हैं न, देखो! भगवान की स्तुति आदि, वह स्तुति सच्ची नहीं। इसलिए यह भगवान की प्रतिमा और मूर्ति शास्त्र में है ही नहीं। ऐसा और कहे। भाई! यह मूर्ति है इन्द्रिय का विषय और उसमें शुभभाव भी होता है। और यह शुभभाव, वह दुःख भी होता है। जब तक सर्वज्ञपद प्राप्त न हो, तब तक स्वसंवेदन का सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान का सुख भी होता है और पर इन्द्रिय की ओर के झुकाव में जो राग होता है, उतना दुःख भी होता है। आहाहा!

जब दृष्टि और दृष्टि का विषय चले, उसमें तो ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को अशुद्ध परिणाम है ही नहीं। अर्थात् कि उसे दुःख है ही नहीं, ऐसा आवे। वह तो दृष्टि और दृष्टि का विषय जो शुद्ध चैतन्य है, उसकी अपेक्षा से कथन है। परन्तु जब सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से कथन चलता है, तब तो स्वभाव में सुख है, उसका भी भान है और परसन्मुख के झुकाव में जरा राग और दुःख है, उसका भी भान है। आहाहा!

यह तो वे ज्ञानचन्दजी और आये थे भाई कितने ही। दिल्ली से। देखो यह। तब वे कहते थे। ऐसा कि आप निहालचन्दभाई को निश्चयाभास कहो तो हम आयेंगे, नहीं तो हम नहीं आते। देखो यह। फिर पण्डितजी हिम्मतभाई मिले। ऐसा कहे। मैंने कहा बातचीत हुई? कहे, नहीं। मात्र बहुत अच्छा। उसके साथ क्या? उसकी श्रद्धा में मिथ्यात्व है। समकिती को दुःख होता ही नहीं, अशुद्धता होती ही नहीं। ऐसा यह विवाद उठा है न सेठिया के साथ? कहा, उसके लिये क्या हुआ? ऐसा।

मुमुक्षु : राग हो तो दुःख होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख है न, जितना राग है, उतना दुःख है। आहाहा!

तीसरे कलश में अमृतचन्द्राचार्य ने नहीं कहा ? कि मैं द्रव्य से तो शुद्ध हूँ। तीसरे कलश में। परन्तु अनादि मोह के निमित्त से मुझमें कलुषितता है। '**कल्माषितायाः**' तीसरे कलश में है। अब मुनि हैं, आचार्य हैं, छठवें गुणस्थान में। वे कहते हैं कि मुझे विकल्प... उन्हें अशुभ तो है नहीं। वे तो मुनि हैं। मोक्षमार्ग(प्रकाशक) में नहीं कहा ? मुनि को अशुभ तो होता ही नहीं। तब अब '**कल्माषितायाः**' वह शुभभाव है। वह मुझे अशुद्ध है, कलुषितभाव है। आचार्य स्वयं कहते हैं। यह मुझे टीका करने में... पाठ ऐसा है। '**व्याख्ययैव**' शब्द पड़ा है न ? व्याख्या करने से यह अशुद्धता टलो। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि व्याख्या करने से तो विकल्प है। परन्तु व्याख्या के काल में मेरा जो लक्ष्य अभेद पर जोर है, उस जोर से अशुद्धता टल जाओ। ऐसी बात है।

यहाँ तो बाह्य इन्द्रिय का यह लिखना शास्त्र, वह सब विकल्प है। सुनना, कहना, वह भी विकल्प है। '**कल्माषितायाः**' दुःख है। आहाहा! छठवें गुणस्थानवाले आचार्य ऐसा कहते हैं कि हमको वह दुःख है। और कहे समकिती को दुःख नहीं होता और अशुभ, परन्तु वह किस अपेक्षा से ? वह तो दृष्टि और दृष्टि के विषय की अपेक्षा से बात है। आहाहा! तथापि ज्ञान की श्रद्धा की अपेक्षा से... श्रद्धा का विषय अभेद है। श्रद्धा स्वयं निर्विकल्प है न ? वह कहीं श्रद्धा स्वयं अपने को जानती नहीं। वह जानता है ज्ञान। श्रद्धा तो निर्विकल्प है और स्वयं जानती नहीं। इसलिए उसे निर्विकल्पता में तो वस्तु का स्वरूप जो पूरा पूर्ण है, वह उसका विषय है। क्योंकि यहाँ भेद नहीं ज्ञान में-जानने में, इससे उसका विषय भी पूरा अभेद है। परन्तु उस काल में जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान तो पर्याय में जितना परलक्ष्य में जाता है, उतना राग और दुःख है। आहाहा! ऐसी बात! एकान्त खींचे कि, नहीं, उसे राग नहीं। ऐसे दृष्टान्त दिये हैं न पहले ? सेठिया ने दिये थे। पत्र आये हैं न, ऐसे दृष्टान्त देते हैं, न माने अब जाओ। परन्तु किसका दृष्टान्त ? वह तो दृष्टि और दृष्टि के विषय की अपेक्षा की बात है। उसे जो पर्याय में अशुद्धता है, उसे गौण करके यह बात की है। आहाहा! और जितना विकल्प इन्द्रिय के विषय की ओर जाता है, उतना दुःख ही है।

मुमुक्षु : ....है तो दुःख ही होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है न! यहाँ भाषा कैसी की है, देखो न! इन्द्रिय की ओर का

झुकाव ऐसा है। अर्थात् उसके विषय हैं, उनमें मैं नहीं। आहाहा! और मैं तो एक ज्ञानज्योति उत्तम हूँ अर्थात् अणीन्द्रिय हूँ। आहाहा! अणीन्द्रिय ज्ञान की ज्योति और उसके भानसहित में प्रसन्नता आनन्द के सुख के सहित होती है। अणीन्द्रिय आत्मा को देखने से ज्ञान, सुख सहित उत्पन्न होता है। आहाहा! ऐसी बात ऐसी लगे साधारण को इसलिए मानो व्यवहार करो। क्या करे? आहाहा!

सुख से युक्त है। देखो! **इस प्रकार की जिस ज्योति को (ज्ञानप्रकाश को) अन्तरङ्ग में...** अन्तरंग में अन्तर देखने पर **मैं देखता हूँ-स्वसंवेदन से मैं अनुभव करता हूँ,...** आहाहा! अन्तर्मुख होने के उस काल की बात है। अन्तर उपयोग से हट जाये तो बाह्य की ओर के झुकाव में उसे विकल्प होता है, वह स्वसंवेदन से हट गया है। चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र को सुने और माने, वह भी स्वरूप के अनुभव से पतित होता है। ऐसा कहा है न? पुण्य-पाप अधिकार में। व्यवहाररत्नत्रय निश्चय से पाप है। क्योंकि स्वरूप से पतित होता है। निर्विकल्प आनन्द की दशा से जहाँ विकल्प उठे तो वह स्वरूप से पतित होता है, इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या उन्हें सुनने का भाव, वह सब दुःखरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चिन्तता से सोते रहना न खाट में?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु का स्वरूप ऐसा है। सोता रहे कहाँ? सोवे कौन और जागे कौन? आहाहा! चैतन्य अणीन्द्रिय स्वरूप, भगवान को ध्यान में लेने से उसे चैतन्य अणीन्द्रिय के सुख की उत्पत्ति होती है और इन्द्रिय के विषय देखने पर उसे वह उसका स्वरूप नहीं है, तथापि उसकी ओर लक्ष्य जाता है; इसलिए उसे विकल्प और दुःख होता है। आहाहा! होता है, विकल्प होता है, वह व्यवहार है। परन्तु वह व्यवहार, वह दुःखरूप है। आहाहा! क्या हो?

यहाँ तो अणीन्द्रिय ऐसा भगवान, उसे देखने से अन्तर में आनन्द का स्वसंवेदनपना प्रगट हो, उसे यहाँ धर्म और वास्तविक शुद्धोपयोग कहते हैं। आहाहा! और वह जैनशासन है। बाहर में देखने से विकल्प उठे, वह जैनशासन नहीं। वह तो राग है। जैनशासन तो वीतराग पर्याय है। आहाहा!

कहते हैं **वह मेरा स्वरूप अस्तु—हो।** क्या कहा ? कि ज्ञानज्योति उत्तम अणीन्द्रिय, उसे वेदन करने से मैं सुखसहित वेदन करता हूँ, वह मेरा स्वरूप हो। इसके अतिरिक्त मेरा स्वरूप है नहीं। आहाहा! **मेरा स्वरूप अस्तु—हो।** आहाहा! ज्ञानज्योति उत्तम अणीन्द्रिय और स्वसंवेदन भाव में वह वस्तु जो ज्ञात हुई, वह मैं हूँ। आनन्द का वेदन हो। यह तो कहना है, इसमें तो मैं ऐसा हूँ... ऐसा हूँ... यह भी विकल्प है। समझाना है किस प्रकार ? आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मैं अनुभव करता हूँ, वह मेरा स्वरूप हो, अर्थात् अन्दर में, वह अन्दर में उस स्वरूप मैं हूँ, ऐसा। आहाहा!

ऐसा स्वरूप हो, ऐसा जो विकल्प है, वह नहीं। यह तो अस्तिपना ऐसा है... यह सब देखो न बातें यह रजनीश और वे करते हैं न! विकल्प से शून्य हो जाओ... विकल्प से शून्य हो जाओ... परन्तु विकल्प से शून्य होगा किसके ऊपर ? जो अस्तित्व वस्तु है, वह अस्ति कितने प्रदेश में और कितने गुण में है ? ऐसा जो द्रव्य उसका अस्तित्व दृष्टि में आये बिना, उसके अस्तित्व पर गये बिना विकल्प की नास्ति किस प्रकार होगी ? तो अस्ति की ही बात है नहीं और विकल्प नाश करना... विकल्प नाश करना... यह तो उसने कहा, ऐसा हुआ यह। चिन्ता निरोध। वह क्या कहलाता है। अन्यमति में। अन्यमति में। पातंजलि।

मुमुक्षु : योग निरोध।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह। परन्तु यहाँ से विकल्प से (रहित) परन्तु निर्विकल्प चीज़ कितनी है ? उस चीज़ का अस्तिपना उसका क्षेत्रपना और उसके भाव का गुणपना इसकी दृष्टि में आये बिना वह विकल्प टूटे किस प्रकार ? पण्डितजी! आहाहा! ऐसी सब बातें करे—विकल्प से शून्य हो जाओ। विचार बन्द करो। परन्तु विचार बन्द करके किस पर जाना है इसे ? किसके अस्तित्व में इसकी दृष्टि है ? यह अस्तित्व वह मैं ही हूँ, यह कहा, देखो न! यह वेदन करता हूँ, वह मेरा स्वरूप अस्तु—हो। आहाहा! इसलिए उसमें विकल्परहित हो गया। आहाहा!

इस प्रकार तो आत्मा की बातें करना अब बहुत सीखे हैं। परन्तु उसका मूल अस्तित्व कितना है ? कितने गुण ? अनन्त-अनन्त गुणवाला जिसका अस्तित्व है और असंख्य प्रदेशी वह वस्तु है। अब असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण से व्यापक है। एक-एक प्रदेश में सब अनन्त गुण ऐसे व्याप्त हैं। ऐसा उसका अस्तित्व है, वह अणीन्द्रिय से ज्ञात

हो, ऐसा है। आहाहा! समझ में अया? बाहर में ऐसी धम लगे धमाधम ऐसी। आहाहा! शिक्षण शिविर, कोटा में।

मुमुक्षु : बहुत विद्यार्थी....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत विद्यार्थी-शिक्षक सबको इनाम दिये, पुस्तकें दीं। कितना खर्च? परन्तु वह तो सब परसन्मुख के लक्ष्यवाली विकल्प की बातें हैं। पण्डितजी! आहाहा!

उसमें यह बाबूभाई धर्मचक्र लेकर निकले थे न? वह तो तीन महीने में धर्मचक्र क्या लाख महीने में करे तो लाख मनुष्य हो तो वह परद्रव्य परलक्ष्य है तो शुभभाव है। ऐसा मार्ग है प्रभु का। और वापस रात्रि में चलना और दिन में यात्रा। एक ओर ऐसा कहना कि रात्रिपूजन नहीं करना। आता है या नहीं मोक्षमार्ग में? रात्रिपूजन नहीं होता। यह तो ... का बाप हो गया बड़ा। रात्रिपूजन नहीं करना तो रात्रि में यात्रा के लिये नहीं चलना। ऐई! बात ऐसी है। मिले थे बाबूभाई को सबको। ऐसा मानते हों कि ओहोहो! मानो क्या किया? लोग इकट्ठे हो गये थे। इन्दौर में तो पचास हजार। चक्र है और फिर वह बोले अन्दर। महावीर का सन्देश। वे चन्दुभाई हैं न, चन्दुभाई? चन्दुभाई न? दूसरे हैं। हाँ वह बोलता था।

मुमुक्षु : दूसरे बाबूभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबू... बाबू...

मुमुक्षु : बाबूलाल ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। वह गुजराती है। फतेपुर के। वे साथ थे न उनके साथ।

मुमुक्षु : छोटे बाबूभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छोटे बाबूभाई। धर्मचक्र के साथ अन्दर बैठा बोलता था। यह जूनागढ़ में दूसरे दिन वे आये सवेरे। हम चार दिन जूनागढ़ रहे। दो दिन जैतपुर। वहाँ पहले गये यहाँ। दूसरे दिन सवेरे वे आये। मैं बराबर बाहर निकलकर व्याख्यान में जानेवाला था और धर्मचक्र वहाँ खड़ा रखा। यहाँ बैठो महाराज। बाबूभाई कहे। यहाँ तक जाते हैं हम। रथयात्रा। परन्तु यह सब बातें, बापू! बाह्य की ओर के लक्ष्यवाली चीज़ तो शुभराग की।

स्त्री, कुटुम्ब, परिवार के लक्ष्यवाला भाव, वह अशुभ है। और यह देव-गुरु-शास्त्र के झुकाववाला भाव, वह शुभ है। परन्तु हैं दोनों बन्ध के कारण। आहाहा!

मुमुक्षु : बन्ध के कारण में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का प्रकार—बन्ध की अपेक्षा से दोनों बन्ध है। अबन्धस्वरूप, उससे विरुद्ध बन्ध है। फिर भले कषाय की मन्दता से थोड़ा बन्धरूप से, परन्तु बन्ध न? ऐसी बात है, भाई!

व्यवहार का बहुत हर्ष आवे। अधिक लोग सुनें, अधिक लोग इकट्ठे हों, उसका हर्ष आवे, वह तो सब शुभराग है। ऐई! हिम्मतभाई! ऐसी बातें हैं, भाई! यह तो वीतरागभाव है।

मुमुक्षु : बाबा होने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। रागरहित ही इसका स्वरूप है। ऐसी बात ली है। देखो, पाठ में है न, देखो! '**अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्म्**' दूसरा पद है न? '**अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्म्**' आहाहा! '**यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।**' इन्द्रिय का निरोध करके... आहाहा! '**अन्तः पश्यामि**' अन्तर में आनन्द को अनुभव करना। आहाहा! उसे देखने से, अन्तर को देखने से आनन्दसहित अनुभव, वह वस्तुज्योति, उसस्वरूप मैं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! व्यवहार के रसिक, उसे यह बात रुचना मुश्किल पड़ता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पण्डित कैलाशचन्दजी.... कितने जोर से कहे... नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता? यहाँ तो यह कहते हैं भाई!

मुमुक्षु : इसका अर्थ ऐसा कि उसे पुण्य रुचा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुचि-रुचि। उसे शुभभाव में। कुन्दकुन्दाचार्य को पकड़ने से दूसरे आचार्यों का बलिदान हो जाये, ऐसा वे कहते हैं। सब आचार्यों की एक ही शैली है। आहाहा! परन्तु जिसका विशेषरूप से उपकार ज्ञात हो, उसे कहे, प्रभु! आप—कुन्दकुन्दाचार्य यदि महाविदेहक्षेत्र में जाकर यह उपदेश नहीं दिया होता तो हमारे जैसे मुनि किस प्रकार धर्म को प्राप्त करते? ऐसा कहा। देवसेनाचार्य ने कहा है। दर्शनसार। पुस्तक है, उसमें यह

कहा है। उसमें लिखा है न समयसार। आहाहा! सम्बोधन पद्मनन्दि आचार्य। पद्मनन्दि अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य। महाविदेह में जाकर यहाँ ऐसा उपदेश न किया होता तो... आहाहा! तो दूसरे मुनियों का बलिदान हो गया उसमें? आहाहा!

और जिसका उपकार ख्याल में आया, उसे कहे, वह भी (एक) विकल्प है। आहाहा! पुण्य को पाप कहा। कहा न? पुण्य-पाप के अधिकार की अन्तिम गाथायें हैं न, जयसेनाचार्य (कृत टीका)। पहले कहा है कि भाई! वह निमित्त है, वह होता है। वापस यह कहा कि भाई! यह अधिकार तो पाप का चलता है। और उसमें तुमने यह कहाँ डाला? कहे, वह पाप ही है। आहाहा! आनन्द के स्वरूप के अनुभव से हट जाना, भ्रष्ट होना, वह व्यवहार का विकल्प है, वह पाप है। आहाहा!

मुनि का कहा नहीं? मुनि का। कहा था न यह समयसार नाटक में? समयसार है न, नाटक-नाटक। ४०वाँ बोल है न? छठवें गुणस्थान में जो पंच महाव्रतादि का शुभ विकल्प आता है, 'ता कारन जगपंथ इत,...' वह जगपंथ है। पण्डितजी! पाठ। ५२-५४ बोल है। मोक्ष अधिकार में है। उसमें ४०वाँ बोल है। छठवें गुणस्थान में मुनि को पंच महाव्रत का भाव, विनय का भाव, भगवान के विनय का भाव, शास्त्र को वन्दन करने का भाव, वह जगपंथ है। जगपंथ है, वह संसारपंथ है। आहाहा!

'उत शिव मारग जोर...' इस ओर जो ढलने से मार्ग होता है, वह शिवमार्ग है। आहाहा! 'परमादि जगकौं धुकै...' छठवें गुणस्थान का प्रमाद है, वह जग की ओर झुकता है। आहाहा! और उसे तो प्रमाद शुभभाव का है। अशुभ तो है नहीं। 'अपरमादि सिव ओर।' प्रमादरहित अप्रमादी शिव / मोक्ष की ओर झुकता है। आहाहा! 'जो परमादि आलसी, जिन्हकै विकल्प भूरि...' विकल्प बारम्बार आवे। 'होई सिथल अनुभौ विहैं, तिन्हकौं शिवपथ दूरि' आहाहा!

जो परमादि आलसी, वह अभिमानी जीव;
जो अविकल्पी अनुभवी, वह समरसी सदीव।

बनारसीदास स्वयं (कहते हैं)। आहाहा! वस्तु की तो यह स्थिति बापू! यह वीतरागमार्ग है। आहाहा! वीतरागभाव जो स्वआश्रय से प्रगट होता है, वह जैनशासन है।

बाकी यह बीच में आवे सही व्यवहार, पूर्ण न हो तब (आता है), परन्तु है दुःखरूप। वह संसार जगपंथ झुका है। आहाहा! अब यहाँ तो सम्यग्दर्शन बिना के श्रावक और मुनि के आचार में धर्म मनवाना है। आहाहा! कहो, चेतनजी! ऐसी बात है। यह किसी के साथ मिलान खाये, ऐसा इसमें नहीं है।

मुमुक्षु : किसी के साथ क्या काम है? सत्य के साथ मिलान खाता है या नहीं, यह देखना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर सत्य के साथ मिलान खाता है। आहाहा!

मुनि ऐसा है या नहीं। अमुक कहा। साधक कहा है। व्यवहार को साधक कहा है। निश्चय साध्य है। पंचास्तिकाय। उसने एक भूंसाड्यो लगाया है न एक पण्डित ने, ऐसा कहा। कि उसमें निश्चय साधक का साध्य, निश्चय साध्य के उसके अर्थ बदल डाले हिम्मतभाई ने। ऐसा (वे) कहते हैं। नहीं?

मुमुक्षु : पंचास्तिकाय प्रकाशित हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु उसका तो स्पष्टीकरण।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने कहा था। अर्थ करके भुंसाड्यो लगा दिया, कहते हैं। ऐसा आया था।

मुमुक्षु : पंचास्तिकाय का।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचास्तिकाय का। बापू! साधक नहीं। जो-जो वहाँ साधक है, वह-वह वहाँ बाधक है। आहाहा! नय, निक्षेप और प्रमाण से आत्मा का निर्णय करना, यह भी अभूतार्थ है। वह साधक नहीं। आहाहा!

जिसमें वीतरागभाव झरे, वह साधक है। कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। परन्तु भारी विवाद करते हैं। यह तो पुण्य के ऊपर डांग लेकर बैठे हैं। जहर कहा, फिर प्रश्न क्या? भगवान की भक्ति का राग, पंच महाव्रत का भाव जहर है। अमृत सागर प्रभु से विरुद्धभाव, वह जहर है। उसे विषकुम्भ कहा है। जहर का घड़ा। उसे जहर का घड़ा

कहा है। कहो, एक बार फूलचन्दजी कहते थे। भारी कठिन... अपने याद नहीं किया था कि कुन्दकुन्दाचार्य को भी झेलना पड़ेगा।

मुमुक्षु : ....मिथ्यात्व से प्रेरित होकर बनाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! क्या हो? मोक्षमार्गप्रकाशक में तो सत्य को स्पष्ट किया है। सामान्यरूप से बात थी, उसका विशेष स्पष्ट किया है। अक्षर-अक्षर शास्त्र प्रमाण से मिलता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं अस्तु। विकल्परहित अणीन्द्रिय चैतन्य ज्ञानज्योति का जो अनुभव, वह अस्तु। वह मेरा स्वरूप है। आहाहा! समझ में आया?

मैं कैसा होकर देखता हूँ? अणीन्द्रिय आत्मा को देखता हूँ, वह कैसा होकर देखता हूँ? ऐसा। गाथा है न? पाठ। '**यन्नियतेन्द्रियः**' दूसरे पद का अन्तिम शब्द है। '**यन्नियतेन्द्रियः**' आहाहा! **इन्द्रियों को संयमित करके (इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोककर...)** उसमें यह कहना है। कैसा होकर? **इन्द्रियों को संयमित करके (इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोककर और स्वयं स्वाधीन होकर) अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखकर (मैं देखता हूँ)।** यह तो विस्तार करके। बात यह कि इन्द्रिय की ओर के झुकाव को छोड़ दिया। बात यह। अणीन्द्रिय की ओर मैं आया हूँ। आहहा! वहाँ मेरी जाति का स्वरूप वह मैं हूँ। आहाहा!

भगवान की वाणी—दिव्यध्वनि कान में पड़े, वह भी इन्द्रिय का विषय है। आहाहा! लोगों को कठिन लगता है। यह इन्द्रिय के झुकाव की ओर के भाव को छोड़कर अणीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें मैं हूँ, उसके अनुभव में मैं हूँ—ऐसा कहते हैं। **स्वयं स्वाधीन होकर अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखकर...** काबू का अर्थ (यह कि) उस ओर से झुकाव छूटा है। आहाहा! तब उसे अन्तर में शान्ति और समाधि होती है। वह यह समाधि। वे बाबा समाधि करते हैं, वह नहीं। अन्तर आनन्द की दशा उत्पन्न हो, वह समाधि है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसे तो सम्यग्दर्शन, वही समाधि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही समाधि है न। सम्यग्दर्शन-ज्ञान अणीन्द्रिय है न? अणीन्द्रिय

के विषय को बनाकर और जो पर्याय में प्रगट दशा, वह आनन्दसहित दशा है। आहाहा!

एक बार भाई ने कहा था। हुकमीचन्दजी। कैलाशचन्दजी को कहा था। यह हुकमीचन्द है न? वह मीठी भाषा से। ऐसा कि अपने पण्डितों के बीच विवाद के लेख आते हैं न अखबार में? इतने भाग्यवान हैं, साधारण लोग यह अखबार को पढ़ते नहीं। इतने अच्छे लेख वहीं के वहीं रह जाते हैं। नहीं तो पढ़े तो... पण्डितों-पण्डितों में विरोध के यह लेख। ऐसा मीठा सब कहे। यह सब लेख है। दुनिया से भाग्यशाली तुम्हारे यह सब लेख पढ़ते नहीं। वह तो थोथा कहीं पड़े, दूसरा पढ़े कौन? समाज कौन पढ़ता था? आहाहा!

यहाँ तो चैतन्यमूर्ति प्रभु अणीन्द्रिय पर्याय से ही अनुभव में आये। उसे राग के विकल्प का, इन्द्रिय का निरोध करे, तब अनुभव में आये, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान गणधर सुनने बैठे हों, लो। तब उन्हें तो घड़ीक में छठवाँ और घड़ीक में सातवाँ आता है। तो छठवाँ है, तब तक ऐसा लक्ष्य-विकल्प रहता है। सातवें में विकल्प टूट जाता है। वहाँ धारावाही एक ॐ की ध्वनि धारावाही निकलती है और यहाँ टूटक-टूटक हो जाता है। छठवें में हो तो ख्याल में और सातवें में हो तो ख्याल नहीं। छठवें में हो तो ख्याल में, सातवें में नहीं। ऐसा हजारों बार आता है, तथापि शास्त्र की रचना करे, वहाँ टूटक नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि छठवें में हों, तब तक उनका विकल्प यह क्या भगवान कहते हैं, उसके लक्ष्य में होता है। क्षण में सातवाँ आवे, वहाँ लक्ष्य छूट जाता है। और वहाँ तो धारावाही उपदेश चालू है। अब उस उपदेश का भाव सन्धि करके समरूप प्राप्त करना, परन्तु वह तो अन्दर प्राप्त है, अन्दर में जाते हैं और बाहर में विकल्प आवे, वह होने पर भी उसकी सन्धि बराबर हो जाती है। भगवान ने जो क्या कहा, उसकी सन्धि की रचना (हो जाती है)। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। सातवें में सुने नहीं, तथापि वह भगवान के कहे हुए दिव्यध्वनि की रचना आगम में करते हैं। अब टूटक-टूटक सुने, उसे पूरा धारावाही किस प्रकार करे? परन्तु वह धारावाही ही होता है, ऐसा ही वहाँ ज्ञान होता है। आहाहा!

अणीन्द्रिय ज्ञान में लक्ष्य है, तब भगवान की वाणी सुनना वहाँ रुक जाता है, तथापि

उस वाणी में कहे हुए भाव रचना में वे कहे हुए भाव आते हैं। टूटक-टूटक आते हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। दिव्यध्वनि सुनकर रचना की, ऐसा शास्त्र में आता है। परन्तु दिव्यध्वनि सुनने में छठवें में सुने और सातवें में नहीं, छठवें में सुने और सातवें में नहीं, तो एक अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार बदले, तथापि वह दिव्यध्वनि सुनकर पूरी रचना धारावाही की। ऐसा स्वभाव ही यह ज्ञान का है। आहाहा! **इन्द्रियों को संयमित करके...** यह तो संयमित आया न, इसलिए वे... सातवें में संयमित हो जाते हैं। **(इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोककर और स्वयं स्वाधीन होकर) अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखकर (मैं देखता हूँ)।**

भावार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि :— आहाहा! **इन्द्रियों द्वारा जो शरीरादि बाह्यपदार्थ दिखते हैं,...** शरीर आदि में सब ले लेना। भगवान और भगवान की वाणी सब उसमें आ जाता है। आहाहा! **वह मैं नहीं।** आहाहा! भगवान की वाणी, भगवान (के प्रति) यह लक्ष्य जाये वह मैं नहीं। **वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; मेरा स्वरूप तो परम उत्तम अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानज्योति है।** पूरा योगफल किया। **परम उत्तम अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानज्योति है।** आहाहा!

जब मैं भावइन्द्रियों को नियन्त्रित करके अर्थात् बाह्यविषयों से हटाकर, अन्तर्मुख होता हूँ,... देखो, यह सम्यग्दर्शन के विषय में एकाग्र होता हूँ, वह वस्तु है। आहाहा! समझे न? फिर यह कहे, वह तो ऊँची श्रेणी की बात है। परन्तु यह सम्यग्दृष्टि की पहली बात है।

मुमुक्षु : ऊँची श्रेणी की हो या हल्की श्रेणी की बात हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि वह तो बहुत आगे साधु हो, चारित्र हो, उसे आगे श्रेणी मांडनी हो, उसके लिये है। यहाँ तो पहले धड़ाके यह है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन में अणीन्द्रिय आत्मा का अनुभव, उसे इन्द्रियों के विषयों को रोककर, इन्द्रियों के विषयों को रुँधकर अणीन्द्रिय की ओर जो ढला है, वही वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! अब इसमें अधिक सभा हो लोगों की, क्या यह बात करे? झपट बोलावे अन्दर से कि ऐसा हो। अरे... भगवान!

मुमुक्षु : उसने झपट बुलायी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या यह झपट है। खींचकर बोले, रटकर प्रवचन बोले, मोटी आवाज में जो कहा गया है, वह यह कहा है। प्रवचनसार अन्तिम गाथायें।

मुमुक्षु : अग्नि में लकड़ी हो, उसमें होम हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब स्वाहा। जितना कहा, वह सब स्वाहा हो गया।

तब मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा को देख सकता हूँ... आहाहा! भावेन्द्रिय की ओर के झुकाव को छोड़कर ज्ञानस्वरूप आत्मा को देख सकता हूँ। **स्वसंवेदन से अनुभव कर सकता हूँ।** आहाहा! यह वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

विशेष। भावार्थ। पहली टीका, भावार्थ और अब विशेष। **जो इन्द्रियों द्वारा दिखता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है;...** आहाहा! भगवान की प्रतिमा, भगवान का समवसरण, भगवान स्वयं और उनकी वाणी। यह इन्द्रियों से दिखाई देते हैं। आहाहा! वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, ऐसा कहकर वह स्तुति व्यवहार की है न, वह यह स्थानकवासी ने उल्टा डाली है। वह आर्यिका है, देखो! भगवान की स्तुति की स्तुति सच्ची नहीं। परन्तु सच्ची नहीं, किस अपेक्षा से? वह तो अणीन्द्रिय अपने स्वभाव का अनुभव, इस अपेक्षा से। परन्तु ऐसा भाव आता है, शुभभाव होता है, दुःखरूप है, इन्द्रिय के झुकाव से वह विकल्प उठा है, तथापि वह वस्तु आये बिना नहीं रहती। जाननेयोग्य है। आहाहा! भारी कठिन बातें। वह दिवाली। दिवाली नहीं। लीलावती। वह ऐसा कहती है। आर्यिका नहीं ४०-४५ इकट्ठे किये थे दीक्षा। दीक्षा कहाँ थी? आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो फिर किसी समय ऐसा भी कहती है कि दिगम्बर शास्त्र नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है। हमारे में पंच महाव्रत को संवर कहा है। वह दिगम्बर शास्त्र में (ऐसा नहीं है)। इसलिए वह हमारे मान्य नहीं है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में देखो न, उसमें यह कहा है। महाव्रतादि के परिणाम, वह पुण्यास्रव है। तत्त्वार्थसूत्र में छठवें अध्याय में है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्यास्रव का अधिकार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है न। पुण्य आस्रव है। तत्त्वार्थसार में भी यह है। अमृतचन्द्राचार्य का है न तत्त्वार्थसार सूत्र। यह तत्त्वार्थसूत्र के आधार से बनाया है। तत्त्वार्थसार। अपने व्याख्यान में पूरा पढ़ा गया है। व्याख्यान में पढ़ा गया है। तत्त्वार्थसार। उसमें भी लिया है कि यह पुण्यास्रव का अधिकार अब वर्णन करेंगे। महाव्रत और यह सब पुण्यास्रव है। आहाहा! जहाज में छिद्र पड़े और जैसे पानी आवे, वैसे भगवान आत्मा में शुभभाव हो, वह छिद्र पड़ा। जैसे पानी आवे, वैसे यहाँ परमाणु आते हैं। आहाहा! उसमें से आत्मा की शान्ति नहीं आती। आहाहा! वस्तु ऐसी है, बापू! वीतराग का मार्ग ऐसा है। तेरी कल्पना से तू उसे दूसरा रूप दे, इससे वह वस्तु नहीं बदलेगी। वस्तु तो वस्तु है।

वह तो जड़ का-पुद्गल का स्वरूप है;... आहाहा! इस आत्मा की अपेक्षा से दूसरे आत्माओं को भी अणात्मा कहा है। पहले कलश जीव-अजीव में है। **वह आत्मा नहीं है; अनात्मा है** सब। इस द्रव्य की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य, अद्रव्य हैं। इस क्षेत्र की अपेक्षा से दूसरा क्षेत्र, अक्षेत्र है। इसके स्वकाल की अपेक्षा से दूसरे काल अकाल है और स्वभाव की अपेक्षा से अपने गुण की अपेक्षा से दूसरे का अभाव है। अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल और अभाव है पर। आहाहा! अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा नहीं है। ऐसा उसका आत्मा भी अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से उसका भी आत्मा नहीं है। आहाहा! यह तो सप्तभंगी का पहला बोल है। स्वचतुष्टय से है और परचतुष्टय (से नहीं)। यह, हों! द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन (सुख, वीर्य) वह नहीं।

जड़ का-पुद्गल का स्वरूप है; वह आत्मा नहीं है; अनात्मा है। भाषा देखो! आहाहा! इन्द्रिय से चीज़ ज्ञात हो, वह अनात्मा है। भगवान अनात्मा है। यह आत्मा नहीं, इसलिए अनात्मा। आहाहा! वे तो उनकी अपेक्षा से स्वद्रव्य हैं। इसकी अपेक्षा से तो अद्रव्य है। आहाहा! देखो तो वाणी!

त्रिपाठी को लिखा था न श्रीमद् ने, भाई! वेदान्त था, इसलिए उसे बतलाते हुए श्रीमद् ने एक पत्र लिखा। वह वेदान्ती था और परन्तु कुछ नरम व्यक्ति होगा। अपने किसी भी द्रव्य की ऐसी व्याख्या करें तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हो सकती है। ऐसा भाई

श्रीमद् ने लिखा। क्योंकि उसे वह सर्वव्यापक है, उसे उड़ाना था। सर्वव्यापक हो तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव यह जो कुछ हो, वह होता नहीं उसे। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल से है और परद्रव्य से नहीं। परपना मानते नहीं। परपना तो मानते नहीं वे लोग। एक सर्वव्यापक वही आत्मा है। ऐसा यह निश्चय-व्यवहार को ऐसा हो जाता है कितनों को।

यह वेदान्त जैसा। यह वेदान्त जैसा कुछ नहीं। आहाहा! वेदान्त को तो शास्त्रों ने पाखण्ड कहा है। पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला लोकव्यापक जीव नहीं है, ऐसा कहा है। अलिंगग्रहण के २० बोल। १५वाँ बोल है। १५वाँ बोल है। अमेहनाकार। पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप ऐसे आकार लोकव्यापक, ऐसा जीवस्वरूप है ही नहीं। आहाहा!

आत्मा-अनात्मा के भेदविज्ञान द्वारा... भगवान आत्मा और इसके अतिरिक्त दूसरा अनात्मा, विकल्प, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब और देव-गुरु-शास्त्र। **भेदविज्ञान द्वारा...** दोनों की भिन्नता के ज्ञान द्वारा। आहाहा! **शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षा करके,...** शरीर आदि और इन्द्रियों से दिखाई देती सभी चीज़ों से उपेक्षा करके **उपयोग को वहाँ से हटाकर, स्वसन्मुख करता है...** स्वसन्मुख करता है। अनादि से स्व से विमुख है और पर से सन्मुख है, उसे यहाँ स्वसन्मुख करता है और पर से विमुख करता है। आहाहा!

आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है। बाह्य इन्द्रिय के विषय की ओर झुकाव, वह दुःख है और उसे रोककर अणीन्द्रिय में आना, वहाँ सुख है। आहाहा! और **आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।** आहाहा! **ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान होने से, वह आत्म विषय में ही रमने की भावना करता है;...** क्या? ज्ञानी को आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से, आत्मज्ञान होने से, **आत्म विषय में ही रमने की भावना करता है;...** वह आत्मा में रमने की बारम्बार भावना होती है।

बाह्यविषयों में विचरण करना पसन्द नहीं करता। आहाहा! स्वरूप को चूककर बाहर विषयों में रमना वह पसन्द नहीं करता। आहाहा! **इसलिए अन्तरात्मा को शरीरादि**

बाह्यपदार्थों में अनासक्ति होती है। यह अनासक्ति शब्द आ गया है। ५०वीं गाथा। '**अतत्त्परस्तदनासक्तः**' संस्कृत में ५० का अन्तिम शब्द है संस्कृत। '**अतत्त्परः**' ऐसा पाठ है। उसकी टीका की है। '**अनासक्तः**' इस प्रकार अनासक्त है। करना है और अनासक्त, ऐसा नहीं। आहाहा! राग की एकता नहीं, वह अनासक्त है। आहाहा! उस अन्तरात्मा की दशा को अनासक्त कहा। पर में एकत्वबुद्धि नहीं। विकल्प में एकत्वबुद्धि नहीं। निर्विकल्प में एकत्वबुद्धि है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म और ऐसा....

शरीरादि बाह्यपदार्थों में अनासक्ति होती है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है। अस्ति-नास्ति दो ही बात ली है। आहाहा!

श्लोक - ५२

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह -

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः॥ ५२॥

बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति। कस्य? आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य। अथ आहो। आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति। भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य। बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति। अथ आहो। सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति॥५२॥

यदि आनन्दमय ज्योति (ज्ञान), आत्मा का स्वरूप है, तो इन्द्रियों का निरोध करके उसका अनुभव करनेवाले को दुःख किस प्रकार हो सकता है? वह कहते हैं—

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि॥ ५२॥

अन्वयार्थ - **(आरब्धयोगस्य) योग का अभ्यास शुरू करनेवाले को (बहिः) बाह्यविषयों में (सुखं) सुख मालूम होता है (अथ) और (आत्मनि) आत्मस्वरूप**

की भावना में (दुःखं) दुःख प्रतीत होता है किन्तु (भावितात्मनः) यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर, उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को (बहिः एव) बाह्यविषयों में ही (असुखं) दुःख जान पड़ता है और (अध्यात्मं) अपने आत्मस्वरूप में ही (सौख्यम्) सुख का अनुभव होता है।

टीका - बाहर अर्थात् बाह्यविषयों में सुख लगता है। किसको ? योग का आरम्भ करनेवाले को अर्थात् प्रथम बार आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूप में (उसकी भावना में) दुःख (कठिनता) लगता है परन्तु भावितात्म को अर्थात् यथावत् जाने हुए आत्मस्वरूप के (उसकी भावना के) अभ्यासी को, बाह्य में ही, अर्थात् बाह्यविषयों में ही असुख (दुःख) भासित होता है; और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् उसके अध्यात्मस्वरूप में ही (उसकी भावना में ही) सुख लगता है॥५२॥

भावार्थ - योग का अर्थात् आत्मस्वरूप को प्रथम बार अनुभव करने का आरम्भ करनेवाले को बाह्यविषयों में सुख जैसा लगता है और आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यास में दुःख जैसा ज्ञात होता है परन्तु जब उसको परिपक्व अभ्यास से आत्मस्वरूप का यथार्थरूप से ज्ञान होता है, तब उसको बाह्यविषय, असुखरूप प्रतीत होते हैं और आत्मस्वरूप में ही सुख प्रतिभासित होता है।

विशेष स्पष्टीकरण-

योग का अभ्यास आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्यविषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता और इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है।

जब उसको आत्मभावना का अभ्यास परिपक्व होता है और वह स्वरूप में स्थिर होता है, तब उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। अब, उसको समस्त बाह्यविषय, नीरस लगते हैं, उसकी रुचि उनसे उड़ जाती है और आत्मस्वरूप में ही विहरना रुचता है।

इसलिए श्री अमृतचन्द्राचार्य देव भी जिज्ञासु जीव को लक्ष्य करके कहते हैं कि—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

'हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी, तत्त्व का कौतूहली बन और शरीरादि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर, उनसे भिन्न, ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर; तेरे आत्मा के चैतन्य विलास को देखते ही, यह शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ, एकपने का तेरा मोह छूट जायेगा॥५२॥'

(श्री समयसार, कलश-२३)

श्लोक - ५२ पर प्रवचन

यदि आनन्दमय ज्योति (ज्ञान), आत्मा का स्वरूप है, तो इन्द्रियों का निरोध करके उसका अनुभव करनेवाले को दुःख किस प्रकार हो सकता है ? ऐसा। शुरुआत में अन्तर में जाने पर बाह्य में जरा कुछ ठीक लगे और अन्तर में जाना मुश्किल लगे अर्थात् दुःख लगे, इसका अर्थ कि मुश्किल लगे ऐसा। आहाहा! **वह कहते हैं—**

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः॥ ५२॥

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि॥ ५२॥

यह जरा अन्तर में ध्यान करने जानेवाले की व्याख्या ली है।

टीका - बाहर अर्थात् बाह्यविषयों में सुख लगता है। सुख लगता है अर्थात् ? वहाँ से हटता नहीं और अन्दर में जाता नहीं, इतना इसे अनुकूल लगता है, ऐसा। सुख का अर्थ ऐसा। बाहर से हटकर अन्दर में जाने में इसे मुश्किल लगता है। तो इस ओर इसे इतना अनुकूल लगता है, ऐसा। अर्थात् कि उसमें सुख है। इसका अर्थ यह। फिर से। **बाहर अर्थात् बाह्यविषयों में सुख लगता है।** सुख का अर्थ यह, हों! एक जरा सी ऐसी बाह्य

की अनुकूलता दिखाई दे बाहर की और अन्दर में जाना मुश्किल दिखाई दे; इसलिए ऐसा लेना। आहाहा! क्योंकि बाहर का अभ्यास अनादि का, इसलिए इसे बाहर में जरा रहना सुहाता है। इसका अर्थ बाह्य की ओर में इसे जरा सुख लगता है। सुख अर्थात् सुहाता है इतना, बस। आहाहा!

किसको? योग का आरम्भ करनेवाले को अर्थात् प्रथम बार आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। और कहते हैं-आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूप में (उसकी भावना में) दुःख (कठिनता) लगता है... अरे... अन्तर के अनुभव में कैसे जाना? ऐसी इसे कठिनता लगे, इसका अर्थ दुःख लगे, ऐसा है। आहाहा! कैसी बात की है, देखो न! बाहर की इन्द्रियों के झुकाव में जरा रुकना, वह ठीक लगता है, ऐसा। अर्थात् कि बाह्य में सुख लगता है, ऐसा कहा। और अन्तर में जाने में कठिनता लगती है। महाप्रयत्न। निर्विकल्पदशा प्राप्त करना, यह इसे मुश्किल लगता है; इसलिए इसे अन्तर में दुःख लगता है, ऐसा इसका अर्थ है। समझ में आया?

आचार्यों ने यह बात की है तो जगत को समझाने के लिये की है या गुप्त रखने के लिये की है? कि भाई! यह बहुत...

मुमुक्षु : जगत के लोगों के लिये तो अच्छी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! मार्ग ऐसा है, भाई! इन्द्रिय का विषय और अणीन्द्रिय का विषय दोनों भिन्न हैं। इन्द्रिय के विषय से तो बाहर ज्ञात होता है, जो तेरा स्वरूप नहीं। अणीन्द्रिय से तेरा स्वरूप ज्ञात होता है, जिस स्वरूप तू है। आहाहा! ऐसी बात है। बहुत सादी भाषा में सत्य के पंथ में ले गये हैं। आहाहा! कहते हैं, भाई! अन्तर में जाने में तुझे कठिनता लगती है। अर्थात् शुरुआतवाले को। इसलिए वहाँ दुःख लगता है, ऐसी भाषा ली है। और बाहर में रुकने से तुझे वहाँ रुकना (वहाँ से) झट हटना कठिन लगता है। इसलिए वहाँ रुकना, उसमें तुझे ठीक लगता है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

www.vitragvani.com